प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार १९५७
मूल्य
साढे तीन रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

हमारे प्राचीन साहित्य में जिन महान् ग्रथों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उनमें महाभारत का अपना स्थान है। भारत का शायद ही कोई ऐसा शिक्षित और अशिक्षित परिवार हो, जिसमें महाभारत का नाम न पहुचा हो और जो उसकी महिमा को न जानता हो। रामायण की भाति इस अमर ग्रथ को भी वडा धार्मिक महत्त्व प्राप्त है और इसकी कथा सर्वत्र वडे चाव और आदर-भाव से पढी और सुनी जाती है।

निस्सदेह महाभारत ज्ञान का भडार और रत्नों की खान है। सागर की भाति इसमें जो जितनी गहरी डुवकी लगाता है, उसे उतने ही मूल्यवान रत्न प्राप्त होते है।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक मे भारतीय साहित्य के अध्येता तथा चितक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस महान् ग्रथ का एक नवीन एव सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन वस्तुत एक नई दृष्टि प्रदान करता है। स्थानाभाव के कारण यद्यपि वहुत-से विवरण उन्हें सक्षिप्त कर देने पडे हैं, तथापि महत्त्व के प्राय सभी विवरण इसमें आगये है।

जैसाकि लेखक ने अपनी भूमिका में सकेत किया है, यह पुस्तक तीन भागो में समाप्त होगी। 'विराट पर्व' तक की सामग्री इस भाग में आगई है। युद्ध के अत तक का अश दूसरे भाग में रहेगा, शेप तीसरे में। इस प्रकार इन तीनो भागों में सपूर्ण महाभारत का सार पाठकों को मिल जायगा।

हिंदी में अपने ढग का यह पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु वह महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन के लिए पाठको को एक नई प्रेरणा देती है।

हमें विश्वास है कि इस ग्रथ का अध्ययन पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

—मंत्री

भूमिका

'भारत-सावित्री' के रूप मे महाभारत का एक नया अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन के अट्ठाइस लेख 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक पत्र में धारावाहिक रूप से १९५३-५४ में प्रकाशित हुए थे, शेष अश बाद में लिखा गया है। ग्रथ के तीन भागो मे प्रकाशित होने की योजना है। इस प्रथम भाग मे 'विराटपर्व' तक की कथा आगई है। दूसरे भाग में 'उद्योगपर्व' से 'स्त्रीपर्व' अर्थात् युद्ध के अत तक की कथा रहेगी, और तीसरे भाग में 'शातिपर्व' से लेकर महाभारत के अत तक का अश रहेगा।

'भारत-सावित्री' नाम महाभारत के अत में आया है। जैसे वेदो का सार गायत्री मत्र या सावित्री है, वैसे ही सपूर्ण महाभारत का सार धर्म शब्द मे है। भारत-युद्ध की कथा तो निमित्त मात्र है, इसके आधार पर महाभारत के मनीषी लेखक ने युद्ध-कथा को धर्म-सहिता के रूप मे परिवर्त्तित कर दिया था। धर्म की नित्य महिमा को बताने के लिए ग्रथ के अतमे यह श्लोक है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितास्यापि हेतो ।
नित्यो धर्म सुखदु खे त्वनित्ये नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्य ॥

(स्वर्गा ५।६३, उद्योग ४०।११-१२)

अर्थात्—काम से, भय से, लोभ से, अथवा प्राणो के लिए भी धर्म को छोडना उचित नही। धर्म नित्य है, सुख और दु ख क्षणिक है। जीव नित्य है और शरीर, (धातु) अनित्य है। इस श्लोक की सज्ञा भारत-सावित्री है (स्वर्गा० ५।६४)। यही महाभारत का निचोड या उसका गायत्री मत्र है। विश्व की प्रेरक शक्ति का नाम सविता है। महाभारत-ग्रथ का जो धर्म-प्रधान उद्देश्य है, वही उसका सविता देवता है। उसकी प्रेरणात्मक भावना को इस अध्ययन में यथासभव सुरक्षित रखा गया है। यही इस नाम का हेतु है।

वेदो में सृष्टि के अखड विश्व-व्यापी नियमो को ऋत कहा गया था। ऋत के अनुसार जीवन का व्यवहार मानव के लिए श्रेष्ठ मार्ग था। ऋत के विपरीत जो कर्म और विचार थे, उन्हे वरुण के पाश या बधन समझा जाता था। वैदिक परिभाषाओ का आनेवाले युग में विकास हुआ। उस

समय जो शब्द सबके ऊपर तैर आया, वह धर्म था। धर्म शब्द भारतीय संस्कृति का सार्थक और समर्थ शब्द बन गया। महाभारतकार ने धर्म की एक नई व्याख्या रक्खी है, अर्थात् प्रजा और समाज को धारण करनेवाले, नियमो का नाम धर्म है। जिस तत्त्व में धारण करने की शक्ति है, उसे ही धर्म कहते है —

धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मो धारयते प्रजा. ।
यत्स्याद्धारण सयुक्त स धर्म इत्युदाहृत ॥

जितना जीवन का विस्तार है, उतना ही व्यापक धर्म का क्षेत्र है। धर्म की इस नई व्याख्या के अनुसार धर्म जीवन का सक्रिय तत्त्व है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्थिति और लोक की स्थिति सभव बन रही है। धर्म, अर्थ, काम की सज्ञा त्रिवर्ग है। इस त्रिवर्ग मे भी धर्म ही मुख्य है एव राज्य का मूल भी धर्म ही है —

त्रिवर्गोऽयम् धर्ममूल नरेन्द्र राज्य चेद धर्ममूल वदन्ति।
(वन. ४।४)

धर्म अथवा मोक्ष के विपय में भी जो कुछ मूल्यवान अश महाभारत में है, उसपर प्रस्तुत अध्ययन में विशेष ध्यान दिया गया है

ब्रह्मवाद और प्रज्ञावाद के सम्मिलन से जीवन के जिस कर्मपरायण एव उत्थानशील मार्ग की उद्भावना प्राचीन भारत में की गई थी, उसका बहुत ही रोचक और सर्वोपयोगी वर्णन महाभारत में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन का निराकरण करनेवाले श्रमणवाद, और कर्म का तिरस्कार करनेवाले नियतिवाद या भाग्यवाद का सक्षम उत्तर इस नए धर्म-प्रधान दर्शन का उद्देश्य था। भुक्ति-मुक्ति अर्थात् त्रिवर्ग और मोक्ष इन दोनो के समन्वय का आग्रह उस धर्म की विशेपता है, जिसका प्रतिपादन महाभारत में हुआ है। महाभारत के तरगित कथा-प्रवाह में जहा-जहा ये स्थल आये हैं—और उनकी सख्या पर्याप्त है—उनकी रोचनात्मक व्याख्या इस अध्ययन में इष्ट रही है।

साथ ही महाभारत में जो सास्कृतिक सामग्री है, उसकी व्याख्या का पुट भी यहां मिलेगा, यद्यपि इस विपय में सब सामग्री को विस्तार के साथ लेना स्थानाभाव से सभव नही था।

पूना से महाभारत का जो सशोधित सस्करण प्रकाशित हुआ है, उस पाठ को आधार मानकर यह विवेचन किया गया है। जहा सभव था, वहा यह सूचित करने का भी प्रयत्न किया गया है कि महाभारत के पाठ-विकास की परपरा मे कौन-सा अश मौलिक और कौन-सा मूल के उपबृहण का परिणाम था। इसमे दो विशेषताओ की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। एक तो, जहा किसी प्रकरण या आख्यान के अत में फलश्रुति का उल्लेख हुआ है, वह अश उपबृहण का फल माना गया है। दूसरे जहा किसी कथाश को एक वार सक्षेप में कहकर पुन उसीको विस्तार से सुनाने या कहने की प्रर्थना की गई है, वह अश भी प्राय उपबृहण या पाठ-विस्तार का ही परिणाम था। प्राय जनमेजय पूछते हैं "भगवन्, मैं इसे अव विस्तार से सुनना चाहता हू।" (विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमान त्वया द्विज, सभा ४६।३)। और उत्तर में वैशम्पायन कहते हैं—"हे भारत, अव इसी कथा को मैं विस्तार से सुनाता हू।" (श्रृणु मे विस्तरेणेमा कथा भरतसत्तम। भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मति ॥, सभा ४६।५)। विस्तार से फिर सुनाने की बात जहा है, वहा स्पष्ट ही वह पुनरुक्ति है, जैसाकि इसीके आगे सभापर्व के ४६, ४७ और ४८ अध्यायो की भौगोलिक और सास्कृतिक सामग्री को देखने से प्रकट होता है। इसी प्रकार सभापर्व के २३वें अध्याय में चारो दिशाओ की विजय सक्षेप मे सुनने के वाद जनमेजय ने पूछा—"हे ब्रह्मन्! अव दिशाओ की विजय विस्तार से कहिये, क्योकि पूर्वजो का महान् चरित्र सुनते हुए मेरी तृप्ति नही होती।" (दिशामभिजय ब्रह्मन्विस्तरेणानु कीर्तय। न हि तृप्यामि पूर्वेषा श्रृण्वानश्चरित महत् ॥ सभा २३।११)। फलस्वरूप इसके वाद के सात अध्यायो में दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है।

महाभारत की पाठ-परपरा में इसके कई सस्करण सभावित ज्ञात होते है। उनमे से एक शुगकाल मे और दूसरा गुप्तकाल में सपन्न हुआ जान पडता है। इनमें भी पिछले सस्करण में पचरात्र भागवतो ने वहुत-सी नई सामग्री अपने अभिनव दृष्टिकोण के अनुसार यथास्थान सन्निविष्ट कर दी थी। उसकी ओर भी प्रस्तुत अध्ययन में ध्यान दिलाया गया है। जीवन और धर्म के विषय में भागवतो का जो समन्वयात्मक शालीन दृष्टिकोण था, उससे महाभारत के कथा-प्रसगो में नई शक्ति और सरसता भर गई है। भागवतो

का विशेष आग्रह धर्म के उस स्वरूप पर था, जिससे समाज की प्रतिष्ठा और गृहस्थाश्रम की महिमा प्रख्यात होती है। प्राय भागवत दर्शन प्राचीन प्रज्ञा-वाद और ब्रह्मवाद का ही एक नूतन सस्करण था।

महाभारत के कथा-प्रवाह का सबसे रोचक अश उसके देवतुल्य पात्रो का चरित्र-चित्रण है। वे पात्र महान् और अभिभावी होते हुए भी मानवीय है। वे मानव के धरातल पर कहते, सुनते, करते और सोचते है, यद्यपि सत्य की शक्ति और जीवन की अप्रतिहत अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके कर्म और विचार अतिमानवी-से लगते है। इसमें सदेह नही कि उनके चरित्र की जो उदात्त भावनाए है, या जो दुर्बलताए है, उनको बिल्कुल खरे रूप में महाभारत के लेखक ने कहा है। इनमें धृतराष्ट्र का चरित्र या द्रौपदी का चरित्र कितना मानवीय है, यह पाठको को मूल के शब्दो से ही ज्ञात होगा। ऐसे अशो को यथासभव अविकल रूप में उतार लेने का प्रयत्न किया गया है। भापातर में भी उनके गूजते हुए स्वरो को सुना जा सकता है। धृतराष्ट्र को महाभारत में दिष्टवादी या भाग्यवादी दर्शन का माननेवाला कहा है। पुरुषार्थ और कर्म में उनकी आस्था न थी। जो है, वह निर्विघ्न वैसा ही बना रहे, यहींतक उनके विचार की दौड थी। फिर दुर्योधन का मोह उनके मन में ऐसा भरा था कि नए सकल्प पर पानी फेर देता था। पाडवो को वारणा-वत भेजने का कुचक्र, जब दुर्योधन ने सामने रक्खा तो धृतराष्ट्र ने पहले तो कुछ पैंतरा बदला पर फिर स्पष्ट स्वीकार किया—"बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में है, पर खुलकर कह नही सकता" (पृ. ९३)। ऐसे ही अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का समाचार सुनकर पहले उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की, पर दुर्योधन और कर्ण के चौंपने पर कहा—"जैसा तुम कहते हो, सोचना तो मैं भी वही हू, पर विदुर के सामने खुलकर अपनी बात कह नही सकता" (पृ १०६)। पाडवो के साथ द्यूत खेलने का प्रस्ताव चलने पर धृतराष्ट्र के सही विचारो ने एक बार उछाला लिया, पर भाग्यवाद की गोली ने उन्हे सुला दिया और उन्होंने यही कहा—"ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् वैसी ही चेष्टा में लगा हुआ है" (पृ १५८)। जब युधिष्ठिर द्यूत में हारने लगे, तो धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछते है—"क्या सचमुच जीत लिया ?" और वह अपनी मुद्रा छिपा न सके। (पृ १६५)। यो तो महाभारत

के लेखक ने युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि के चरित्रो को भी बहुत ही तराशे हुए खरे शब्दो में ढाला है, पर धृतराष्ट्र के मनोभावो को व्यक्त करने के लिए जैसे चुटीले शब्द चुने गये हैं, वैसे औरो के लिए नही। पाडवो को दूसरी बार द्यूत-क्रिया में लगाने का प्रस्ताव जब दुर्योधन ने किया, तब भी उसको बरजने के स्थान में धृतराष्ट्र से यही कहते बना—"हा, हा, अभी पाडव रास्ते मे होगे, उन्हे जल्दी लौटा लाओ" (पृष्ठ १७६)। विदुर का हितवचन भी धृतराष्ट्र के मन में उलटे विष उत्पन्न करता था, यहातक कि एक बार तो विदुर को उन्होने अपने यहासे निकाल ही दिया था—"मै पाडवो के लिए अपने पुत्रो को कैसे छोड दू ? मै तो तुम्हारा इतना आदर करता हू, पर तुम मुझसे सदा टेढी बातें ही करते हो। हे विदुर ! तुम्हारा जहा मन हो, चले जाओ" (पृ १८०)। पर बूढे धृतराष्ट्र में भी सचाई की कोर थी, जिससे वह भी हमारी सहानुभूति के पात्र है। विदुर को भली-बुरी सुनाने के बाद वह स्वय बेहोश होकर गिर जाते है और कहते हैं—"हाय ! मेरा भाई विदुर कहा गया ? उसे जल्दी लाओ।" चरित्र-चित्रण में लेखक ने बहुत ही सचाई मे रग भरा है। अवसर पडने पर शकुनि-जैसे कपटी के मुह से भी कहलाया गया है—"पाडव सत्यवादी है। वे शर्तों का पालन करेंगे और धृतराष्ट्र के बुलाने पर भी तेरह वर्ष का वनवास पूरा किये बिना वे न लौटेंगे ।"

कथा-प्रवाह में द्रौपदी का चरित्र बरबस अपनी ओर ध्यान खीचता है। उसकी वेदना शब्दो के बधन में नही आती। जैसे सहसा किसीको काठ मार गया हो, वैसे उसके वचन कृष्ण के सामने प्रकट होते हैं—"पाडवो की पत्नी, कृष्ण की सखी, धृष्टद्युम्न की बहन सभा में लाई गई—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ? एक वस्त्र पहने हुई, स्त्री-धर्म से युक्त, मुझ दुखिया को राज-सभा मे लाये हुए देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्र निष्ठुरता से हँसे—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ ? क्या यह सत्य है कि मै भीष्म और धृतराष्ट्र की पुत्र-वधू हू ?" (पृ १८९)। वह वेदनाभरे शब्दो में कहती है—"मै धर्म को भला-बुरा नही कहती, ईश्वर और ब्रह्मा का निरादर तो कैसे कर सकती हू ? इतना ही समझो कि मै दुखिया हू। कुछ प्रलाप करती हू। (पृ १९७)।"

महाभारत की एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसमें कितनी ही प्राचीन भारतीय दिष्टियो या दर्शनो का उल्लेख और

उनके सिद्धातो का भी विवेचन आगया है। भारतीय दर्शनो के इतिहास में पाच बडे मोड पहचाने जा सकते है। पहला ऋग्वेद-कालीन दर्शन था, जिसमें सदसद्वाद, रजोवाद, अम्भोवाद, अहोरात्रवाद, अमृतमृत्युवाद, व्योमवाद आदि दार्शनिक दृष्टिकोण थे, जिनका उल्लेख 'नासदीय सूक्त' में आया है। दूसरा युग उन दिट्ठियो का था, जो उपनिपद्-युग के अत में और बुद्ध से कुछ पूर्व अस्तित्व में आगई थी। इनका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिपद् में आया है, जैसे कालवाद, नियतिवाद, स्वाभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि। इन मतो का विवेचन 'दीर्घ निकाय' के 'ब्रह्मजाल-सुत्त' में आया है एव जैनो के अर्द्ध-मागधी आगम के 'सूत्रकृताग' एव 'उत्तरा-ध्ययन' में भी है। दार्शनिक विकास का तीसरा मोड मीमासा, साख्य, वेदात, आदि षड्दर्शनो के रूप मे देखा जाता है। विकास की चौथी सीढी पचरात्र, भागवत, पाशुपत, शैव आदि दर्शनो के रूप में अभिव्यक्त हुई। इसके बाद पाचवा मोड वह था, जिसमें अभिनव शाकर वेदान्त, भक्ति आदि दर्शनो के पारस्परिक प्रभाव, सम्मिलिन और ऊहापोह आदि का विस्तार हुआ।

इनमें से दार्शनिक विकास की जो दूसरी कोटि है, वही मूल महाभारत की पृष्ठभूमि थी, यद्यपि षड्दर्शन नामक तीसरी कोटि और पाशुपत, पचरात्र आदि चौथी कोटि का भी कालातर में महाभारत में सन्निवेश कर लिया गया। मखलि गोसाल के नियतिवाद या भाग्यवाद और चार्वाक बृह-स्पति के लोकायतवाद आदि दार्शनिक मतो का जैसा वर्णन महाभारत में आया है, वैसा बौद्ध और जैन-साहित्य में भी नही मिलता। यह सामग्री विशेप रूप मे शातिपर्व की व्याख्या में हमारे सामने आयगी, पर अन्य पर्वों में भी उसकी झाकी आती है, जैसे आरण्यकपर्व में द्रौपदी ने बृहस्पति के कहे हुए जिस नीति-शास्त्र को दुहराया है, वह लोकायत दर्शन ही था जो मूल में कर्मवादी था। प्रत्यक्ष जीवन को सुधारने के विपय में उनका आग्रह बहुत बढा-चढा था। जहा भाग्यवादी निर्वेद को मानते थे और कर्म के प्रति उदासीन थे, वहा महाभारत के इस प्रकरण से (आरण्यकपर्व, अ ३३) ज्ञात होता है कि बृहस्पति के लोकायत दर्शन में अनिर्वेद, उत्थान, पुरुपार्थ और कर्म का बहुत महत्व था। लोकायतिक मत के अनुयायी यदृच्छावाद, दैववाद और स्वाभाववाद के दार्शनिक मतो में विश्वास न रखते थे (पृ १९८-१९९)।

इसी प्रकार आगे चलकर उद्योगपर्व में जो विदुर-नीति है, वह प्रज्ञावाद नामक प्राचीन दर्शन का ही मूल्यवान् सग्रह है जो किसी प्रकार तैरता हुआ आकर महाभारत में बचा रह गया है। अगले भाग में यथास्थान इसकी व्याख्या मिलेगी। महाभारत की दार्शनिक सामग्री मे जो पूर्वापर की जमी हुई तहें है, उनके आर-पार देखने की आख जब एक बार बन जाती है, तो यह सामग्री मानो स्वय अपनी कथा कहने लगती है और उसके पर्त खुलने लगते है। उपलब्ध स्थान की सीमा में अध्ययन का यह दृष्टिकोण भी यहा अपनाया गया है।

महाभारत ऐसा आकर ग्रथ है कि आद्यत उसके विषय का विवेचन करने के लिए बहुत अधिक स्थान, समय और शक्ति की आवश्यकता है। वैदिक साहित्य और चरण साहित्य के भी कई प्रकरण महाभारत में सुरक्षित बच गये हैं, जैसे आरण्यकपर्व का अग्निवश अध्याय है, जिसकी व्याख्या स्कन्दजन्म की कथा के साथ कुछ विस्तार से यहा की गई है। वस्तुत महाभारत को पाचवा वेद ही कहा गया है। जैसे समुद्र और हिमालय रत्नो की खान हैं वैसे ही महाभारत भी है। जितना स्थावर और जगम जगत भारतीय दृष्टि-कोण में आ सका था, वह महाभारत में इकट्ठा होगया है। इसके निर्माता भगवान द्वैपायन कृष्ण सत्यवादी और सर्वज्ञ थे, वे वैदिक यज्ञ-विधि और कर्मयोग के पारगामी थे, धर्म और ज्ञान के प्राचीन दर्शनो मे सम्यक् निष्णात थे। सांख्य और योग में उनकी पूरी गति थी, अनेक तत्र या शास्त्रो में उनका मन जागरूक था। ऐसे महाभाग व्यास की यह कृति सचमुच महान् और सुविहित है। इसका जितना भी दोहन किया जाय, प्रज्ञानुसार, उतने ही फल की उपलब्धि हो सकती है।

काशी विश्वविद्यालय
चैत्र शुक्ल नवमी, सवत् २०१४

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

२ सभापर्व

३. आरण्यक पर्व

४. विराट पर्व

भारत-सावित्री

: १ :

शतसाहस्री संहिता

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

नारायण, नरो में श्रेष्ठ नर, तथा देवी सरस्वती को नमस्कार करके 'जय' का आरम्भ करना चाहिए ।

महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञानसहिता है । सदा उत्थानशील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विशाला वदरी के एकात आश्रम में वैठकर भारतीय ज्ञान-समुद्र का अपनी विशाल वुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारत-रूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ । जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नो की खान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत हैं। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहा नही है, वह अन्यत्र भी नही। व्यास का वाङमय-रूपी अमृत भारत राष्ट्र में व्याप्त है। वेदनिधि द्वैपायन का यह महाभारत-रूपी कमल गगा की अन्तर्वेदी में विकसित हुआ सुरभित पुष्प है। लोको को पवित्र करनेवाले इस महाकवि ने अपनी क्रातिदर्शिनी प्रतिभा से शाश्वती वुद्धि का जो महान् प्रज्ञा-स्कध स्थापित किया, वही महाभारत है।

अनन्त वेद-वृक्ष की छाया में वैठकर व्यास ने समग्र लोक-जीवन के आरपार देखनेवाले अपने प्रातिभ चक्षु से वेद और लोक का अपूर्व समन्वय महाभारत में प्रस्तुत किया है । परम ऋषि द्वैपायन का यह श्रेष्ठ आख्यान विलक्षण शब्द-भडार से भरा है, जिसमें आदि से अन्ततक सौ पर्व है। सूक्ष्म अर्थ और न्याय से युक्त, वेदार्थो से अलकृत, नाना शास्त्रो से उपवृंहित, विलक्षण रचना-कोशल से सस्कार-सपन्न, भारत के इतिहास और पुराण की ब्राह्मी सहिता का ही नाम महाभारत है, जो आद्यन्त धर्म से युक्त है ।

युधिष्ठिर-रूपी धर्म भव्य महावृक्ष था। अर्जुन उसका तना था और भीमसेन उसकी शाखाएं थी। माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव उसके फूल-फल थे। उसको रस से सीचनेवाली जड का नाम कृष्ण था, वही ब्रह्म है। सनातन भगवान् वासुदेव की महिमा का कीर्त्तन ही कृष्ण-द्वैपायन विरचित इस पवित्र उपनिषद् का लक्ष्य है। वही सत्य है। उसे ही ऋत कहते है। वही शाश्वत ब्रह्म है। वही सनातन ज्योति है। वही इस अनित्य, नश्वर जगत् में परम ध्रुव है। उसी देव से सत् और असत्, जन्म और मृत्यु एव पचभूतात्मक इस ससार की प्रवृत्ति है। वही इसके भीतर व्याप्त अध्यात्म है। उसीके ध्यान का बल पाकर मन को योगयुक्त करनेवाले अपनी आत्मा में भगवान् के रूप का इस प्रकार दर्शन करते हैं, जैसे दर्पण मे अपना प्रतिबिम्ब देखते हो।

ग्रन्थ की विशेषताए

कृष्ण द्वैपायन व्यास के इस महाभारत को कार्ष्णवेद भी कहते हैं। कुरुवशियो का महान् चरित्र इसमें कहा गया है। एक ओर चारो वेद और दूसरी ओर महाभारत—इन दोनो को देवर्षियो ने तुला पर रखकर तोला, तो महत्त्व और गुरुत्व में महाभारत ही अधिक हुआ। तभी इसका नाम महाभारत पड़ा। अमित तेजस्वी व्यास का जितना अभिमत था, वह इन लक्ष श्लोको में भर गया है। ऋषियो से सस्तुत यह पुराण श्रव्य वस्तुओ मे सर्वोत्तम है। यह पवित्र अर्थशास्त्र है। यह परम धर्मशास्त्र है। यह उच्चतम मोक्षशास्त्र है। यह वीरो को जन्म देनेवाला है। यह महान् कल्याणकारी है। ऐसे पुसवन और स्वस्त्ययन इस जय नामक इतिहास को सुनना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निचोड इस ग्रथ मे आ गया है। भाव-शुद्धि इस ग्रथ की प्राण-शक्ति है। तप, अध्ययन, वेद-विधि, इनके पीछे यदि भावशुद्धि नही है, तो ये व्यर्थ हैं।

इस ग्रथ मे कही सक्षिप्त और कही विस्तृत शैली से महाप्राज्ञ ऋषि ने सब कुछ कहा है। इसमें अनादि अनन्त लोकचक्र के रहस्य का वर्णन है। इसमें ब्रह्मर्षि और राजर्षियो के चरित्र है। सविस्तर भूत-सृष्टि, सविज्ञान श्रुतिया, धर्म, अर्थ, काम, विविध शास्त्र, लोकयात्रा-विधान, इतिहास और उसकी व्याख्या, सभी कुछ पराशर के पुत्र, विद्वान् और तीव्र व्रतो का पालन

करनेवाले ब्रह्मर्षि व्यास ने अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से कह दिया है। ऋषियो के आश्रमो में जो सस्कृति प्रतिपालित हुई, राजर्षियो के पुण्य-चरितो द्वारा जिसका विस्तार हुआ, लोक के लोम-प्रतिलोम में जो व्याप्त हुई, उस सास्कृतिक गगा को हिमालय से सागर पर्यन्त यदि एकत्र देखना हो, तो यह दर्शन व्यास के महाभारत मे सदा के लिए सुलभ है। वासुदेव कृष्ण का माहात्म्य, पाडवो की सत्यता और धृतराष्ट्र के पुत्रो का दुर्वृत्त, यही तो भगवान् व्यास ने चौवीस सहस्र श्लोको की भारत-सहिता में कहा। उसी भारत-सहिता मे अनेक उपाख्यानो के मिल जाने से, नीति और धर्म के अनेक प्रकरणो के समाविष्ट हो जाने तथा भूगोल, इतिहास, धर्म और दर्शन की विपुल सामग्री के एकत्र हो जाने से लक्ष श्लोकात्मक महाभारत का जन्म हुआ।

वेदव्यास ने पूर्व काल मे यह सहिता अपने पुत्र शुकदेव को पढाई थी। उनसे अन्य अनुरूप शिष्यो को वह प्राप्त हुई और क्रमश लोक में फैली। नारद, असित और देवल ने नारायणीय पचरात्र-धर्म से इसका सस्कार किया। एक ही तत्त्व नारायण और नर इन दो नामो से विख्यात है—"नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेक द्विधा कृतम्।" एक ही महान् सत्य के ये दो रूप हैं। वह नारायणी महिमा किस प्रकार नर-रूप में चरितार्थ होती है, इसका सागोपाग निरूपण इस महाभारत का उद्देश्य है। वेदव्यास की दृष्टि में मनुष्य ही ज्ञान और विज्ञान का मध्यविन्दु है—"मैं तुमसे यह रहस्य वतलाता हू कि इस लोक में मनुष्य से वढकर श्रेष्ठ कुछ नही है"—

गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि,
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किंचित्।
(शांति १८०।१२)

'यह लोक कर्मभूमि हैं' (वन २६१।३५)। 'मनुष्य का लक्षण कर्म है' (आश्व० ४३।२०)। 'जैसा कर्म वैसा लाभ, यही शास्त्रो का निचोड है' (शाति २७९।२०)। 'जो स्वय अपनी आख से लोक का दर्शन करता है उसीको सचमुच मैं सर्वदर्शी मानता हू' (उद्योग ४३।३६)। 'वेद का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्मसयम है, आत्मसयम से ही मोक्ष

होता है, यही सब उपदेशो का सार है' (शाति २९९।१३)। 'जो 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व है, उसे समझने का प्रयत्न क्यो नही करते ? समुद्र के पार जाने के लिए जैसे नाव आवश्यक है ऐसे ही अकेला सत्य स्वर्ग का सोपान है' (उद्योग० ३३।४६) । 'मनुष्य का ध्रुव अश उसका सत्य है। हे युधिष्ठिर, इस मनुष्य लोक में ही जो श्रेयस्कर है, उसे ही कल्याण का श्रेष्ठ रूप कहना चाहिए' (वन० १८३।१८८) ।

इस प्रकार के अनेक रत्नो की कान्ति से यह ग्रथ आलोकित है। भारतीय राजनीति, अध्यात्म-शास्त्र, समाज-विज्ञान, मानव-जीवन,धर्म, दर्शन—इन सब का सुनहला ताना-बाना इस महान् ग्रथ में बुना हुआ है। वस्तुत भारतवर्ष की वैदिक और लौकिक दीर्घनिकाय सस्कृति के लिए ब्रह्मजालसुत्त के समान एक महाब्रह्मजाल सूत्र महाभारत के रूप में हमें प्राप्त ह ।

महाभारत के पहले पर्व में इसे इतिहास और पुराण दोनो नाम दिये गए हैं—

द्वैपायनेन यत्प्रोक्त पुराण परमर्षिणा ॥
(आदि० १।१५) ।

भारतस्येतिहासस्य पुण्या ग्रथार्थसयुताम् ।
सस्कारोपगता ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृहिताम् ॥
वेदैश्चतुर्भि॰ समितां व्यासस्याद्भुतकर्मण॰ ।
सहिता श्रोतुमिच्छामो धर्म्या पापभयापहाम् ॥
(आदि० १।१७,१९)

आदिपर्व की प्रथम पक्ति में ही लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत को पौराणिक कहा गया है, जिन्होने कुलपति शौनक के द्वादश वार्षिक सत्र में महाभारत का पारायण सुनाया। प्राचीन वैदिक साहित्य में अमुक विद्या या अमुक शास्त्र के अध्ययन करनेवाले उसीके नाम से विख्यात होते थे । वैदिक महाविद्यालयो में—जिन्हें प्राचीन परिभाषा में 'चरण' कहा जाता था—वेद, ब्राह्मण, सूत्र आदि साहित्य के अध्ययन और अध्यापन करने की परम्परा थी और पाणिनि के 'तदधीते तद्वेद' सूत्र के अनुसार उन-उन विद्वानो का नामकरण होता था। कालान्तर में जब शास्त्रो की सख्या

बढी और नए-नए विषयो का प्रादुर्भाव हुआ, तब वैदिक चरणो में जो परिमित सख्यक विषय थे, उनके अतिरिक्त भी नए-नए विषय अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में आ गए। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, अन्य वेदाग, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, गाथा, श्लोक, नटसूत्र, भिक्षुसूत्र इत्यादि अनेक नए विषयो की उद्भावना हुई और दिग्गज आचार्य इनसे सबधित ग्रथो-उपग्रथो की रचना करने लगे। उसी परम्परा में इतिहास-पुराण का अध्ययन भी विशेष रूप से किया जाने लगा। इस प्रकार की ऐतिहासिक और सृष्टि सबधी अनुश्रुतियो पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले विद्वानो का उल्लेख अथर्ववेद मे आता है। वहा इस प्रकार के विद्वान् और मेधावी ऋषियो को पुराणवित् कहा गया है—

> यैत आसीद्भूमि. पूर्वा यामद्धातय इद्विदु.।
> यो वै तां विद्यान्नामथास मन्येत पुराणवित्॥
> (अथर्व० ११।८।७)

'जैसी यह भूमि पहले थी, उसके जिस स्वरूप का ज्ञान मेधावी ऋषियो को था, उसे जो शब्दो में जानता है, उसे मै पुराणकाल का वेत्ता—पुराणवित्—कहता हूं।'

विश्व के सब पदार्थों का अन्तर्भाव नाम और रूप में है। रूप बराबर बदल रहे है और हमारे देखते-देखते ओझल होते चले जा रहे हैं, केवल नाम शेष रहता है। अतीत काल के उस नाम को जाननेवाले पुराणवित् है। आधुनिक शब्दो में कहें तो वे ही ऐतिहासिक है, जो उन अतीत युगो के मूर्तिमन्त चित्र शब्दो में प्रस्तुत करते है। इस प्रकार पुराणवेत्ता अर्थात् पुराणकाल के वृत्तातो का पारायण करनेवाले विद्वानो की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी। अथर्ववेद-व्रात्यसूक्त में विद्याओ का परिगणन करते हुए कहा गया है—

> तमितिहासश्च पुराणं च गाथा च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्
> इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशसीना च
> प्रियं धाम भवति य एवं वेद। (अथर्व० १५।६, ११-१२)

२. सभापर्व

३. आरण्यक पर्व

२ सभापर्व

४. विराट पर्व

भारत-सावित्री

: १ :

शतसाहस्री संहिता

नारायण नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

नारायण, नरो मे श्रेष्ठ नर, तथा देवी सरस्वती को नमस्कार करके 'जय' का आरम्भ करना चाहिए ।

महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञानसहिता है । सदा उत्थानशील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विशाला वदरी के एकात आश्रम में बैठकर भारतीय ज्ञान-समुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारत-रूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ । जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नो की खान है, उसी प्रकार यह महाभारत है । जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहा नहीं है, वह अन्यत्र भी नही । व्यास का वाङमय-रूपी अमृत भारत राष्ट्र में व्याप्त है। वेदनिधि द्वैपायन का यह महाभारत-रूपी कमल गगा की अन्तर्वेदी में विकसित हुआ सुरभित पुष्प है । लोको को पवित्र करनेवाले इस महाकवि ने अपनी क्रातिदर्शिनी प्रतिभा से शाश्वती वृद्धि का जो महान् प्रज्ञा-स्कध स्थापित किया, वही महाभारत है ।

अनन्त वेद-वृक्ष की छाया में बैठकर व्यास ने समग्र लोक-जीवन के आरपार देखनेवाले अपने प्रातिभ चक्षु से वेद और लोक का अपूर्व समन्वय महाभारत में प्रस्तुत किया है । परम ऋषि द्वैपायन का यह श्रेष्ठ आख्यान विलक्षण शब्द-भडार से भरा है, जिसमें आदि से अन्ततक सौ पर्व हैं । सूक्ष्म अर्थ और न्याय से युक्त, वेदार्थो से अलकृत, नाना शास्त्रो से उपवृहित, विलक्षण रचना-कौशल से सस्कार-सपन्न, भारत के इतिहास और पुराण की ब्राह्मी सहिता का ही नाम महाभारत है, जो आद्यन्त धर्म से युक्त है ।

युधिष्ठिर-रूपी धर्म भव्य महावृक्ष था । अर्जुन उसका तना था और भीमसेन उसकी शाखाए थी । माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव उसके फूल-फल थे। उसको रस से सीचनेवाली जड का नाम कृष्ण था, वही ब्रह्म है। सनातन भगवान् वासुदेव की महिमा का कीर्त्तन ही कृष्ण-द्वैपायन विरचित इस पवित्र उपनिषद् का लक्ष्य है। वही सत्य है। उसे ही ऋत कहते है। वही शाश्वत ब्रह्म है। वही सनातन ज्योति है। वही इस अनित्य, नश्वर जगत् में परम ध्रुव है। उसी देव से सत् और असत्, जन्म और मृत्यु एव पचभूतात्मक इस ससार की प्रवृत्ति है। वही इसके भीतर व्याप्त अध्यात्म है। उसीके ध्यान का वल पाकर मन को योगयुक्त करनेवाले अपनी आत्मा में भगवान् के रूप का इस प्रकार दर्शन करते है, जैसे दर्पण मे अपना प्रतिबिम्ब देखते हो ।

ग्रन्थ की विशेषताए

कृष्ण द्वैपायन व्यास के इस महाभारत को कार्ष्णवेद भी कहते है । कुरुवशियो का महान् चरित्र इसमे कहा गया है । एक ओर चारो वेद और दूसरी ओर महाभारत—इन दोनो को देवर्षियो ने तुला पर रखकर तोला, तो महत्त्व और गुरुत्व में महाभारत ही अधिक हुआ। तभी इसका नाम महाभारत पडा । अमित तेजस्वी व्यास का जितना अभिमत था, वह इन लक्ष श्लोको मे भर गया है। ऋषियो से सस्तुत यह पुराण श्रव्य वस्तुओ मे सर्वोत्तम है। यह पवित्र अर्थशास्त्र है। यह परम धर्मशास्त्र है। यह उच्चतम मोक्षशास्त्र है। यह वीरो को जन्म देनेवाला है। यह महान् कल्याणकारी है। ऐसे पुसवन और स्वस्त्ययन इस जय नामक इतिहास को सुनना चाहिए । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निचोड इस ग्रथ में आ गया है। भाव-शुद्धि इस ग्रथ की प्राण-शक्ति है। तप, अध्ययन, वेद-विधि, इनके पीछे यदि भावशुद्धि नही है, तो ये व्यर्थ है।

इस ग्रथ मे कही सक्षिप्त और कही विस्तृत शैली से महाप्राज्ञ ऋषि ने सब कुछ कहा है। इसमे अनादि अनन्त लोकचक्र के रहस्य का वर्णन है। इसमे ब्रह्मर्षि और राजर्षियो के चरित्र है। सविस्तर भूत-सृष्टि, सविज्ञान श्रुतिया, धर्म, अर्थ, काम, विविध शास्त्र, लोकयात्रा-विधान, इतिहास और उनकी व्याख्या, सभी कुछ पराशर के पुत्र, विद्वान् और तीव्र व्रतो का पालन

करनेवाले ब्रह्मर्षि व्यास ने अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से कह दिया है। ऋषियो के आश्रमो में जो सस्कृति प्रतिपालित हुई, राजर्षियो के पुण्य-चरितो द्वारा जिसका विस्तार हुआ, लोक के लोम-प्रतिलोम में जो व्याप्त हुई, उस सास्कृतिक गगा को हिमालय से सागर पर्यन्त यदि एकत्र देखना हो, तो यह दर्शन व्यास के महाभारत मे सदा के लिए सुलभ है। वासुदेव कृष्ण का माहात्म्य, पाडवो की सत्यता और धृतराष्ट्र के पुत्रो का दुर्वृत्त, यही तो भगवान् व्यास ने चौबीस सहस्र श्लोको की भारत-सहिता मे कहा। उसी भारत-सहिता से अनेक उपाख्यानो के मिल जाने से, नीति और धर्म के अनेक प्रकरणो के समाविष्ट हो जाने तथा भूगोल, इतिहास, धर्म और दर्शन की विपुल सामग्री के एकत्र हो जाने से लक्ष श्लोकात्मक महाभारत का जन्म हुआ।

वेदव्यास ने पूर्व काल में यह सहिता अपने पुत्र शुकदेव को पढाई थी। उनसे अन्य अनुरूप शिष्यो को वह प्राप्त हुई और क्रमश लोक में फैली। नारद, असित और देवल ने नारायणीय पचरात्र-धर्म से इसका सस्कार किया। एक ही तत्त्व नारायण और नर इन दो नामो से विख्यात है—"नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेक द्विधा कृतम्।" एक ही महान् सत्य के ये दो रूप है। वह नारायणी महिमा किस प्रकार नर-रूप में चरितार्थ होती है, इसका सागोपाग निरूपण इस महाभारत का उद्देश्य है। वेदव्यास की दृष्टि में मनुष्य ही ज्ञान और विज्ञान का मध्यविन्दु है—"मैं तुमसे यह रहस्य बतलाता हू कि इस लोक में मनुष्य से बढकर श्रेष्ठ कुछ नही है"—

गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि,
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।
(शाति १८०।१२)

'यह लोक कर्मभूमि है' (वन २६१।३५)। 'मनुष्य का लक्षण कर्म है' (आश्व० ४३।२०)। 'जैसा कर्म वैसा लाभ, यही शास्त्रो का निचोड है' (शाति २७९।२०)। 'जो स्वय अपनी आख से लोक का दर्शन करता है उसीको सचमुच मै सर्वदर्शी मानता हू' (उद्योग ४३।३६)। 'वेद का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्मसयम है, आत्मसयम से ही मोक्ष

होता है, यही सब उपदेशो का सार है' (शाति २९९।१३)। 'जो 'एकमेवा-द्वितीयम्' तत्त्व है, उसे समझने का प्रयत्न क्यो नही करते ? समुद्र के पार जाने के लिए जैसे नाव आवश्यक है ऐसे ही अकेला सत्य स्वर्ग का सोपान है' (उद्योग० ३३।४६)। 'मनुष्य का ध्रुव अश उसका सत्य है। हे युधिष्ठिर, इस मनुष्य लोक में ही जो श्रेयस्कर है, उसे ही कल्याण का श्रेष्ठ रूप कहना चाहिए' (वन० १८३।१८८)।

इस प्रकार के अनेक रत्नो की कान्ति से यह ग्रथ आलोकित है। भारतीय राजनीति, अध्यात्म-शास्त्र, समाज-विज्ञान, मानव-जीवन,धर्म, दर्शन--इन सब का सुनहला ताना-बाना इस महान् ग्रथ में बुना हुआ है। वस्तुत भारतवर्ष की वैदिक और लौकिक दीर्घनिकाय सस्कृति के लिए ब्रह्मजालसुत्त के समान एक महाब्रह्मजाल सूत्र महाभारत के रूप में हमें प्राप्त ह।

महाभारत के पहले पर्व मे इसे इतिहास और पुराण दोनो नाम दिये गए हैं---

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ॥
(आदि० १।१५)।

भारतस्येतिहासस्य पुण्या ग्रथार्थसंयुताम्।
सस्कारोपगता ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥
वेदैश्चतुर्भि समिता व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
सहिता श्रोतुमिच्छामो धर्म्या पापभयापहाम् ॥
(आदि० १।१७,१९)

आदिपर्व की प्रथम पक्ति में ही लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत को पौराणिक कहा गया है, जिन्होने कुलपति शौनक के द्वादश वार्षिक सत्र में महाभारत का पारायण सुनाया। प्राचीन वैदिक साहित्य मे अमुक विद्या या अमुक शास्त्र के अध्ययन करनेवाले उसीके नाम से विख्यात होते थे। वैदिक महाविद्यालयो में---जिन्हें प्राचीन परिभाषा में 'चरण' कहा जाता था---वेद, ब्राह्मण, सूत्र आदि साहित्य के अध्ययन और अध्यापन करने की परम्परा थी और पाणिनि के 'तदधीते तद्वेद' सूत्र के अनुसार उन-उन विद्वानो का नामकरण होता था। कालान्तर में जब शास्त्रो की सख्या

बढी और नए-नए विषयो का प्रादुर्भाव हुआ, तब वैदिक चरणो में जो परिमित सख्यक विषय थे, उनके अतिरिक्त भी नए-नए विषय अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में आ गए। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, अन्य वेदाग, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, गाथा, श्लोक, नटसूत्र, भिक्षुसूत्र इत्यादि अनेक नए विषयो की उद्भावना हुई और दिग्गज आचार्य इनसे संबधित ग्रंथो-उपग्रथो की रचना करने लगे। उसी परम्परा मे इतिहास-पुराण का अध्ययन भी विशेष रूप से किया जाने लगा। इस प्रकार की ऐतिहासिक और सृष्टि संबधी अनुश्रुतियो पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले विद्वानो का उल्लेख अथर्ववेद में आता है। वहा इस प्रकार के विद्वान् और मेधावी ऋषियों को पुराणवित् कहा गया है—

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै ता विद्यान्नामथास मन्येत पुराणवित्॥
(अथर्व० ११।८।७)

'जैसी यह भूमि पहले थी, उसके जिस स्वरूप का ज्ञान मेधावी ऋषियो को था, उसे जो शब्दो में जानता है, उसे मै पुराणकाल का वेत्ता—पुराणवित्—कहता हू।'

विश्व के सब पदार्थों का अन्तर्भाव नाम और रूप में है। रूप बराबर बदल रहे है और हमारे देखते-देखते ओझल होते चले जा रहे हैं, केवल नाम शेष रहता है। अतीत काल के उस नाम को जाननेवाले पुराणवित् है। आधुनिक शब्दो में कहें तो वे ही ऐतिहासिक हैं, जो उन अतीत युगो के मूर्तिमन्त चित्र शब्दो में प्रस्तुत करते है। इस प्रकार पुराणवेत्ता अर्थात् पुराणकाल के वृतातो का पारायण करनेवाले विद्वानो की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी। अथर्ववेद-व्रात्यसूक्त में विद्याओ का परिगणन करते हुए कहा गया है—

तमितिहासश्च पुराण च गाथा च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद। (अथर्व० १५।६, ११-१२)

'इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशसी, ये विद्याए व्रात्यसज्ञक ब्रह्म के साथ फैलती है। वह, जो इस प्रकार विचार करता है, इस प्रकार की विद्याओ का प्रियधाम बन जाता है।' गाथा और नाराशसी ये दोनो प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के अग थे। यजुर्वेद मे कहा है—

मनोन्वाह्वामहे नाराशसेन स्तोमेन
पितॄणा च मन्मभि. (यजु० ३।५३)

'नर का आशसन करनेवाले गानो से और अपने पूर्वपुरुषो के महत्ज्ञान का चिन्तन करने से हम अपने भीतर मन का निर्माण करते हैं।' राष्ट्र के मन को प्रदीप्त करने के ये ही दो उपाय हैं। पूर्वजो के सचित ज्ञान और कर्म का सम्यक् कीर्तन, अनुशीलन और आचरण पुनीत राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। जनमेजय ने मन की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर महाभारत के आरम्भ में ही कहा था—

नहि तृप्यामि शृण्वान पूर्वेषा चरित महत् (आदि० ५६।६)

इस दृष्टि मे इतिहास का सम्यक् पारायण महत्त्वपूर्ण है। इतिहास-पुराण की इस प्राचीन परम्परा का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के सवाद में भी पाया जाता है, जहा इतिहास-पुराण को पचम वेद कहा है। पाली साहित्य से भी इसका समर्थन होता है। वहा चार वेदो के साथ आख्यान अथवा इतिहास को पाचवा वेद माना है (वेद अक्खान पचमन्, जातक ५।४५०, टीका इतिहासपचम वेदचतुकम्)। उपनिषद् का उल्लेख उस स्थिति का परिचायक है जिसमे इतिहास पुराण का स्वतत्र अध्ययन उसी प्रकार होने लगा था, जैसे चरणो के अन्तर्गत वैदिक साहित्य का। इस प्रकार के विद्वान् पाणिनीय सूत्र 'तदधीते तद्वेद' के अनुसार ऐतिहासिक या पौराणिक कहे जाते थे।

वेद के अर्थ करनेवालो की कई परम्पराओ का उल्लेख करते हुए यास्क ने नैरुक्त और याज्ञिक्य सम्प्रदायो के अतिरिक्त ऐतिहासिक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। वृत्र मेघ है, यह नैरुक्तो का मत था, किन्तु वृत्र त्वष्टा का पुत्र है, यह ऐतिहासिको का मत था। इन्ही ऐतिहासिको ने वृत्रासुर और इद्र के पल्लवित रोचक उपाख्यान की कल्पना की। इस प्रकार के

कितने ही आख्यान और उनसे कम महत्त्व की आख्यायिकाएं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत और लोक में बराबर बढ रही थी। पौराणिको के सम्प्रदाय में वे सुरक्षित होती जाती थी। हिमालय से जैसे शतसहस्रसंख्यक निर्झर और वेगवती जल-धाराएं ढलानो पर बहती हुई उसके तटान्त में गंगा की जलधारा मे जा मिलती हैं, वैसे ही वैदिक चरणो मे और लोक में उत्पन्न ये अनेक आख्यान और कथाएं क्रमश प्रवर्द्धमान होती हुई भारत-इतिहास के वाङमय में आ मिली और उन्हीसे महाभारत का पल्लवित, पुष्पित और प्रतिमण्डित वह रूप संपन्न हुआ, जो सूर्य, चन्द्र और तारो की भांति आज भी लोक में विराजमान है। उपाख्यानो से रहित चौबीस सहस्र श्लोको की चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता 'भारत' नाम से प्रसिद्ध थी। वही अनेक उपाख्यानो को आत्मसात् करके लक्ष श्लोकात्मक महाभारत की शतसाहस्री संहिता बन गई।

महाभारत के अनेकविध विषय

इस प्रकार इतिहास-पुराण की परम्परा या प्राचीन अनुश्रुतियो का अतिविशिष्ट संकलन और अध्ययन वैदिक संहिताओ का व्यास करने-वाले एव लोक-विधान के तत्त्वज्ञ महामुनि कृष्णद्वैपायन ने किया। उनके चन्दनोक्षित कृष्ण शरीर, उन्नत मेरुदंड, पृथु ललाट, चमकीले नेत्र और प्रतिभावान् मन में लोक और वेद की समग्र सरस्वती स्फुरित हो उठी। उसीके साकार रूप मे इस ब्राह्मी संहिता—नाना शास्त्रोपबृंहित, संस्कार-संपन्न, वैदिक और लौकिक सूक्ष्म अर्थों से समन्वित, पवित्र और धर्म्य महाभारत संहिता—का जन्म हुआ। इसमें पुराणसंश्रित कथाएं, धर्म-संश्रित कथाएं, राजर्पियो के चरित जैसे मुख्य विषयो का ताना-बाना कुरु-पाडवो के 'जय' नामक इतिहास के चारो ओर बुन दिया गया है। ययाति और परशुराम के बडे-बडे उपाख्यान, जिन्हें व्याकरण-साहित्य मे यायात और आविराम कहा गया है, किसी समय लोक में स्वतंत्र रूप से प्रचलित थे। वे महाभारत में संगृहीत होते गए। राजर्पियो के चरित ही वे नाराशंसी स्तोम हैं, जिनका ऊपर अथर्ववेद में उल्लेख आया है और उन्हें ही पुराणो में वंशानुचरित कहा गया। इनका संग्रह भी इतिहास-पुराण

का आवश्यक अग बन गया था। इसी प्रकार गोत्र सस्थापक तपस्वी ऋषियो के विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में महान् चरित थे (उदाहरणार्थ गालव-चरित, उद्योग० १०४-१२१), जो इस सहिता में सम्मिलित किये गए।

कुछ समय तक भारत और महाभारत इन दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बना रहा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में दोनो का अलग-अलग नामोल्लेख हुआ है (६।२।३८)। उससे भी कुछ पूर्व आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४) में श्राद्ध में वन्दनीय आचार्यों का परिगणन करते हुए वैदिक ऋषियो के अतिरिक्त सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल इन चार व्यास-शिष्यो के साथ भारताचार्य और महाभारताचार्य का भी नाम आता है। कुछ कालोपरान्त सभवत शुगकाल में पृथक् भारत ग्रथ अपने ही बृहत्तर रूप महाभारत में अन्तर्लीन हो गया। इसी स्थिति का परिचायक महाभारत का यह श्लोक है—

इद शतसहस्र तु श्लोकाना पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानै सह ज्ञेयमाद्य भारतमुत्तमम्॥

ऊपर कहा गया है कि महाभारत मे धर्म-सबधी सामग्री का भी सन्निवेश हुआ है (धर्मसश्रिता कथा, आदि० १।१४)। यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार महाभारत मे नीति और धर्म की अपरिमित सामग्री आकर मिल गई। किन आचार्यों के प्रभाव से यह कार्य हुआ होगा? इस प्रकार के रोचक प्रश्नो का मार्मिक विवेचन भारतदीपक श्री विष्णु सीताराम सुकथनकर ने अपने 'भृगुवश और भारत' नामक विस्तृत लेख में किया था। सक्षेप में उनकी स्थापना इस प्रकार थी—

भृगुवशियो का प्रभाव

महाभारत मे भार्गव सामग्री का अत्यधिक समावेश है। भृगुओ की कितनी ही कथाए कई वार महाभारत के उपाख्यानात्मक भाग में सम्मिलित की गई है। वैदिक साहित्य में भी भार्गवो का जो गौरव अविदित था, वह पहली बार महाभारत में पाया जाता है। भरतवश की सीधी-सादी युद्धकथा मे भार्गव-वश की कथा कैसे मिल गई? अपने आप ऐसा हो गया हो, सो बात

नही। भार्गव-कथाओ के मेल से मूल भारत ग्रथ को महाभारत का रूप दिया गया। पुरानी कथाओ को भार्गव रग में रंजित किया गया। यह कार्य सभवत व्यास का नही था। उनकी चतुर्विशति साहस्री सहिता का नाम भारत था। वैशम्पायन ने यह परिवर्द्धन किया हो, यह सभावना भी कम है। अकेले उग्रश्रवा सूत ने एक ही बार में यह परिष्कार कर दिया हो, यह भी सभव नही है। वास्तविक बात यह है कि महाभारत का एक महत्त्वपूर्ण सस्करण भार्गवो के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अन्तर्गत तैयार किया गया। यह कार्य कई शताब्दियो में सपन्न हुआ होगा। महाभारत काव्य था। उसका पाठ भी तरल अवस्था में था। किसी गाढे समय में सूतो द्वारा मूल भारत काव्य भार्गवो के प्रभाव में आया और महाभारत रूप में परिवर्द्धित होकर प्रतिसस्कृत हुआ। भरतवश की युद्ध कहानी के स्थान में महाभारत नए रूप में धर्मसहिता बन गया। शाति और अनुशासन पर्वो के जो नीति और धर्मपरक अश हैं, वे इसी भार्गवी प्रभाव के फल है। कुलपति शौनक स्वय भार्गव थे। उन्होने भरतवश से भी पहले भार्गववश की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की—

तत्र वशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् (आदि० ५।३)

आदिपर्व मे आजतक महाभारत के दो प्रारम्भ पाय जाते है—अध्याय १ के श्लोक २०–२१ में भारत का व्यासकृत मगलाचरण और अध्याय ४ के गद्यात्मक भाग १–३ में महाभारत का भार्गव-प्रारम्भ। सौभाग्य से ये दोनो स्थल परस्पर-विरोधी होते हुए भी पास-पास रखकर सुरक्षित कर लिय गए। महाभारत के समस्त भार्गव-उल्लेखो का एकत्र विचार करने से यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि भरतवश के युद्ध की कहानी में भृगुवशियो के वर्णन को बहुत अधिक स्थान दिया गया है। भारत-युद्ध के चित्रपट का पृष्ठदेश प्राय भार्गव-उपाख्यानो से भर दिया गया है। आदिपर्व में पौर्वउपाख्यान, आरण्यकपर्व में कार्त्तवीर्यउपाख्यान, उद्योगपर्व में अम्वा-उपाख्यान, शातिपूर्व में विपुलोपाख्यान और अश्वमेधपर्व में उत्तक-उपाख्यान भार्गवों के आख्यान हैं। आदिपर्व का सारा पौलोमपर्व और पौष्यपर्व का अधिकाश भाग भार्गव-उपाख्यानो से भरे है।

इसके अतिरिक्त भृगुवशी ऋषियो के कई लम्बे सवाद इस ग्रथ में है, जैसे भृगु-भरद्वाज-सवाद, च्यवन-कुशिक सवाद और मार्कण्डेय समास्या। उत्तक की कथा, च्यवन और इद्र के मघर्ष की कथा, भार्गव राम से द्रोण की अस्त्र-प्राप्ति की कथा और कर्ण के शिष्यत्व की कथा दो-दो बार आई है। जमदग्नि और परशुराम की जन्मकथा चार बार आई है। भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियो के इक्कीस वार नाश किये जाने का उल्लेख दस बार हुआ है और हर वार 'त्रिसप्तकृत्व पृथिवी कृता नि क्षत्रिया पुरा' यही उसका रूप है, जिसे सूतो ने उनके विरुद गान का अतरा ही वना लिया था। भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियो के गर्व तोडने का उल्लेख तो लगभग वीस बार हुआ है। भार्गवो का यह गौरव महाभारत में ही स्फुट हुआ है। उनके यश और वीर्य का आभास वैदिक साहित्य मे प्राय नही है। सौ वातो की एक बात यह कि कुलपति शौनक, जिनको उग्रश्रवा सूत ने महाभारत की कथा सुनाई, स्वय भार्गव थे। किन्तु इस विषय में भी हमें विचारो का सतुलन रखने की आवश्यकता है।

महाभारत सपूर्ण ब्राह्मण-परम्परा का विश्वकोप और भारतीय उपाख्यानो का सनातन कल्पवृक्ष बन गया था। स्वय महाभारत में कहा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्। (आदि० ५६।३३)

अतएव भरतवश की सीधी-सादी युद्धकथा को भारतीय धर्म के विश्वकोश मे ढालने का भगीरथ आयोजन महाभारत में है। फिर भी अगस्त्य, आत्रेय, कण्व, कश्यप, गौतम, वसिष्ठ आदि ऋषिकुलो के वर्णन को महाभारत मे उतना स्थान नही मिला, जितना भृगुवश को। महाभारत के कथा-प्रवाह में वे कथाए छिप-सी गई है, पर 'भार्गवो के उपाख्यान सिर ऊचा उठाये हुए वार-वार हमारे सामने आकर दर्शन देते है, तथा भार्गव महापुरुषो के जो देवतुल्य आकार कल्पित किये गए है, वे भीष्म, कर्ण, कृष्ण और अर्जुन जैसे अतिमानवो के साथ टक्कर लेते है और कही उनको भी पीछे छोड जाते है।'[1]

---

१ श्री सुकथनकर, भृगुवश और भारत, पृ० १५६।

भार्गव-सामग्री महाभारत के उस अंश में है, जिसका निर्माण उपाख्यानों से हुआ। अतएव यह असंदिग्ध परिणाम निकाला जा सकता है कि महाभारत के वर्त्तमान संस्करण में भारत कथाओं के साथ भार्गव-उपाख्यानों का जानबूझकर गठ-बंधन किया गया। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार ग्रंथ के संस्कर्ताओं ने सौभाग्य से इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है कि व्यास का मूल ग्रंथ भारत २४,००० श्लोकों का था और उसमें उपाख्यान नहीं थे (आदि० १। ६१)। किन्तु भार्गव शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ में लोमहर्षण के पुत्र पौराणिक उग्रश्रवा सूत ने जिस ग्रंथ का पारायण किया, उसमें घटनास्थल अशांत कौरव राजसभा से उठकर भार्गवों के प्रशांत आश्रम में स्थापित होता है।

कथा-भाग के अतिरिक्त महाभारत की नीति और धर्म-संबंधी सामग्री पर भी भार्गव प्रभाव पड़ा। यह सर्वसम्मत है कि धर्म और नीति का जैसा सर्वांगपूर्ण और गंभीर विवेचन महाभारत में प्राप्त है, जिसके कारण हिंदू संस्कृति में इसे स्मृति का पद दिया गया और राष्ट्र की दृष्टि में शाश्वत सम्मान प्राप्त हुआ, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। धर्म और नीति विषय में भी भृगुओं का विशेष प्रभाव था। मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र सुनाने का कार्य भृगु ने ही किया, जिसके कारण मनुस्मृति को आज भी भृगुसंहिता कहा जाता है। भार्गव शुक्र का नीति विषय से संबंध प्रसिद्ध ही है। डा० बूहलर की गणना के अनुसार मनुस्मृति के २६० श्लोक (समग्र ग्रंथ का लगभग दशमांश) महाभारत के ३रे, १२वें और १३वें पर्वों में पाये जाते हैं।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विशेषताएं

महाभारत उस प्रकार का इतिहास-ग्रंथ कदापि नहीं, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम और आंकड़ों को इकट्ठा कर ठेठ इतिहास लिखा गया हो। उस प्रकार का नीरस ग्रंथ, यदि वह कभी लिखा गया होता तो क्या ३,००० से भी अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता था? कौन नहीं जानता कि इतिहास के पंडितों द्वारा कड़े परिश्रम से रचे गए सैकड़ों पोथे लोकजीवन में अपना प्रभाव खोकर पुस्तकालयों की धूल चाटते हैं? कौन उन्हें दुबारा पढ़ने का कष्ट करता होगा? महाभारत उस प्रकार की

ठ्ठ पद्धति से रचा हुआ इतिहास न कभी था और न उसे ऐसा कभी समझना चाहिए। यह तो एक भावात्मक रचना है—

कृत मयेदं भगवन् काव्य परमपूजितम्।

यह काव्य महान् कलाकार की अद्भुत सर्जना है।

महाभारत के वर्तमान रूप के सबध मे यह भी ज्ञातव्य है कि वह नारायणीय धर्म का सर्वप्राचीन ग्रथ है और आदि से अन्ततक भगवान् वासुदेव नारायण की महिमा के सकीर्त्तन के लिए प्रतिसस्कृत किया गया है। व्यासकृत अत्यन्त तेजस्वी मगलाचरण के तुरन्त बाद हृषीकेस विष्णु, चराचर के गुरु हरि के प्रति प्रणामात्मक मगलाचरण भी पाया जाता है। ये दोनो मगलाचरण इस प्रकार हैं—

आद्य पुरुषमीशान पुरुहूत पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षर ब्रह्म व्यक्ताव्यक्त सनातनम्॥
असच्च सच्चैव यद्विश्व सवसत परम्।
परावराणा स्त्रष्टार पुराण परमव्ययम्॥

(आदि० १।२०, २१)।

इन श्लोको में मानो छान्दस शब्दो के मोती चुन-चुनकर पिरोये गए हैं। इनके तुरन्त बाद ही यह मगलाचरण है—

मगल्य मगल विष्णु वरेण्यमनघ शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेश चराचरगुरु हरिम्॥

(आदि० १। २२)।

अवश्य ही यह श्लोक पचरात्र भागवतो द्वारा ग्रथ-सस्कार का परिणाम है। 'नारायणो नरश्चैव तत्वमेक द्विधाकृतम्' इस विराट कल्पना मे विश्वास करनेवाले भागवतो ने ऐसे महान् ग्रथ को अपनी धर्म-सहिता के रूप मे ढाल लिया हो, इसमे आश्चर्य नही। नारद, देवल, असित, नारायण, वासुदेव आदि के अभिप्राय पचरात्र प्रभाव की कथा पुकारकर कह उठते है। उन्हें ग्रथ के मूल स्तर से पृथक् पहचानने में कठिनाई नही होती।

इसी महाभारत में एक तीसरी विलक्षण विशेषता यह है कि भारतवर्ष की उर्वरा भूमि में निषाद सस्कृति से सवधित जो अनेक मान्यताए थी,

उनका भी महाभारत में भरपूर सन्निवेश हुआ है । जैसा श्री हाप्किन्स ने महाभारतीय गाथा विज्ञान (एपिक माइथालॉजी) नामक अपने ग्रंथ में दिखाया है, भूमि से संबंधित अनेक धार्मिक विश्वास, जैसे यक्षदेवता, नागदेवता, नदीदेवता, वृक्षदेवता, पर्वतदेवता आदि, महाभारत के कथा-प्रवाह में अनायास सम्मिलित हो गए हैं और वैदिक देवताओ के बुने हुए जाल के साथ यहा वे भी अपनी सत्ता जमाये हुए हैं । संभव इन नाना देवताओं का समन्वय करने का कार्य भागवत धर्म ने ही शुरू किया, जैसा कि गीता के विभूतियोग नामक दसवें अध्याय के 'हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियो का अन्त नही है,' इस प्रमाण मे ज्ञात होता है ।

साहित्यिक दृष्टि से महाभारत में किसी अतीत काल की संस्कृत भाषा का अत्यन्त समृद्ध स्वरूप पाया जाता है , भाषा की ऐसी विलक्षण शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है । उपाख्यान शैली, छोटी-छोटी कहानियो की गल्प शैली (जिसमें पंचतंत्र की अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घसूत्री इन तीन मछलियो की कहानी भी है), दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली (सनत्सुजात पर्व, उद्योग ४२–४६, अनुगीता, अश्वमेध अध्याय १६–५१), प्रश्नोत्तर शैली (वन० १८०–१८१, यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी, वन० अध्याय ३१३) , केवल प्रश्नात्मक शैली (नारद के मुख से राजधर्मानुशासन, सभा० ५), नीतिकथन शैली (विदुरनीति, उद्योग० ३३–४०), स्तोत्र शैली (नारदकृत महापुरुषस्तव शांति० ३३८, भीष्मकृत कृष्णस्तवराज, शांति० ४७, भगवन्नामनिरुक्त, शांति ३४१; व्यासोक्त शतरुद्रिय, अनु० १६१, शिवसहस्रनाम (शांति २८४) इत्यादि अनेक प्रकार की साहित्यिक शैलियो का अक्षय भंडार महाभारत में है ।

नार्वे, आइसलैंड आदि उत्तराखंडवर्ती देशो की प्राचीन गाथाओ के विद्वान् आज मुक्तकंठ से सीमंड और उसके पुत्र स्नोरी की प्रतिभा का गुण-गान करते हैं, जिन्होंने आर्यों की ही एक शाखा त्यूतन लोगो की प्राचीन गाथाओ का संग्रह ११ वीं–१२वीं शती के लगभग किया। सीमंड ने 'पोइ-टिक एड्डा' के नाम से सब उपाख्यानो को एकत्र किया । तदनंतर उसके पौत्र स्नोरी स्टर्लेसान ने, जिसका जन्म सन् ११७९-११८१ के बीच हुआ था

और जो पीछे से आइसलैंड का राष्ट्रपति भी बन गया था, उन सब कथाओ का गद्य रूप मे एक अत्यन्त उत्कृष्ट सस्करण तैयार किया। आज यही बात हम व्यास, शुक और रोमहर्षण के लिए भी कह सकते है, जिन्होने सीमड और स्नोरी से सहस्रो वर्ष पहले आर्यों के विराट् गाथा-वाङमय को अपने काव्य में गूथकर उसे सदा के लिए अमर कर दिया। इसी कारण महाभारत वेद और पुराणो के उपाख्यानो का अक्षय भडार बना हुआ है। 'एड्डा' और 'सागाओ' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि ये इतनी महान् कृतिया है कि इन्हे किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपीयर, दाते, गेटे बन जायगे। शेक्सपीयर, दाते और गेटे के स्थान पर भास, कालिदास, माघ, भारवि और हर्ष का नाम रख देने से ये ही उद्गार वेदव्यास के लिए ठीक घटित होते है। स्वय महाभारत मे कहा है—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्त कविवुद्धय ।
इद सर्वं कविवरैराख्यानमुपजीव्यते ।
(आदि० २।२३७,२४१)

'अगो और उपनिषदो के साथ चारो वेदो का जिसे ज्ञान है, किन्तु जो इस महाभारत सज्ञक आख्यान को नही जानता, उसे विचक्षण नही कह सकते। इस उपाख्यान को सुन लेने के बाद और कुछ अच्छा नही लगता, जैसे कोयल का मधुर स्वर सुन लेने पर कौवो के रूखे बोल नही सुहाते। इस उत्तम इतिहास मे कवियो की विशाल प्रतिभाए जन्म लेती है। इस आख्यान का आश्रय लिये बिना पृथिवी पर किसी कथा का अस्तित्व नही है, वैसे ही जैसे आहार के बिना शरीर धारण नही किया जा सकता। सारे श्रेष्ठ कवि इस आख्यान का आश्रय लेते है। सब आगमो मे यह इतिहास श्रेष्ठ है और अर्थो की दृष्टि मे प्रधान है। इस उत्तम इतिहास मे भगवान् वेदव्यास की उत्तम बुद्धि उसी प्रकार ओतप्रोत है, जिस प्रकार स्वर और व्यजनो में लोक और वेद की समस्त वाणी अर्पित है। प्रज्ञा से समृद्ध इस भारत इतिहास का श्रवण करना चाहिए।' (आदि० २।२३५-२८२)

महाभारत के ओज-पूर्ण प्रवाह के कितने ही प्रकरणो की गूज राष्ट्र के कानो में अनेक शताब्दियो के बीत जाने पर भी बराबर सुनाई

देती रही है। शतसहस्र शाखाओ मे फैले हुए पुराण वटवृक्ष के नीचे अखड समाधि में विराजमान महर्षि वेदव्यास ने धर्मसज्ञक किसी अपरिमेय एव अचिन्त्य तत्त्व का स्वय साक्षात्कार किया तथा अपनी अलौकिक काव्य-प्रतिभा द्वारा उसे सब जनो के हितार्थ महाभारत में निबद्ध कर दिया। उनके भगीरथ तप से जो धर्माम्बुवती ज्ञानगगा प्रवाहित हुई उसकी सरस धारा में समस्त राष्ट्र ने सहस्रो वर्षोतक अवगाहन किया है। जबतक भूमडल पर चन्द्र और सूर्य का प्रकाश है, जब तक अग्निषोमीय पुरुष का मानवीय व्यवहार जगत् में चालू है, जबतक गगा-यमुना के तटो पर आकाशचारी हस प्रति निर्मल शरद् में उतरते हैं, तबतक भगवान् की अनन्त महिमा को प्रख्यान करनेवाला यह जय नामक इतिहास लोक में अमर रहेगा।

: २ :

कथा-सार तथा पर्व-सूची

महाभारत नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है। कौरव और पाडव दोनो भरतवशी थे, अतएव वे 'भारत' कहे गए। भरतवशियो के सग्राम या युद्ध की सज्ञा भी 'भारत' हुई। पाणिनीय सूत्र ४।२।५६ (सग्रामे प्रयोजन-योद्धृभ्य) के अनुसार योद्धाओ के नाम से युद्ध का नाम रखा जाता था। अतएव स्वाभाविक रीति से भरतो का सग्राम 'भारत' कहलाया। महाभारत में एक स्थान पर 'महाभारत युद्ध' (अश्वमेध ८१।८) इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'बडा भारतयुद्ध', अर्थात् भरतो के बीच में जो बडा सग्राम हुआ वह 'महाभारतयुद्ध' कहलाया। अन्यत्र आदिपर्व में 'महाभारताख्यानम्' (५६।३०) शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है 'भरतो के महान् सग्राम की कहानी'। महाभारताख्यान का ही सक्षिप्त रूप महाभारत है।

महाभारत के वर्तमान रूप में १८ पर्व हैं। सब पर्वो में मिलाकर १,९४८ अध्याय और ८२,१४६ श्लोक होते है। यह सख्या पूना से सपादित सशोधित सस्करण के अनुसार है। दक्षिण भारत से प्रकाशित विस्तृत पाठ

में जिमे 'महल्लक पाठ' भी कह सकते है, अध्यायो की सख्या १,९५९ और श्लोको की सख्या ९५,५८६ है। इस प्रकार की गणना 'पर्व सग्रह' नामक पर्व में भी पाई जाती है। ये पर्व १,००० ईसवी से पूर्व अवश्य ही महाभारत के अग थे, क्योकि जावा द्वीप से प्राप्त भारत में, जो लगभग ८वी-९वी शती के लगभग वहा गया होगा, इस प्रकार की पर्व-गणनात्मक सख्याए पाई जाती है, और 'आद्यभारतम्' नामक तेलुगु भाषा के अनुवाद में भी, जो विक्रम की १०वी शताब्दी में बना, ये सख्याए उपलब्ध है। १८ पर्वों में अध्याय और श्लोको की सख्या इस प्रकार जाननी चाहिए —

	पर्व	अध्याय	श्लोक
१	आदिपर्व	२१८	७९८४
२	सभापर्व	७२	२५११
३	आरण्यकपर्व	२६९	११६६४
४	विराटपर्व	६७	२०५०
५	उद्योगपर्व	१८६	६६९८
६	भीष्मपर्व	११७	५८८४
७	द्रोणपर्व	१७०	८९०९
८	कर्णपर्व	६९	४९००
९	शल्यपर्व	५९	३२२०
१०	सौप्तिकपर्व	१८	८७०
११	स्त्रीपर्व	२७	७७५
१२	शातिपर्व	३३९	१४५२५
१३	अनुशासनपर्व	१४६	६७००
१४	आश्वमेधिकपर्व	१३३	३३२०
१५	आश्रमवासिकपर्व	४२	१५०६
१६	मौसलपर्व	८	३००
१७	महाप्रस्थानिक पर्व	३	१२०
१८	स्वर्गारोहणपर्व	५	२००
	योग	१,९४८	८२, १३६

काश्मीर से प्राप्त शारदा लिपि में लिखी हुई महाभारत की प्रतिया

पाठ की दृष्टि से सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। उनके पाठ प्राचीन एव मूल के अधिकतम निकट है और अन्य सस्करणो की अपेक्षा श्लोक-सख्या भी उनमें कम है। दक्षिण भारत के सस्करण में सबसे अधिक मिलावट है, जो सभापर्व, विराटपर्व, अनुशासनपर्व, आश्वमेधिकपर्व और आश्रम-वासिकपर्व में पाई जाती है। कुल मिलाकर उसमें १३,४५० श्लोक काश्मीरी प्रतियो की अपेक्षा अधिक है। महाभारत के आरम्भ में पहले और दूसरे पर्व ग्रथ के स्व रूप निर्धारण की दृष्टि से अति महत्त्व रखते हैं। पहले पर्व में उग्रश्रवा सूत के पधारने की भूमिका देने के बाद पाडवो की सक्षिप्त कथा उसी ढग पर दी है, जैसे मूल रामायण में राम की कथा।

पाण्डवो की सक्षिप्त कथा

मृगयाशील पाडु स्वजनो के साथ अरण्य में निवास करते थे वही। कुन्ती और माद्री ने मत्रो की सहायता से धर्म, वायु, इद्र और अश्विनो से पाच पुत्र उत्पन्न किये। कुछ दिन तक वे बालक तपस्वियो द्वारा आश्रम में सवर्द्धित होते रहे। फिर ऋषि लोग सुन्दर जटाधारी ब्रह्मचारियो के वेष में रहनेवाले उन बालको को हस्तिनापुर में लाकर कौरवो को यह कहकर सौंप गए कि ये पाडव है, तुम्हारे पुत्र, भाई, शिष्य और मित्र है। उनसे मिलकर समस्त कौरव और पुरवासी बहुत हर्षित हुए। इस प्रकार अखिल वेद और विविध शास्त्रो का अध्ययन करते हुए पाडव वहा पूजित होकर रहने लगे। सब प्रजागण युधिष्ठिर के सत्य व्यवहार, भीमसेन की धृति, अर्जुन के विक्रम और नकुल-सहदेव की विनय एव कुन्ती की गुरु-शुश्रूषा से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। तब राजाओ के समूह में उपस्थित होकर अर्जुन ने पति का स्वयवर करनेवाली कृष्णा को सुदुष्कर लक्ष्य-भेद करके प्राप्त किया। उसके फलस्वरूप वे सब धनुर्धारियो में पूज्य समझे जाने लगे। अर्जुन ने सब राजाओं को और बडे-बडे गणराज्यो को जीतकर युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का मार्ग प्रशस्त किया। ईस प्रकार बहुविध अन्नराशि एव दक्षिणाओ से युक्त महान राजसूय-यज्ञ युधिष्ठिर द्वारा आरम्भ किया गया। वासुदेव कृष्ण की नीति से और भीम और अर्जुन के बल से जरासध एव बल-गर्वित शिशुपाल मारे गए। उस यज्ञ में अनेक देशो से मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हस्ति, अश्व और धन

के अनेक उपायन युधिष्ठिर को प्राप्त हुए और दुर्योधन ने देखे। पाडवो की उस समृद्ध लक्ष्मी को देखकर उसके मन में ईर्ष्याजनित रोष उत्पन्न हुआ। मय शिल्पी ने विमान के आकार की जो सुन्दर सभा पाडवो के लिए बनाई, उसे देखकर भी दुर्योधन सतप्त हुआ। वहा उस सभा में दुर्योधन को जल-थल के भ्रम से चलने मे कुछ हडबडी करते देख कृष्ण के सामने ही भीम ने उसकी खिल्ली उडाई। भोगने के लिए अनेक प्रकार के रत्न और विविध भोगो के होते हुए भी दुर्योधन मनमलीन और तनक्षीण रहता था। धृतराष्ट्र को जब इसकी सूचना मिली तब पुत्र के स्नेह से उसने उसे पाडवो के साथ द्यूत की अनुमति दे दी। उसे सुनकर कृष्ण को बडा क्रोध आया और उनके मन को चैन न पडा।

धृतराष्ट्र के मनोभाव

इस प्रकार घटनाओ का सार रूप मे परिगणन करने के बाद धृतराष्ट्र के मनोभावो की झाकी यो दी गई है—'हे सजय, मेरी बात सुनो। तुम प्राज्ञ हो, मेरे ऊपर रोष न करना। मेरा मन युद्ध में नही है और न मुझे कुरुओ का नाश ही अच्छा लगता है। अपने और पाडु के पुत्रो में भी मैं भेद नही मानता, पर मैं वृद्ध हू। मेरे उद्धत पुत्र मुझसे डाट-डपट करते हैं। मैं कुछ तो अन्धे होने की दीनता से और कुछ पुत्रो की प्रीति से सब सह लेता हू, और उस जड दुर्योधन की भाति मोह के जाल में फस जाता हू।'

इस खिन्न मन स्थिति में पडे हुए धृतराष्ट्र मूल महाभारत की कहानी के छूटे हुए तार को पुन वीरकाव्योचित गौरवयुक्त छन्द और शैली से आगे बढाते है। ये ५५ श्लोक धुरधर छन्द, एव शब्द-योजना और सूत्र-रूप में कथा को कहने की विशेषता के कारण अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होते हैं, जो महाभारत के मूल वीर-गाथात्मक रूप की स्मृति दिलाते है—

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने धनुष को खीचकर लक्ष्य को वेध दिया, और सब राजाओ के सामने ही द्रौपदी को जीत लिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय।

'जब मैंने सुना कि द्वारका में माधव की बहन सुभद्रा को अर्जुन ने बलपूर्वक व्याह लिया और फिर युद्ध करने के स्थान पर बलदेव और वासुदेव

वृष्णि दायज लेकर इद्रप्रस्थ पहुच गए, तव मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि देवराज इद्र की मूसलाधार वृष्टि को अर्जुन ने अपने वाणों से रोक दिया और खाडव-वन मे अग्नि की भूख बुझा दी, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि शकुनि ने अक्षद्यूत में युधिष्ठिर का राज्य जीतकर उसे हरा दिया और फिर भी उसके चारो अद्वितीय भाई रुष्ट होने के स्थान में उसके पीछे-पीछे चल दिये, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि आसुओ से रुधे हुए कठवाली, एक वस्त्र से शरीर ढके हुए दुखिया द्रौपदी को रजस्वलावस्था में ही अनाथ की भाति मेरे पुत्र सभा में ले आये, तब इस घोर पाप की प्रतिक्रिया से भयभीत मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि वन को प्रस्थान करते हुए पाडव सब भाति दु खी होकर भी अपने ज्येष्ठ बन्धु की प्रसन्नता के लिए केवल धर्म पर ही आरूढ रहे, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि सहस्रो स्नातक और भिक्षा-भोजन करनेवाले महात्मा ब्राह्मण युधिष्ठिर की भक्ति से खिचकर उनसे मिलने वन में जा पहुचे, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने किरातरूपधारी देवदेव त्र्यबक शिव को युद्ध में प्रसन्न करके पाशुपत महास्त्र प्राप्त कर लिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि सत्य पर आरूढ धनजय अर्जुन ने स्वर्ग में जाकर साक्षात् इन्द्र से भली भाति दिव्य अस्त्रो का अध्ययन किया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि भीम और अन्य कुन्तीपुत्र मनुष्यो से अगम्य देश में वैश्रवण कुवेर से जाकर मिले, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण की सलाह मानकर, मेरे पुत्र घोप-यात्रा में गए और वहा पाण्डवो ने गन्धर्वों के वन्धन से उन्हें छुडाया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

अभिमन्यु को घेरकर और उसका वध करक प्रसन्न होने का ढोग करने लगे, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अभिमन्यु को मारकर मूढ धार्त्तराष्ट्र प्रसन्नता से चिल्लाने लगे, और उधर अर्जुन ने जयद्रथ के ऊपर अपने क्रोध का ज्वालामुखी छोड दिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने जयद्रथ-वध की अपनी प्रतिज्ञा शत्रु-दल के बीच में पूरी कर दी, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन के रथ के घोडों के थक जाने पर कृष्ण ने स्वय अपने हाथ से उन्हें खोलकर जल पिलाया और खिला-पिलाकर पुन जोडकर वह रथ ले गए, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अपने घोडो के तरोताजा हो जाने पर रथ में बैठकर गाडीवधारी अर्जुन ने और सब योद्धाओ को छेक लिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोणाचार्य की हस्ति-दुर्मद सेना को दलित करके सात्यकि कृष्ण और अर्जुन से जा मिले, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण ने भीम को पकडकर भी केवल कुछ कह-सुनकर और धनुप की नोक मे कोच कर छोड दिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोण, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और शल्य-जैसे शूरवीरो ने भी जयद्रथ के वध को चुपचाप सह लिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि देवराज इन्द्र द्वारा प्रदत्त दैवी शक्ति को कृष्ण ने कर्ण से घटोत्कच पर चलवाकर उसे छल लिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि जिस शक्ति से समर में अर्जुन का नाश होने को था, उसे सूतपुत्र कर्ण ने पहले ही छोड दिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि धृष्टद्युम्न ने धर्म का उल्लघन करके रथ मे अकेले

बैठे हुए प्राणोत्सर्ग के व्रती द्रोणाचार्य को मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि द्वैरथ-युद्ध में सब लोगो के सामने माद्रीपुत्र नकुल अकेले अश्वत्थामा से भिड गए, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोण की मृत्यु के बाद द्रोणपुत्र अश्वत्थामा दिव्य नारायण-अस्त्र का प्रयोग करके भी पाण्डवो का अन्त न कर सका, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अत्यन्त शूर कर्ण को भी पार्थ ने भाई-भाई के उस युद्ध में मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुःशासन और उग्र कृतवर्मा ने युधिष्ठिर को अकेले मे पाकर भी कुछ नही किया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि युधिष्ठिर ने मद्रराज शल्य को, जो कृष्ण के सामने डर जाता था, मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि कलह-द्यूत के मूल, छलछदी, पापी शकुनि को सहदेव पाण्डव ने सग्राम में मार दिया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि दुर्योधन विरथ और भग्नदर्प होकर सरोवर के जल में जा सोया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि कृष्ण के साथ पाण्डव गगा-ह्रदमें छिपे हुए असहनशील दुर्योधन को जाकर डपटने लगे, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि गदायुद्ध मे विविध पैतरो से मण्डल बनाकर लडते हुए दुर्योधन को कृष्ण की बताई युक्ति से भीम ने मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि ने द्रौपदी के सोते हुए पुत्रो का वध करके बडा बीभत्स और निन्दित कार्य किया, तब मुझे विजय की आशा नही रही, सजय !

'जब मैंने सुना कि क्रुद्ध भीम से पीछा किये जाने पर अश्वत्थामा ने ब्रह्मशिरस् अस्त्र को सींक के भीतर रखकर चलाया, और गर्भस्थ पाण्डवो

का नाश-जैसा जघन्य कार्य किया, तव मुझे विजय की आशा नही रही, सजय ।

'जव मैने सुना कि अर्जुन ने भी अपने ब्रह्मशिरस् अस्त्र को चलाकर उससे अश्वत्थामा के अस्त्र को काट दिया और अश्वत्थामा को अपने मस्तक की मणि देनी पडी, तव मुझे विजय की आशा नही रही, सजय ।

'जव मैने सुना कि अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ मे स्थित परीक्षित पर भी अस्त्र चला दिया और फिर भी व्यास और कृष्ण ने उसकी रक्षा कर ली, तव मुझे विजय की आशा नही रही, सजय ।

'हे सजय, युद्ध के परिणामस्वरूप पुत्र-पौत्रो से विहीन गान्धारी और अपने पिता और भाइयो से विहीन वहुए शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई एव पाण्डु के पुत्रो ने दुष्कर कर्म करके असपत्न राज्य प्राप्त कर लिया। इस महायुद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना काम में आ गई, और केवल दस योद्धा शेप रहे, तीन हमारे और सात पाण्डवो के।' (आदि० १।१०२-१५८)

इन अति प्राचीन श्लोको में भारत-युद्ध और कुरु-पाण्डवो के चरित की पूरी रूपरेखा आ गई है। निश्चय ही महाभारत का असली ठाट यही रहा होगा, जिसके ऊपर वैदिक और लौकिक उपाख्यानो, गाथाओ, अनेक धार्मिक विश्वासो, नीतिपरक और धर्मपरक सवादो की एक विस्तृत छाजन छा दी गई। फलत मूलरूप मे निखरे और साफ-सुथरे वीरगाथा-काव्य ने राष्ट्रीय महाकाव्य और धार्मिक विश्वकोप का रूप धारण कर लिया।

पर्वों की सूची

वर्तमान महाभारत के १८ पर्वों का विभाग कितना प्राचीन है, यह सुनिश्चित नही। लेकिन इन पर्वों के पीछे महाभारत का दूसरे प्रकार का विभाग था, जिसमें १०० पर्व गिने जाते थे। इस पर्वसग्रह-पर्व (आदि० २।२३।२३३) को भारत का समास या सक्षिप्त रूप कहा गया है। वस्तुत यह महाभारत की अत्यन्त प्राचीन विपय-सूची समझी जा सकती है, जव उग्रश्रवा सूत के मुख से सम्पन्न हुए महाभारत का बृहत्-रूप अस्तित्व में आ चुका था।

इन भारत इतिहास के पर्वो का सग्रह इस प्रकार है सवसे पहले (१) पर्वानुक्रमणी-पर्व, फिर (२) पर्वसग्रह-पर्व, (३) पौष्य-पर्व, (४) पौलोम-

पर्व, (५) आस्तीक-पर्व, और (६) आदिवशावतारण-पर्व है। उसके बाद अत्यन्त अद्भुत (७) सम्भव-पर्व है। फिर (८) लाक्षागृहदाह-पर्व, (९) हैडिम्ब-पर्व, (१०) बकवध-पर्व और (११) चैत्ररथ-पर्व हैं। इसके बाद (१२) देवी पाचाली का स्वयम्वर-पर्व है, और पुन (१३) वैवाहिक पर्व है। तदनन्तर (१४) विदुरागमन-पर्व, (१५) राज-लम्भ-पर्व, (१६) अर्जुनवनवास-पर्व, और (१७) सुभद्राहरण पर्व है। सुभद्रा का हरण हो जाने के बाद कृष्ण और बलराम के दायज लेकर इन्द्रप्रस्थ जाने की कथावाला (१८) हरणहारिक-पर्व है। उसके बाद (१९) खाण्डवदाह-पर्व है, जिसमें मय के साथ पाण्डवो का परिचय हुआ। उसके बाद (२०) सभा-पर्व, तब (२१) मन्त्र-पर्व, (२२) जरासधवध-पर्व और (२३) दिग्विजय-पर्व की कथा है। दिग्विजय के बाद (२४) राजसूयिक-पर्व, तब (२५) अर्घाभि-हरण-पर्व है, जिसमें अनेक देशो के राजा युधिष्ठिर के लिए तरह-तरह की भेंट लेकर आये। तब (२६) शिशुपालवध-पर्व, (२७) द्यूत-पर्व और उसके बाद (२८) अनुद्यूत-पर्व की कथा है। फिर (२९)आरण्यक-पर्व, (३०) किर्मीर-वध-पर्व, (३१) शिव और अर्जुन के युद्ध का कैरात-पर्व, और उसके बाद (३२) इन्द्रलोकाभिगमन-पर्व है। पुन (३३) तीर्थयात्रा-पर्व में कुरुराज युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा का वर्णन है। तब (३४) जटासुरवध-पर्व, (३५) यक्षयुद्ध-पर्व, (३६) आजगर-पर्व और उसके बाद (३७) मार्कण्डेय-समास्या-पर्व एव (३८) द्रौपदी-सत्यभामा-सवाद पर्व है। फिर (३९) घोषयात्रा-पर्व, (४०)मृगस्वप्नभय-पर्व, (४१) वृहद्द्रौ-णिक-पर्व और तदनन्तर जयद्रथ द्वारा वन में (४२) द्रौपदी-हरण-पर्व है। फिर (४३) कुण्डला-हरण-पर्व, उसके बाद (४४) आरणेय-पर्व और तब (४५) वैराट-पर्व है। इसके बाद (४६) कीचकवध-पर्व, पुन (४७) गोग्रहण पर्व और तब (४८) उत्तरा और अभिमन्यु का वैवाहिक-पर्व है। इसके बाद महाद्भुत (४९) उद्योग-पर्व है। तब (५०) सजय-यान-पर्व, और उसके बाद (५१) धृतराष्ट्र-प्रजागर-पर्व है। उसके बाद गुह्य अध्यात्म-दर्शन से युक्त (५२) सनत्-सुजातीय-पर्व है। तब (५३) यानसन्धि-पर्व, (५४) भगवद्यान-पर्व, (५५) कर्ण-विवाद-पर्व, पुन (५६) कुरु-पाण्डव-सेनाओ का निर्याण-पर्व और तदनन्तर (५७) रथातिरथ-सख्या-पर्व

है। उसके बाद (५८) उलूक-दूतागमन-पर्व और (५९) अम्बोपाख्यान-एव (६०) भीष्माभिषेचन-पर्व है। इसके अनन्तर (६१) जम्बूखण्ड-विनिर्माण-पर्व और (६२) द्वीपो के विस्तार का वर्णन करनेवाला, भूमि-पर्व है। उसके बाद (६३) गीता-पर्व और (६४) भीष्मवध-पर्व है। तब (६५) द्रोणाभिषेक-पर्व, (६६) सशप्तकवध-पर्व, (६७) अभिमन्युवध-पर्व, (६८) प्रतिज्ञा-पर्व, (६९) जयद्रथवध-पर्व, (७०) घटोत्कचवध-पर्व, (७१) द्रोणवध-पर्व और (७२) नारायणास्त्र मोक्ष-पर्व है। इसके बाद (७३) कर्ण-पर्व, और तब (७४) शल्य-पर्व है। फिर (७५) ह्रदप्रवेश-पर्व, (७६) गदायुद्ध-पर्व, (७७) सारस्वत-पर्व, और उसके बाद (७८) भयकर सौप्तिक-पर्व है। तदनन्तर बहुत ही दारुण (७९) ऐषीक-पर्व है, फिर (८०) जलप्रदानिक-पर्व, (८१) स्त्री-पर्व और (८२) श्राद्ध-पर्व है जिसमे कुरुओ की श्राद्ध-क्रियाओ का वर्णन किया गया है। इसके बाद (८३) युधिष्ठिर का आभिषेचनिक-पर्व, (८४) चार्वाक-निग्रह-पर्व और (८५) गृहप्रविभाग-पर्व है। तदनन्तर शान्ति-पर्व का महाप्रकरण है, जिसके अन्तर्गत (८६) राज-धर्मानुकीर्त्तन, (८७) आपद्धर्म और (८८) मोक्षधर्म ये तीन बडे पर्व सम्मिलित है। इसके बाद (८९) आनुशासनिक-पर्व है। तब भीष्म का (९०) स्वर्गारोहण-पर्व है। पुन सब पापो का नाश करनेवाला (९१) आश्वमेधिक-पर्व है, और उसके बाद (९२) अनुगीता-पर्व मे अध्यात्म विषयो का विवेचन है। पुन (९३) आश्रमवास-पर्व, (९४) पुत्रदर्शन-पर्व, और (९५) नारदागमन-पर्व है। तत्पश्चात् अत्यन्त घोर (९६) मौसल-पर्व है, और पुन (९७) महाप्रस्थानिक-पर्व एव (९८) स्वर्गारोहण-पर्व है। इस प्रकार ये ९८ पर्व हुए। इन्हीके दो परिशिष्ट है, एक (९९) हरिवश-पर्व और दूसरा (१००) भविष्यत्-पर्व है जो हरिवश पुराण का अन्तिम भाग है। ये १०० पर्व महात्मा व्यास द्वारा कहे गए थे, किन्तु सूतपुत्र लोमहर्षण ने नैमिषारण्य में १८ पर्वो का विभाग ही कहा (३३-७१)।

ऊपर की इस सूची से यह स्पष्ट होता है कि १८ पर्वो का यह वर्तमान विभाग मूल महाभारत मे विद्यमान न था। उसमे पर्वो की सख्या कथानुसार थी। छोटे-छोटे पर्वो का वह बटवारा प्रवाह की दृष्टि से अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, किन्तु इस उलझे हुए प्रश्न में रोचक तथ्य यह है कि वर्तमान

१८ पर्वों के नाम भी ज्यो-के-त्यो ऊपर की सूची में सम्मिलित है, जो इस प्रकार हैं —

१ आदि वशावतारण-पर्व (६), २ सभा-पर्व (२०), ३ आरण्यक-पर्व (२९), ४ वैराट-पर्व (४५), ५ उद्योग-पर्व (४९), ६ भीष्माभिषेचन-पर्व (६०), ७ द्रोणाभिषेक-पर्व (६५), ८ कर्ण-पर्व (७३), ९ शल्य-पर्व (७४), १० सौप्तिक-पर्व (७८), ११ स्त्री-पर्व (८१), १२ शान्ति-पर्व, जिसके तीन भाग कहे गए है, राजधर्म (८६), आपद्धर्म (८७), और मोक्षधर्म (८८), १३ आनुशासनिक-पर्व (८९), १४ आश्वमेधिक-पर्व (९१), १५ आश्रमवास-पर्व (९३), १६ मौसलपर्व (९६), १७ महाप्रस्थानिक-पर्व (९७), और १८ स्वर्गारोहण-पर्व (९८)।

ज्ञात होता है कि किसी समय जब महाभारत का नवीन सस्करण तैयार हुआ तब १०० पर्वोवाले विभाग के स्थान में १८ पर्वोवाला विभाग अधिक प्रसिद्ध हो गया। हमारा अनुमान है कि महाभारत की पाठ-परम्परा में गुप्तकाल में ऐसा सम्भव हुआ होगा। गुप्तकाल में कई महत्त्वपूर्ण प्रकरण महाभारत में एव अन्य पुराणो में भी यथास्थान सन्निविष्ट कर दिये गए। बाणभट्ट ने महाभारत की कथा के विषय मे लिखा है कि वह उस समय तीनो लोकों में व्याप्त हो रही थी—

कि कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी ।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम् ॥
(हर्षचरित १।९)

ऊपर लिखी हुई १०० पर्वों की सूची म आदिवशावतारण नामक पर्व छठवा है। इसीसे पहले पर्व का आदिपर्व नाम रखा गया। इससे पूर्व पाच पर्व और है, जिनमें पर्वानुक्रमणी-पर्व और पर्वसग्रह-पर्व तो एक प्रकार से महाभारत की विषय-सूचिया ही है। पौष्य,पौलोम और आस्तीक, ये तीन पर्व स्पष्ट ही आदिपर्व की मूल कुरु-पाण्डव-कथा के पहले जोडे गए है। पौष्य-पर्व में उत्तक का माहात्म्य,पौलोम-पर्व में भृगुवश का विस्तार और आस्तीक-पर्व में गरुड और नागो के जन्म की एव जनमेजय के सर्प-सत्र की कथाए है। सौभाग्य से अनुक्रमणी-पर्व के बाद एक कोने में यह किवदन्ती पडी रह गई है कि

प्राचीन काल में महाभारत का आरम्भ आदि पर्व के तीन स्थलो से माना जाता था—किसी के मत में मन्वादि अर्थात् मनुप्रतिपादित हैमाण्ड सृष्टि वर्णनवाले श्लोको से (१।२७), किसी के मत में आस्तीक पर्व (१३।१) से, और किसी के मत में वसुउपरिचर की कथा (५७।१) से।

मन्वादि भारत केचिदास्तीकादि तथापरे ।
तथोपरिचरादन्ये विप्रा सम्यगधीयते ॥
(आदि० १।५०)।

पहले अनुक्रमणी-पर्व और दूसरे पर्व-सग्रह-पर्व में सब मिलाकर महाभारत की तीन विषय-सूचिया मिलती हैं। इनमें से 'जब मैंने सुना तब विजय की आशा नही रही,' ये श्लोक भाषा, छन्द, आदि की विशेषताओ के कारण सबसे प्राचीन वेदव्यास-कृत मूल स्तर के ज्ञात होते है। वाल्मीकि-रामायण में जो स्थान मूल रामायण नामक पहले सर्ग का है, जिसमें बीज-रूप से रामायण की कथा विद्यमान है वही स्थान महाभारत में इस सक्षिप्त प्रकरण का है। स्वय इस प्रकरण के आदि मे लिखा है—

ततोऽध्यर्धशत भूय सक्षेप कृतवानृषि ।
अनुक्रमणिमध्याय वृत्तान्ताना सपर्वणाम् ॥
(आदि० १।६२)

अर्थात्—व्यासजी ने स्वय ही १५० श्लोको में सब पर्वों के वृत्तान्तो की अनुक्रमणी का अध्याय रचा था। इस अनुक्रमणी मे वस्तुत इतने ही श्लोक है, जो इन दो श्लोको से आरम्भ होते है—

दुर्योधन अभिमान का महावृक्ष है। कर्ण उसका तना है। शकुनि उसकी शाखाए है। दुःशासन उसके फूल-फल है और बेसमझ राजा धृतराष्ट्र उसका मूल है।

इसके विपरीत—

युधिष्ठिर धर्म-रूपी महावृक्ष है। अर्जुन उसका तना है। भीमसेन उसकी शाखाए है। माद्री के पुत्र उसके फूल-फल है। कृष्ण, ब्रह्म और ब्राह्मण उस धर्म-वृक्ष के मूल है।

पर्वसग्रह-पर्व के सौ अध्यायो का परिगणन अवश्य ही गुप्तकाल मे हुआ, क्योंकि उसमें हरिवश और उसके ही अन्तिम भाग 'भविष्य-पर्व' इन दोनो

को महाभारत का खिल भाग मानकर सौ पर्वों की गिनती पूरी की गई है। हरिवंश-पुराण के भविष्य पर्व में सेनानी पुष्यमित्र शुंग का स्पष्ट उल्लेख आया है—

औद्भिज्जो भविता कश्चित्सेनानी· काश्यपो द्विज ।
अश्वमेधं कलियुगे पुन· प्रत्याहरिष्यति ॥
(भविष्य-पर्व २।४०)

अर्थात्—औद्भिज्ज या शुंगवंश मे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण सेनानी उत्पन्न होगा,जो कलियुग में पुन अश्वमेध यज्ञ करेगा। सौ पर्वों की पूरी सूची के बाद लगभग १६० श्लोको मे १८ पर्वोंवाले महाभारत की विस्तृत विषय-सूची भी पाई जाती है, जो सौ पर्वोंवाली विषय-सूची बन जाने के बाद जब महाभारत का बृहत्-रूप स्थिर होने लगा, तब गुप्तकाल में बनाई गई होगी।

: ३ :

जनमेजय का नाग-यज्ञ

अठारह पर्वोंवाले महाभारत के पहले पर्व का नाम आदि-पर्व है। उसमे २१८ अध्याय और ७,९८४ श्लोक है। पहले दो अध्यायो में प्रस्तावना रूप में महाभारत की रचना और उसकी विषय-सूची का तीन प्रकार से वर्णन करने के बाद तीसरे अध्याय से पौष्य-पर्व आरम्भ होता है, जो भाषा और शैली की दृष्टि से महाभारत के सबसे विलक्षण अध्यायो में से है। यह पर्व गद्य-शैली में लिखा हुआ है। बीच-बीच में लगभग १५ वैदिक शैली के छन्द भी है। अवश्य ही यह सूत्रकालीन चरण-साहित्य का एक टुकड़ा है, जो महाभारत की मूल कथा के साथ सबंधित न होते हुए भी किसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ मे ही जुड़ गया। पौष्य-पर्व की कथा इस प्रकार है

पौष्यपर्व की कथा

पारीक्षित जनमेजय भाइयो के साथ कुरुक्षेत्र में दीर्घसत्र यज्ञ करता था।

उसे देवशुनी सरमा ने भावी अनिष्टसूचक शाप दिया। सत्र समाप्त होने पर जनमेजय हस्तिनापुर लौट आया, किन्तु उसे उस अनिष्ट से बचने की चिन्ता बनी रही। एक बार राजा मृगया के लिए वन मे गया हुआ था। वहा उसने सोमश्रवा ऋषि को अपना पुरोहित वरण किया और उसके साथ राजधानी में लौटा। तब राज्य का भार भाइयो को सौंपकर जनमेजय ने तक्षशिला पर चढाई की और उस देश को वश मे किया।

इस चलती हुई कथा के बीच में ही धौम्य ऋषि की कहानी आ जाती है। आयोद धौम्य के आरुणि, उपमन्यु और वेद नामक तीन शिष्य थे। गुरु ने क्रमश तीनो शिष्यो को परीक्षा की कसौटी पर कसा। तीनो ही खरे उतरे। आरुणि को एक खेत की मेड बाधने भेजा। उसने मेंड के स्थान पर स्वय लेट कर बहते हुए पानी को रोका, जिससे गुरु प्रसन्न हुए। यही आरुणि पीछे चलकर पचाल देश के महाविद्वान दार्शनिक उद्दालक आरुणि हुए, जिनका उपनिषदो मे उल्लेख आता है। उपमन्यु को गाय चराने पर नियुक्त किया और उपाध्याय धौम्य ने ऐसी कडाई बरती कि शिष्य को कुछ खाने को न मिले। एसी अवस्था में आक के पत्ते खाकर जीवित रहने से उपमन्यु दोनो नेत्रो से अन्धा हो गया और वह कुए में गिर गया। वही उसने वैदिक ऋचाओ से देवो के वैद्य अश्विनीकुमारो की स्तुति की, जिससे उन्होने प्रसन्न होकर उसे फिर चक्षुष्मान किया। तीसरा शिष्य वेद दीर्घ कालतक गुरुकुल मे गुरु की शुश्रूषा करता रहा और रात-दिन बैल की तरह सरदी, गरमी, भूख और प्यास का दुःख सहकर सदा गुरु को प्रसन्न करता रहा और अन्त मे उनकी आज्ञा से गृहाश्रम में लौटा। इसी वेद नामक ब्राह्मण को जनमेजय और पौष्य ने अपना पुरोहित बनाया। उसका शिष्य उत्तक था, जिसने गुरु की अनुपस्थिति मे ऋतुमती गुरुपत्नी की प्रार्थना को अस्वीकार करके अपनी गुरु-भक्ति का परिचय दिया। उससे आचार्य वेद प्रीतिमान हुए। गुरु-दक्षिणा के लिए आग्रह करने पर गुरु और गुरुपत्नी ने उत्तक को आज्ञा दी कि वह पौष्य नामक राजा की रानी के सुन्दर कुण्डल लाकर गुरुपत्नी को अर्पित करे। उत्तक ने अपनी सचाई और तप से वे कुण्डल प्राप्त किये, किन्तु नागराज तक्षक ने बीच में विघ्न डाला और वह कुण्डल लेकर पाताल में अदृश्य हो गया। उत्तक ने हिम्मत न हारी और किसी प्रकार नागलोक में जाकर कुण्डल लाकर गुरु-

पत्नी को दिये।

तक्षक ने उत्तक को जो दुख दिया था, वह बात उसे न भूली। तवतक जनमेजय तक्षशिला जीतकर लौट आये थे। उत्तक ने हस्तिनापुर जाकर राजा को नागो से वदला लेने के लिए भडकाया। तीर ठीक निशान पर लगा, क्योकि जनमेजय के पिता परीक्षित को तक्षक नाग के डसने से अपने प्राणो से हाथ धोना पडा था, और प्रतिशोध की अग्नि जनमेजय के मन में जल रही थी। उत्तक ने जनमेजय को सर्प-सत्र के लिए तैयार कर दिया।

पौष्य पर्व प्राचीन साहित्य में स्वच्छन्द तैरते हुए प्रकरण की भाति था, पर इस जगह आकर महाभारत में चिपक गया है। इसके वाद चौथे अध्याय में पौराणिक उग्रश्रवा सूत के नैमिपारण्य मे पहुचने का पुन गद्य मे उल्लेख है। सूतजी से ऋपियो ने कहा—"कुलपति शौनक अग्निशाला मे है।" जव शौनक यज्ञायतन से निकले, तव सव ऋत्विजो और सदस्यो के वैठ जाने पर उन्होने सूतजी से कहा—"इस महाभारत पुराण में सवमे पहले आदि-वश की कथा सुनी जाती है, किन्तु मेरी इच्छा पहले भार्गव-वश की कथा सुनने की है।" उत्तर में सूतजी भार्गव-वश की कथा सुनाने लगे। इसमें विशेप रूप से भृगु की पत्नी पुलोमा के गर्भ मे च्यवन के जन्म की कथा है। इन्ही च्यवन के आश्रम के समीप वधूसरा नाम की नदी वहती थी। इसी नदी के किनारे रहने के कारण भार्गव लोक मे 'ढूसर' नाम से विख्यात है। भार्गव च्यवन की सुकन्या नामक पत्नी से प्रमति, प्रमति से रुरु और रुरु से शुनक का जन्म हुआ। रुरु की पत्नी प्रमद्वरा की मृत्यु भी साप के काटने से हुई थी। वहुत विलाप करने के वाद रुरु ने अपनी आयु का आधा भाग देकर प्रमद्वरा को पुनरुज्जीवित किया। इस प्रकार रुरु के मन मे भी नागो के प्रति वैर की भावना उत्पन्न हो गई।

इसके वाद १३वे अध्याय से ५३वें अध्याय तक आस्तीक-पर्व की कथा कही गई है। इसीमें जनमेजय के नागयज्ञ की विस्तृत कहानी है। इसीमें कद्रू और विनता की स्पर्द्धा एव नाग और गरुड के जन्म की कथा है। समुद्र-मन्थन द्वारा चौदह रत्नो के उत्पन्न होने का आख्यान भी यही है। सागर-मन्थन से चन्द्रमा, श्रीदेवी, सुरा, उच्चै श्रवा, कौस्तुभमणि और धन्वन्तरि उत्पन्न हुए। धन्वन्तरि के हाथ में अमृत का श्वेत कमडलु था। उसे देखकर दानव अमृत पाने के लिए वडा कोलाहल मचाने लगे। तव विष्णु ने मोहिनी रूप

धारणकर असुरो को छल लिया और अमृत देवो को बाट दिया।

गरुडोपाख्यान

गरुड का उपाख्यान प्राचीन वैदिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अग था। वही से वह समृद्ध रूप में महाभारत के आरम्भ में सन्निविष्ट हो गया। आर्य-गाथाशास्त्र में देशान्तरो तक गरुड-उपाख्यान के सूत्र फैले हुए पाये जाते हैं। महाप्रतापी गरुड अग्नि की तरह जलते हुए अपने सुनहले पखो से वायु को धुनते हुए स्वर्ग में जाकर अमृत प्राप्त करते हैं। वैदिक परिभाषा मे सूर्य की सज्ञा गरुत्मा सुपर्ण थी और पुराणो के अनुसार गरुड भी सुपर्ण हैं।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में—एक सुपर्ण. स समुद्रमाविवेश—इस मत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—यह पुरुष समुद्र है, उसमें बसनेवाला प्राण सुपर्ण है (पुरुषो वै समुद्र प्राणो वै सुपर्ण)। गरुड पक्षिराज या खगेन्द्र है और सूर्य की भी सज्ञा खगेन्द्र है। 'ख' अर्थात् आकाश में चलनेवाले जो ग्रह-उपग्रह हैं, उनमे प्रधान या इन्द्र सूर्य है। ज्योतिष मे ग्रहो को खेट या खग कहते है। सूर्य के भी उत्तरायण और दक्षिणायण ये दो पक्ष है, अथवा सवत्सर-रूपी काल के जो सूर्य का रूप है, दो षण्मास दो पक्ष के समान हैं।

इस प्रकार भारतीय गाथा शास्त्र की यह प्राचीन मान्यता थी कि वैदिक अभिप्रायो को उपाख्यानो द्वारा उपबृहित किया जाय। महाभारत में ही कहा गया है

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्।

इतिहास और पुराण का उद्देश्य वैदिक अभिप्रायो की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत करना था। ऐसा करने के लिए पुराणकारो ने उपाख्यानो का ही आश्रय लिया। अनेक उपाख्यानो के मूल में वैदिक अर्थ बीज-रूप मे छिपे हुए हैं। पुराणकारो की सर्वसम्मत शैली के अनुसार इन आख्यानो के क्रमश प्रवर्द्धमान रूप भी हमें प्राप्त होते है। गरुड और लोमश देश और काल के प्रतीक हैं। इस प्रकरण में देवता और ऋषियो द्वारा आकाश-मार्ग को चीरकर उडते और गरजते हुए महाकाय गरुड की स्तुति एव कद्रू द्वारा हरि-वाहन इन्द्र की

स्तुति प्राचीन काव्यों की शक्ति से ओत-प्रोत है। इन्द्र का युग तो वैदिक काल की समाप्ति के साथ ही बीत चुका था—

आशु शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥ (ऋ० १०।१०३।१)

इस प्रकार की प्रदीप्त स्तुतियों के पात्र महान् इन्द्र पुराणों में अन्य प्रकार के देवता बन जाते हैं। फिर उनकी स्तुति के प्रसंग नहीं आते। अतएव महाभारत के इस इन्द्र-स्तोत्र में प्राचीन वैदिक शब्दों और अभिप्रायों की गूंज भली मालूम होती है—

'हे नमुचि और बल का संहार करनेवाले देव, हे सहस्राक्ष शचीपति, तुम्हें प्रणाम है। हे पुरन्दर, तुम प्रभूत जलों की सृष्टि करते हो। तुम्हीं मेघ, वायु और अम्बर में विद्युत अग्नि हो। तुम मेघों को उड़ाकर तितर-बितर करनेवाले प्रभंजन और तुम्हीं घन-स्वरूप हो। तुम घोर वज्र और तुम्हीं घोषवान् बलाहक हो। तुम लोकों के स्रष्टा और अप्रतिहत संहर्ता हो। तुम सब भूतों में ज्योति हो। तुम्हीं आदित्य और अग्नि हो। तुम भुवन के मध्य में भरे हुए अद्भुत आश्चर्यकारी महत् यक्ष हो। तुम देवताओं में उत्तम, तुम्हीं विष्णु और तुम्हीं नारायण हो। तुम्हीं अमृत और तुम्हीं सोम हो। मुहूर्त, तिथि, लव, क्षण इत्यादि काल के रूप तुम्हीं हो। शुक्ल और कृष्ण पक्ष, कला, काष्ठा, संवत्सर, ऋतु और मास, रजनी और दिन तुम्हारे ही रूप हैं। शैलकाननवती वसुन्धरा एवं भास्कर के प्रकाश से आलोकित अम्बर तुम्हीं हो। तिमि और तिमिंगिलों से एवं अनेक मकर और झषों से भरे हुए, महोर्मियों से युक्त महोदधि तुम्हीं हो। तुम्हारा ही नाम महत् यश है। अतएव मनीषी मुदितमना महर्षि सदा तुम्हारा पूजन करते हैं। अध्वरों में तुम सोम पान करते हो। वषट्कार का उच्चारण करके अर्पित की हुई हवियां तुम्हें ही प्राप्त होती हैं। विप्र लोग तुम्हारे लिए यजन करते हैं और वेदांग या यज्ञांगों में तुम्हारा ही गान होता है। यज्ञपरायण ऋत्विक् तुम्हारे ही निमित्त सब वेदों में यज्ञांगों का संकलन करते हैं।' (आदि० २१।७-१७)

इस प्रकार कद्रू के स्तोत्र से प्रसन्न हुए हरिवाहन इन्द्र ने नील मेघों के समूह से व्योम को भर दिया और समन्त पृथिवी चारों ओर सलिल से भर

गई। इसी गरुडोपाख्यान में एक अभिप्राय यह भी आया है कि तपोधन वालखिल्य मुनियो को गोष्पद-मात्र जल मे डूबते-उतराते देखकर इन्द्र ने उनका उपहास किया। उससे उत्तप्त होकर उन मुनियो ने इन्द्र को नीचा दिखाने के लिए कश्यप और विनता से गरुड और उसके भाई अरुण को उत्पन्न किया। पीछे कश्यप के कहने से यह समझौता हुआ कि गरुड पक्षियो के इन्द्र होगे और स्वर्ग के राजा इन्द्र उन्हे भाई मानेंगे। इन्द्र को समझाया गया कि उन्हें इस प्रकार ब्रह्मवादी ऋपियो की अवमानना न करनी चाहिए। स्वर्ग में अमृत के रक्षको को परास्त कर गरुड अमृत का घट ले आये, और आकाश में विष्णु से उनकी भेंट हुई। अमृत ले आने पर भी गरुड ने स्वय उसे जूठा नही किया, इससे विष्णु प्रसन्न हुए और उन्होने गरुड से वर मागने को कहा। गरुड ने दो वर मागे—एक यह कि मै अन्तरिक्ष में आप से ऊपर रहू और दूसरा यह कि अमृत के विना भी मैं अजर-अमर वनू। विष्णु से ये दो वर प्राप्तकर गरुड ने कहा—"मै भी आपको वर देना चाहता हू। आपको जो रुचे वह माग ले।" तव विष्णु ने यह वर मागा कि महावली गरुड उनके वाहन हो, और गरुड के मागे हुए वर को निभाने के लिए उन्होने गरुड को अपने ध्वज पर स्थान दिया, जिससे विष्णु का ध्वज गरुड-ध्वज नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नारायण और गरुड मे यह वातचीत हो ही रही थी कि अमृत के चले जाने से खीझे हुए इन्द्र ने लपककर अपना वज्र गरुड पर चला दिया। गरुड ने हँसते हुए कहा—"हे इन्द्र, जिन दधीचि की हड्डियो से यह अस्त्र वना है, उन ऋपि का, वज्र का और हे शतक्रतु, तुम्हारा भी मै मान करता हू, किन्तु देखो, यह एक अपना पखना तुम्हारे सामने डालता हू, इसका तुम अन्त पा जाओ तो जानू। तुम्हारे इस वज्र की चोट से मुझे क्या पीडा होने वाली है।"

गरुड के उस सुन्दर और अद्भुत पख को देखकर इन्द्र ने समझ लिया कि यह केवल पक्षी नही, यह तो महान् यक्ष है। चट् वात वदलकर इन्द्र ने कहा—"मै तो केवल तुम्हारे वल की परीक्षा करता था। हे पक्षिराज! आओ, तुम्हारी-हमारी मित्रता हो।"

तव गरुड ने उत्तर दिया—"अपने गुणो का सकीर्तन किसीके लिए श्लाघनीय नही, किन्तु तुम सख्यभाव से पूछते हो तो तुम्हे सखा मानकर

कहता हू। पर्वत, वन और समुद्रो से भरी हुई पृथिवी को, और जितने भी स्थाणु और जगम सपिण्डित लोक हैं, उन सबको अपने पख की एक सीक से लेकर उड सकता हू, और तुम भी चाहो तो उसके सहारे लटक सकते हो, ऐसा मेरा बल है।"

इतना सुनना था कि किरीटी देवन्द्र को तीन त्रिलोक ही दिखाई देने लगे और उसने तुरन्त गरुड से मैत्री जोडकर याचना की—"आपको सोम से क्या प्रयोजन ? कृपा करके मेरा सोम मुझे लौटा दें। आप जिन्हे इसे दे देंगे वे फिर मुझे बाधा पहुचायगे।"

गरुड ने कहा—"मैं अपनी माता को दास्य से छुडाने के लिए इस सोम को भूमडल पर ले जा रहा हू, किन्तु मैं तुम्हारी बात भी पूरी करूगा। मैं जहा इस सोम को रख दू, वहासे तुम उसे ले जा सकते हो।"

ऐसा ही हुआ। गरुड ने जहा सोम रखा, वहाकी घास अमृत के स्पर्श से पवित्र कुशा 'डाभ' बन गई। इन्द्र अपना सोम वापस ले गए और सोम के लोलुप नागो ने उस स्थान को चाटा तो उनके हाथ कुछ न लगा, केवल उनकी जिह्वाए बीच से चिरकर दो हो गई और वे भुजग सदा के लिए प्रतापी गरुड के भक्ष्य बन कर रह गए।

सोम और अमृत, ये दोनो वैदिक आध्यात्मिक अभिप्राय थे। 'अमृत ही सोम है', 'प्राण सोम है', 'रेत सोम है', 'अन्न सोम है', 'ओषधियो में रस सोम है', 'जल सोम है' इस प्रकार की अनेक परिभाषाए ब्राह्मणो में मिलती है, जिनका मूल वेद में था। ससार में जो कुछ भी सशुद्ध, सयत, और निर्मल या शुक्रिय शक्ति है, वह सोम है। मनुष्य शरीर में और ब्रह्माड में सर्वत्र सोम का यह अभिषेक हो रहा है और यही अमृत-तत्त्व जीवन के मूल में प्राण बनकर उसका सवर्द्धन और पोषण कर रहा है। इस अमृत में प्रकाश की शक्तियो का भाग है, जिनके प्रतिनिधि गरुड है। तामसी या आसुरी वृत्तिया इस सोम को नही पाती, यद्यपि सदा इनके लिए लालायित रहती है। सत्य, सोम, अमृत ये एक ओर है। इनके विपरीत, अनृत, सुरा और मृत्यु, दूसरी ओर है। दोनो में शाश्वत सघर्ष है। भारतवर्ष की प्रतीक-भाषा में गरुड प्रकाश या स्वर्ग की शक्तियो की सज्ञा है, और सर्प पृथिवी के भीतर छिपकर रेंगनेवाले प्राणो की सज्ञा है। इन दोनो का 'देवासुर सग्राम' सदा होता रहता है। जहा प्राण या

जीवन है, वही यह संघर्ष भी है। अमृत का घट स्वर्गलोक में है। अमृत के इस घट को अथर्ववेद में हिरण्यमय कोष कहा है, जो इस शरीररूपी अयोध्यापुरी में निहित है —

अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
अस्या हिरण्ययो कोश स्वर्गो ज्योतिषावृत ॥
(अथर्व १०।२।३१)

शरीररूपी अयोध्यापुरी में मस्तिष्करूपी स्वर्ग है, उसीमें हिरण्य का कोश या सोम और अमृत का घट है। ब्राह्मण-ग्रथो मे सोम को हिरण्य का पर्याय माना है। शुक्र और रेत भी सुवर्ण के पर्याय है। वैदिक अध्यात्म सकेतो के व्याख्यान ही पुराणो की कथाए है।

इस सौपर्णाख्यान के अन्त में फलश्रुति का निम्नलिखित श्लोक मिलता है —

इमा कथां य शृणुयान्नरः सदा
पठेद् वा द्विजजनमुख्यसंसदि।
असशय त्रिदिवमियात्स पुण्यभाक्
महात्मन पतगपते प्रकीर्तनात् ॥
(आदि० ३०।२२)

'जो व्यक्ति इस कथा को सुनेगा या जनससद में इसका पाठ करके दूसरों को सुनावेगा, वह पुण्यात्मा गरुड के चरित का कीर्तन करने से निश्चय स्वर्गलोक प्राप्त करेगा।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणो की प्राचीन शैली के अनुसार यदि बीच में किसी कथा में फलश्रुति पाई जाय तो अवश्य ही वह प्रकरण या उतना अश मूल ग्रथ में बाद में जोडा हुआ समझना चाहिए। ऐतिहासिक और पौराणिक आचार्य अपने शास्त्रो का उपबृहण करने के लिए समय-समय पर मूल ग्रथो में अनेक उपाख्यान एव धार्मिक और नैतिक विषय जोडते रहते थे। इस समय हम उसे प्रक्षेप कहकर अच्छा नही समझते, किन्तु प्राचीन ग्रथो के प्रतिसंस्कृत रूप की वह मान्य पद्धति थी। इस प्रकार बढाये जानेवाले प्रसगों को मूलग्रथ में जोडते हुए भी उनमें कोई ऐसी पहचान प्राय रख दी

जाती थी, जिससे वे अलग जाने जा सकें। फलश्रुति इस प्रकार की एक प्रधान युक्ति थी। इस गरुडोपाख्यान से यह भी स्पष्ट होता है कि मूल वैदिक देव इन्द्र के स्थान मे नारायण-विष्णु की उपासना महाभारत-काल में प्रचलित होने लगी थी। विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई उपेन्द्र और उनके वाहन गरुड को भी इन्द्र का भाई मानकर एक प्रकार से इन्द्र, विष्णु और गरुड इन तीनो में समन्वय स्थापित किया गया।

जनमेजय का सर्प-सत्र

आस्तीक-पर्व के शेषाश (आदि० ३१–५३) में सर्प या नाग-सबधी बहुत-सी सामग्री देते हुए परीक्षित का उपाख्यान और जनमेजय का सर्प-सत्र वर्णित किया गया है। परीक्षित को शाप लगा और तक्षक के डसने से उनकी मृत्यु हुई। फिर जनमेजय राज्यासन पर बैठे और उन्होंने सर्प-सत्र की आयोजना की। अध्याय ३१ मे और पुन अध्याय ५२ में अनेक नागो के नाम आये हैं। वासुकि, तक्षक, ऐरावत और धृतराष्ट्र इन प्रधान नागो के कुलो में उत्पन्न अनेक नामो की वर्गीकृत नामावली महाभारत मे पाई जाती है।

प्राचीन भारत में नाग-पूजा का बहुत अधिक प्रचार था। अनेक स्थानो में नागो के थान बने हुए थे। विशेषत जलाशयो के निकट नागो की स्थापना की जाती थी। कुषाण-कालतक भी नाग-पूजा का अत्यधिक प्रचार पाया जाता है। उसके पुरातत्त्वगत प्रमाण मथुरा की शिल्पकला में तथा अन्यत्र भी पाये गए हैं। भरहुत के स्तूप से प्राप्त शिलापट्ट पर एक दृश्य अकित है, जिसमें एलापत नागराज भगवान बुद्ध के बोधिमण्ड के सामने सिर झुका कर वन्दना कर रहा है। महाभारत की सूची में भी ऐरावत नागराज का उल्लेख है। राजगृह में मणिनाग का बडा पूजा स्थान था, जिसका उल्लेख वन-पर्व के तीर्थयात्रा-पर्व में आया है। पुरातत्त्व की खुदाई मे भी राजगृह के मणियार मठ नामक स्थान में शिलालेख और मूर्त्तिया प्राप्त हुई हैं, जिनमे मणिनाग की पूजा वहा सिद्ध होती है। उन मणिनाग का उल्लेख भी इस सूची (३१।६) में आया है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य के 'चतुर् महाराज' नामक चार लोक-पालो मे स्थान पानेवाले धृतराष्ट्र नामक देवता की भी गणना इस सूची में है।

नागो के अनेक स्थानो और मन्दिरो का उल्लेख प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी आता है। परीक्षित जनमेजय की कथा में नागों से सबधित कुछ प्राचीन विश्वास और कुछ ऐतिहासिक तथ्यो का सम्मिलन हुआ है। बहुत सभव है कि नाग नामक जाति के साथ, जिनकी एक राजधानी तक्षशिला में थी, जनमेजय का सघर्ष हुआ, क्योकि इसी आदिपर्व के आस्तीक-उपाख्यान में स्पष्ट लिखा है कि जनमेजय ने तक्षशिला पर चढाई करके वहा नागो को परास्त किया और विजयी होकर हस्तिनापुर लौटे। तदनन्तर उत्तक द्वारा उत्तेजन पाकर उन्होने नागो से वैर शोधने का निश्चय किया, जिसका मुख्य कारण तक्षक द्वारा उनके पिता परीक्षित की मृत्यु थी। भारतीय गाथा-शास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, लोकवार्त्ता और आध्यात्मिक प्रतीक शास्त्र, इन सबमें प्राचीन भारतीय नाग-पूजा और सर्पों से सबधित सामग्री पाई जाती है, जिसके एकत्र अध्ययन की और उसके द्वारा अनेक मिले-जुले तारो को सुलझाने की आवश्यकता है।

इस प्रकरण की कथा में कहा गया है कि व्रतधारी यायावर ऋषियो के कुल में जरत्कारु नामक ऋषि हुआ, जिसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की। पृथिवी पर विचरते हुए एक स्थान पर उसने अपने पितरो को किसी वृक्ष की शाखा से लटकते हुए देखा। उस शाखा को एक मूषक काट रहा था। जरत्कारु ने पास जाकर पूछा—"यह क्या है ?" तब उन मुनियो ने कहा—"हम तुम्हारे पूर्वज यायावर ऋषि है, तुम्हारे गहस्थ-धर्म न करने से इस दशा को प्राप्त हुए है। यह कालरूपी मूषक हमारे कुल-तन्तुओ को काट रहा है। उसका मूल भी इसने आधा खा लिया है। अतएव हे जरत्कारु, तुम तप की बुद्धि छोडो, नही तो नरक में पडोगे। यहा हम और तुम्हारे पूर्व पितामह पडे है। तप या यज्ञ अथवा और भी जो पावन वस्तुए है, वे सब मिलकर भी अकेली सतति के तुल्य नहीं हैं, ऐसा सज्जनो का मत है। अतएव तुम विवाह करके पुत्रोत्पादन करो।"

यह सुनकर जरत्कारु बडा दुःखी हुआ और उसने कहा—"अच्छा, मैं अपना पहला विचार छोडकर विवाह कर लूगा, यदि मुझे मेरे ही नामवाली कोई कन्या मिलेगी।"

वासुकि नाग की जरत्कारु नामक कन्या से मुनि जरत्कारु का विवाह

हुआ और उससे आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी आस्तीक ने मातृ-कुल के पक्षपात से जनमेजय के नागयज्ञ में जाकर उसके सर्प-सत्र को समाप्त कराया। इस आस्तीक-उपाख्यान के अन्त में भी फलश्रुति पाई जाती है जिससे इसका भी महाभारत के सकलन मे जोडा जाना स्पष्ट ज्ञात होता है।

स्वय शौनक आस्तीक-चरित्र सुनने के बाद कहते हैं—"हे सूतजी, यहा तक तो तुमने मेरी प्रार्थना पर भृगुवश के आख्यान से आरम्भ करके इतनी कथा कही। अब जो व्यासजी की कही हुई कथा है, उसे सुनाओ।" इसके उत्तर में सूतजी ने कहा—"व्यासजी ने जो महत् भारत-आख्यान कहा था, जो उन पुण्यात्मा महर्षि के मन-रूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुआ था, उसे मैं तुमसे कहता हू।"

आस्तीक के चरित में यायावर मुनियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। ज्ञात होता है कि पूर्व काल में यायावर नामक ऋषि कठोर व्रतों का आचरण करते हुए गृहस्थाश्रम और सन्तानोत्पत्ति से पराङ्मुख होकर विचरते थे—

यायावरा नाम वयं मुनय शसितव्रता ।
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टा सतानप्रक्षयाद् विभो ॥
(आदि० ४१।१६)

इन्हींके कुल में जरत्कारु हुए, जिन्होंने कुल की महिमा को पुन प्रतिष्ठापित किया और विवाह द्वारा कुलतन्तु-सवर्द्धन-रूपी धर्म की ओर यायावर-सप्रदाय की प्रवृत्ति कराई। बौधायन धर्मसूत्र (२४-३१) में यायावर ऋषियों का उल्लेख है कि वे रास्ते में ही चलते-चलते ठहर जाते थे और वही पर अग्नि-होत्र आदि क्रियाए पूरी करते थे।

इस वर्णन से ऐसा लगता है कि यायावर मुनि अपने छकडो पर ही अपना सामान लादकर सदा फिरन्दरों की भाति एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाऊ-चूल्हा जीवन व्यतीत करते थे। ये ही पीछे वैखानस-धर्म के अनुयायी हुए। वैखानस शब्द में ही यह सकेत है कि इनके छकडों में पहिया और धुरा एक में ठोस मिला रहता था और धुरे पर पहिया घूमने की बजाय पहिया धुरे को साथ लेकर घूमता था। इसी कारण इनके पहियों में 'ख' या 'छिद्र' नहीं होता था, जैसा दूसरे पहियों मे पाया जाता है, अर्थात् इनके पहियों में अरे ठुके हुए नही होते थे, अपितु पहिये ठोस लकडी के बनाये जाते थे।

फिर यायावर लोग 'शालीन' कहलाने लगे, क्योकि उन्होने 'शाला' या घर बनाकर रहना आरम्भ कर दिया (वौधायन धर्मसूत्र ३।१।३-४)।

महाभारत के इसी प्रकरण से ज्ञात होता है कि यायावर ऋषियो का विशेष आग्रह कुल की सस्कृति, कुल की अभिवृद्धि और कुल की स्थापना पर था (आदि० ४१।२१-२२)। शौनक भी कुलपति थे, जिन्होने नैमिपारण्य के जगल में अपने कुलो की एक वस्ती बना रखी थी। बहुत सभव है कि इसी कारण यायावर ऋषियो के कुलवर्द्धक आस्तीक का चरित कुलपति शौनक ने विशेष रूप से सुनने की इच्छा प्रकट की।

इसके उपरान्त कथाकार की कल्पना के अनुसार व्यास जी स्वय जनमेजय के सर्प-सत्र में पधारते है, और जनमेजय उनसे अपने प्रपितामह कुरु और पाडवो के चरित सुनाने की प्रार्थना करते हैं, क्योकि व्यासजी उन घटनाओ के स्वय द्रप्टा थे, किन्तु एक ही श्लोक कह कर पास बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायन को कथा सुनाने की आज्ञा देकर व्यासजी वहासे चले गए— "कौरवो और पाडवो का पूर्व काल मे जैसा युद्ध हुआ और तुमने जैसा मुझसे सुना है, सब सुनाओ।" अपने गुरु की यह आज्ञा शिरोधार्य कर वैशम्पायन ने सब पुरातन इतिहास राजा जनमेजय, उनकी सभा के सदस्यो और सब क्षत्रियो से कहना आरम्भ किया।

: ४ :

शकुन्तलोपाख्यान

महाभारत के वर्तमान रूप में जो अठारह पर्व है, उनमें १९४८ अध्याय है। उनके लगभग आधे अर्थात् एक सहस्र अध्यायो में कुरु-पाडवो के पारस्परिक भेद और युद्ध की कथा है। राज्य के लिए उन महावीर क्षत्रियो का एक-दूसरे के हाथो जो शोचनीय विनाश हुआ, उसके रूखे निष्करुण साहित्यिक बोझे को इस देश की अध्यात्म भावना किस प्रकार सह पाती, यदि मनीषी वेदव्यास ने नीति और धर्म के अनेक प्रसग, दर्शन और अध्यात्म के

तेजस्वी प्रकरण, देवता और ऋषियों के चरित्र, पुराण राजर्षियों के वंशानुचरित, लौकिक वैदिक उपाख्यान, भुवनकोश, तीर्थ-यात्रा, इतिहास और पुराणों की अनेकविध लोकव्यापी सामग्री से उसे इस प्रकार सँवारकर धर्म-संहिता का रूप प्रदान न कर दिया होता। महाभारत के लगभग एक सहस्र अध्याय इस प्रकार की सामग्री से समृद्ध है। किसी कुशल वास्तुविद्याचार्य की भांति मेधावी द्वैपायन मुनि ने इस सामग्री को आदि से अन्ततक ग्रंथ के समग्र रूप में सजो दिया है। चलते हुए कथा-प्रवाह के बीच में महान् उपाख्यान पर्वत-शृंगों के समान सिर ऊंचा किये खडे है। इसी प्रकार यत्र-तत्र धर्म और अध्यात्म के पवित्र सरोवर इस महती संहिता में भरे हुए मिलते है, जिनके तीर्थों मे अवगाहन करके मन नवीन प्रज्ञा से विकसित और प्रफुल्लित हो जाता है। महाभारत के अष्टादश पर्वों की कथा का सिंहावलोकन करते हुए इस प्रकार के पुण्य स्थलो का विशेष रस लेते हुए आगे बढना होगा।

महाभारत के आदि-पर्वसंज्ञक प्रथम पर्व में अनुक्रमणी और पर्व-संग्रह-पर्व के अनन्तर पौष्य-उपाख्यान, उसीके अन्तर्गत उत्तंक-उपाख्यान, पौलोम-पर्व, रुरु और प्रमद्वरा का उपाख्यान, आस्तीक-जन्म-कथा, अमृत-मथन, सौपर्ण-उपाख्यान, जनमेजय का सर्प-सत्र और तक्षक-मोक्ष, इतनी कथाएं भूमिकारूप मे कही गई है। इनके अनन्तर कुरु-पाडव-चरित्र का आरम्भ होता है। उसमें पहला आदिवंशावतरण-पर्व (अ० ५७-६१) है। इसके आरम्भ में चेदि देश के राजा वसु उपरिचर की कहानी है। राजा वसु वैरागी वनकर आश्रम मे तप करने लगे और क्षत्रियोचित अस्त्रों को उन्होंने त्याग दिया। तव इन्द्र ने साक्षात् उपस्थित होकर उन्हे समझाया—

'हे पृथिवीपति, पृथिवी के योग्य यह धर्म नहीं है। तुम उस धर्म की रक्षा करो, जिसके धारण करने से इस जगत को धारण किया जा सकता है। वही लोक का कल्याण करनेवाला लोक्य-धर्म है। उसमें सावधान होकर अपना मन लगाओ। पृथिवी पर उस धर्म से युक्त होगे तो द्युलोक से मैं पृथिवी पर स्थित तुम्हें अपना प्रिय सखा मानूंगा। तुम नर्मदा से सिंचित इस चेदि जनपद में निवास करो, जो पृथिवी का दूध से भरा हुआ स्तन है और जो पशु, धन-धान्य, और रत्नो से पूर्ण है। वहाके मनुष्य धर्मशील और साधु है। वहा हंसी में भी कोई झूठ नहीं बोलता। चेदि जनपद में वसुधा वसु से पूर्ण है, सब वर्ण स्वधर्म

में स्थित हैं और भूमि के जितने योग्य गुण हैं, वे सब वहा विद्यमान हैं। मैं तुम्हे स्फटिक का बना हुआ आकाशचारी एक विमान देता हू, जिसके कारण तुम शरीरधारी देवता की भाति सर्वत्र विचरोगे। दूसरे, मैं तुम्हे वैजयन्ती माला देता हू, जिसके कमल कभी मुरझाते नही। इस इन्द्रमाला को धारण करने पर कोई भी सग्राम में तुम्हे शस्त्रो से न जीत सकेगा।'

इन्द्रध्वज-महोत्सव

इस प्रकार प्रसन्न होकर इन्द्र ने उपरिचर राजा को एक तीसरी वस्तु और दी, जिसे वैणवी यष्टि या इन्द्रध्वज कहा गया है। राजा वसु ने उस इन्द्र-यष्टि को एक वर्ष बीतने पर विधि-विधान से पृथिवी पर सीधा खडा कर दिया और तब से आजतक प्रत्येक जनपद में प्रति वर्ष उस इन्द्रयष्टि का पूजन किया जाता है। पहले दिन सध्या को जगल में जाकर एक महावृक्ष चुन लेते हैं और उसमें से काटकर बत्तीस हाथ या अडतालीस फुट लम्बी यष्टि तैयार करते हैं। अगले दिन वह ऊची लाट अनेक भाति से अलकृत और गधमालाओ से विभूषित करके पृथिवी पर सीधी खडी की जाती है और समस्त जनपद महोत्सव मनाता है, जिसे कुरु जनपद (मेरठ जिले) में आजतक 'इदर का जग्य' कहा जाता है। यह इन्द्र-यष्टि क्या है ?

भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शकर ।
(आदि० ५७।११)

यह इद्र-यष्टि भगवान शकर के हास्य का रूप है। समस्त जनपद के जीवन का जो मग्नानन्दी पक्ष है, उसका प्रतीक यह इन्द्र-यष्टि थी। आबाल-वृद्ध-वनिता सब हँसमुख जीवन व्यतीत करते हुए नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद और उत्सव की प्रवृत्ति मे फूलते-फलते जनपदीय जीवन का जो रूप प्रस्तुत करते हैं, उनका सर्वोत्तम चिह्न इन्द्र-ध्वज या इन्द्र-यष्टि पूजन था। इस उत्सव को 'इन्द्रमह' भी कहते थे। यह आर्य जाति का अत्यत प्राचीन महोत्सव था। प्राचीन लोकवार्ता-शास्त्र के विद्वान यूरोप मे 'मेपोल' नामक उत्सव को इसी इन्द्रयष्टि पूजन का प्रतिरूप मानते हैं। उसमें और भारतीय इन्द्रमह में विशेष साम्य है। वृक्ष-मह, यक्ष-मह, नदी-मह, गिरि-मह,इन्द्र-मह, धनुष-मह,

ये भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्सव प्राचीन काल में प्रचलित थे। मथुरा में कृष्ण के गोवर्द्धन-धारण की जो कथा है, उसके मूल में यही बात है कि इन्द्रमह-उत्सव का निराकरण करके गिरिमह नामक उत्सव का कृष्ण ने व्रज में विधान किया।

महात्मा वसु की प्रेमपूर्वक की हुई पूजा से इन्द्र प्रसन्न हुए और बोले—

"जो मनुष्य और राजा मुदित होकर इस इन्द्र-यष्टि का पूजन करेंगे और इन्द्रमह उत्सव मनावेंगे, उनके राष्ट्र में श्रीलक्ष्मी और विजयलक्ष्मी का निवास होगा और समस्त जनपद सब भांति प्रसन्न रहेगा।"

वेदव्यास का जन्म

राजा वसु के पांच महाबलशाली पुत्र हुए, जिन्होंने पांच देश और नगर बसाये। वसु के राज्य में कोलाहल नामक पर्वत से निकलकर शुक्तिमती (वर्तमान केन) नदी बहती थी। राजा वसु से ही सत्यवती नाम की एक कन्या यमुना-प्रदेश में उत्पन्न हुई, जिसका नाम मत्स्य-गन्धा भी था। राजा ने प्रति-पालन के लिए उस कन्या को यमुना-तीरवासी धीवर राज को सौंप दिया। जब वह रूप-यौवन संपन्न हुई तब नाव चलाते समय उसके घाट पर तीर्थयात्रा के लिए निकले हुए पराशर ऋषि आ पहुंचे और उसपर मोहित हो गए। ऋषि के संसर्ग से सत्यवती ने गर्भ धारण किया और यमुना के बीच में स्थित द्वीप में पराशर के पुत्र द्वैपायन व्यास को जन्म दिया। काला वर्ण होने के कारण उनका जन्मनाम कृष्ण था। इस प्रकार महाभारत के काल में दो कृष्ण थे। एक देवकीपुत्र वार्ष्णेय वासुदेव कृष्ण और दूसरे सत्यवतीपुत्र द्वैपायन पाराशर्य कृष्ण, जिन्होंने आगे चलकर वेद की संहिताओं का विभाग किया और जो वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं कृष्ण से निर्मित होने के कारण महाभारत को 'कार्ष्ण वेद' भी कहा गया है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वेदव्यास ने सचमुच अद्भुत कार्य किया। वेद और लोक की जितनी कविता उस समयतक विरचित हुई थी, उस सबके संग्रह का श्रेय व्यास को है। उन्होंने अपने उस संग्रह या संहिता को पांच शिष्यों को पढ़ाया। पैल को ऋग्वेद, जैमिनि को सामवेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, सुमन्तु को अथर्ववेद, और इन चारों से अतिरिक्त जो पांचवां वेद महाभारत था, उसे अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। इनमें से प्रत्येक ने इस प्रकार प्राप्त उस साहित्य के उत्तर-

दायित्त्व को पूरा करने के लिए अपने विषय की पृथक-पृथक सहिताए वनाईं। उन्ही पाच मूल सहिताओ से चारो वेद और पाचवा इतिहास-पुराण प्राचीन भारतीय वाङमय में और लोक में वृद्धि और प्रचार को प्राप्त हुआ। अपरिमित लोक साहित्य और ऋपि परिवारो मे प्रणीत विशाल वैदिक साहित्य के सरक्षण और पारस्परिक समन्वय का श्रेय द्वैपायन वेदव्यास को है। भारतीय वाङमय के सुदीर्घ इतिहास में लोक-सस्कृति और वेद-सस्कृति के समन्वय का जैसा विलक्षण कार्य व्यास ने किया, वह अनुपम, अपरिमित और महाफल देनेवाला हुआ।

अशावतरण पर्व के शेप भाग मे कुरु-पाडव वीरो के और उनके समकालीन अनेक राजाओ के जन्मो का उल्लेख है। इस सारे प्रकरण की कल्पना अवतारवाद के सिद्धात को मान कर हुई है। कौन किसका अवतार है, यही इस वर्णन मे ढूढ-ढ्ढकर बताया गया है। यह प्रकरण पचरात्रो द्वारा अवतारवाद की कल्पना परिपक्व होने पर जोडा गया प्रतीत होता है। इसीमें वह प्रसग भी मिलता है जिसमें पाप के भार से आर्त्त पृथिवी वैकुण्ठ में नारायण के पास जाकर प्रार्थना करती है कि वह अवतार लें। विष्णु इसे स्वीकार करते हैं। अवश्य ही इस प्रकार की कल्पना वैदिक या ब्राह्मण-साहित्य का अग न थी। अनेक देवता, असुर, दानव, नाग, सुपर्ण, गन्धर्व आदि के जन्म के पौराणिक आख्यान एव ब्रह्मा के मानस-पुत्रो की एव दक्ष की पचास पुत्रियो से अनेक प्रकार की सतति उत्पन्न होने का भी इसमे वर्णन है, जिसपर पुराण-शैली की छाप है और यह उसी टकसाल की उपज जान पडती है। वस्तुत अशावतरण-पर्व का वहुत ही थोडा भाग मूल महाभारत का अश माना जा सकता है। द्रोण वृहस्पति के अश से उत्पन्न हुए, अश्वत्थामा महादेव और यम के अशो के एकत्र मिलने मे, कृपाचार्य एकादश रुद्रो के गण से, शकुनि द्वापर से और सात्यकि मरुतो मे उत्पन्न हुए।

इसी शैली में महाभारत के योद्धाओ के जन्म की अतिमानवी कल्पना इन प्रकरण में पाई जाती है—

इति देवासुराणा ते गन्धर्वाप्सरसा तथा।
अशावतरण राजन् राक्षसाना च कीर्तितम्॥

इस प्रकरण के अन्त में फलश्रुति दी हुई है, जो इस वात की सम्भव पहचान है कि यह अश मूलग्रथ में पीछे मे जोडा गया ।

शकुन्तलोपाख्यान

इसके वाद समव-पर्व की कथा शुरू होती है, जिममें शकुन्तलोपाख्यान और ययाति-उपाख्यान हैं। कुरु-पाण्डवो के पूर्व पुरुष भरत के जन्म की कथा को आवश्यक रीति से महाभारत में स्थान मिलना चाहिए था। जनमेजय ने कहा—"ब्रह्मन्, आपसे अशावतरण सुनने के वाद अव मैं यह जानना चाहता हू कि कुरुओ के वश का आरम्भ कैसे हुआ ?" इसके उत्तर में वैशम्पायन ने शाकुन्तल-उपाख्यान का वर्णन किया ।

पौरवो में वशकर्त्ता दुष्यन्त वीर्यवान राजा थे, जो चतुरन्त पृथिवी के गोप्ता और आटविक राज्यो एव रत्नाकर समुद्र के भी शासक थे। उस जनपदेश्वर के राज्य में कोई पापकृत् नही था। धर्म में रति रखनेवाले जनो को धन और अर्थ की प्राप्ति होती थी। चोर, क्षुधा और व्याधि का भय उसके जनपद में न था। पर्जन्य समय पर वरसते थे और पृथिवी सस्यो से फलवती होती थी। वसुधा पर सव रत्नो की समृद्धि थी। उस महीपाल के राज्य से पुर और राष्ट्र प्रसन्न थे ।

एक वार वह महावाहु आखेट के लिए गहन वन में गया। वहा अनेक प्रकार से मृगयाविनोद के अनन्तर उसने मालिनी नदी के तट पर वसा हुआ तपोधन महर्षि कण्व का सुन्दर आश्रम देखा। राजा ने सेना तो वाहर वन के द्वार पर छोड दी और स्वय राजचिह्नो को उतारकर मन्त्रि-पुरोहितो के साथ आश्रम में प्रवेश किया। वह आश्रम ब्रह्मलोक के समान वेद की ध्वनियो से गूज रहा था। थोडी दूर चलकर राजा ने मन्त्रियो को भी पीछे छोड दिया और उस शून्य आश्रम मे ऋषि का दर्शन न पाकर वन को गुजाते हुए पुकार कर कहा—"यहा कौन है ?"

उनका यह शब्द सुनकर श्रीलक्ष्मी के समान रूपवती एक कन्या तापसी के वेश में सामने आई। उसने राजा को देखकर उनका स्वागत किया, आसन, पाद्य, अर्घ्य आदि देकर कुशल पूछी और प्रसन्न होकर कार्य के विषय में प्रश्न किया। राजा ने उत्तर दिया—"मैं महाभाग कण्व का समादर करने

आया हूं। हे भद्रे, वह कहा गए है ? कहो।"

यह कन्या शकुन्तला ही थी। उसने कहा—"मेरे पिता फल लेने के लिए वन में गए हैं। एक मुहूर्त्त तक प्रतीक्षा कीजिए, तव उनसे भेंट होगी।"

उस कन्या की रूप-शोभा देखकर राजा ने प्रश्न किया—"हे सुन्दरी, तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? किस कारण वन में रहती हो ? तुम्हारे दर्शन से मेरा मन खो गया है। तुम्हारे विपय मे मैं अधिक जानना चाहता हू।"

उस एकान्त आश्रम में राजा की यह वात सुनकर वह कन्या हसी और वोली—"हे दुष्यन्त, मुझे भगवान् कण्व की पुत्री कहते हैं।"

राजा ने कहा—"महाभाग कण्व तो ऊर्ध्वरेत प्रसिद्ध हैं। चाहे स्वय धर्म अपने आचार से विचलित हो जाय, पर कठोरव्रती कण्व चलित नही हो सकते। तुम उनकी पुत्री कैसे हो सकती हो ? मुझे इसमें सशय है।"

शकुन्तला ने उत्तर दिया—"मैंने जैसा सुना है, कहती हू। किसी ऋषि ने आकर मेरे जन्म के विपय में पूछा था। उसे भगवान् कण्व ने जो वताया, वह सुनो। पूर्व समय में विश्वामित्र ने महान तप किया। इन्द्र को आशका हुई कि कही तप से दीप्तवीर्य वह मुनि उसे अपने स्थान से च्युत न कर दें। डरकर इन्द्र ने मेनका को आज्ञा दी—"जाओ और अपने रूप यौवन की चेष्टाओं से इस मुनि को लुभाकर तप से निवृत्त करो।"

मेनका सोचने लगी कि महाक्रोधी और महातपस्वी विश्वामित्र वही हैं, जिन्होंने वशिष्ठ को भी कष्ट दिया था, जिन्होंने क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर हठात् ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, जिन्होंने कौशिकी नदी के तीर पर अपना आश्रम वनाया था, जिन्होंने क्रुद्ध होकर नई सृष्टि की रचना करते हुए श्रवणादि नक्षत्रों का नया चक्र ही वना डाला था। ऐसे उग्रकर्मा विश्वामित्र से मुझे भय है, किन्तु हे देवराज, मन्मथ कामदेव को मेरा सहायक वनाओ और वन को वसन्त की सुरभित वायु से भर दो। वह वायु मेरे वस्त्रों को उड़ाती हुई मेरी सहायता करे। मैं जाऊगी और तुम्हारा कार्य करूगी।" उनके उपस्थित होने पर विश्वामित्र रूप से काम के वशीभूत हो गए। उनके चिरकाल रमण से मेनका में शकुन्तला का जन्म हुआ। मेनका उस वालिका को मालिनी नदी के किनारे हिमालय के रमणीय प्रस्थ पर छोडकर चली

गई। तब शकुन्तो (पक्षियो) ने उसकी रक्षा की। कण्व ने उसे निर्जन विपिन में पक्षियो से घिरी हुई देखकर अपने आश्रम में लाकर पुत्री की तरह पाला और शकुन्तला नाम रखा। इस प्रकार पिता कण्व ने उन महर्षि से मेरे जन्म की कथा कही थी। मैं अपने पिता के विषय में कुछ नही जानती और कण्व को ही अपना पिता मानती हू।"

यह सुनकर दुष्यन्त ने सहसा यह प्रस्ताव किया—"हे सुन्दरी, तुम मेरी भार्या बन जाओ। मैं सारा राज्य तुम पर न्योछावर करता हू। तुम मेरे साथ गाधर्व विवाह करो, जो सब विवाहो मे श्रेष्ठ कहा जाता है।"

शकुन्तला ने कहा—"हे राजन, मेरे पिता आश्रम से बाहर फल लेने गए हैं, तुम मुहूर्त भर ठहरो। वही आकर मुझे तुम्हे प्रदान करेंगे।"

किन्तु दुष्यन्त को इतना धैर्य न हुआ। उसने कहा—"मैं चाहता हू, तुम मुझे अभी स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिए ही ठहरा हू। मेरा मन तुमसे अनुरक्त हो गया है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, आत्मा ही आत्मा की गति है, तुम अपने आप अपना दान कर सकती हो। यह धर्म के अनुकूल है। मैं सकाम हू, तुम भी सकामा हो, मेरे साथ गाधर्व विवाह करने के योग्य हो।"

यह सुनकर शकुन्तला ने उत्तर दिया—"हे पौरव, यदि यही धर्म का मार्ग है, यदि मैं स्वय अपना प्रदान करने में सक्षम हू, तो मेरी एक शर्त सुनो और मेरे साथ प्रतिज्ञा करो कि मेरा जो पुत्र होगा, वही तुम्हारे अनन्तर युवराज बनेगा।"

दुष्यन्त ने बिना विचारे यह बात मान ली और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अपने नगर में ले चलूगा। यह कहकर उसने विधिवत शकुन्तला के साथ विवाह किया और कुछ समय के उपरान्त उसे आश्वासन देकर कि तुम्हारे लाने के लिए अपनी चतुरगिणी सेना भेजूगा, वह वहासे अपने नगर को ओर चला गया, पर मन में वह सोचता था कि न जाने तपस्वी कण्व यह सब सुनकर क्या करेंगे।

मुहूर्त भर बाद कण्व आश्रम में लौट आये। लज्जावश शकुन्तला उनके सामने न जा सकी, परन्तु कण्व ने सब जान लिया। वह सोच-समझकर बोले—"तुम राजवश की हो। मुझसे बिना पूछे तुमने आज जो सबध किया है, वह धर्म का विघातक नही, क्योंकि क्षत्रिय के लिए गाधर्व विवाह श्रेष्ठ

कहा गया है। सकाम पुरुष के साथ सकामा स्त्री एकान्त में मन्त्रो के विना वैसा सम्बन्ध करती है। वह दु पन्त तो धर्मात्मा और महात्मा है जिसे तुमने अपना पति चुना है। तुम्हारी कोख से जो महात्मा पुरुप जन्म लेगा वह उस समग्र महापृथिवी का भोग करेगा, जिसके दोनो ओर दो समुद्र चितवनो के समान हैं। उसका अप्रतिहत-चक्र पृथिवी पर फैलेगा और वह चक्रवर्ती कहलायेगा।"

यह सुनकर शकुन्तला ने कण्व के चरण धोये और नम्रतापूर्वक कहा—"हे पिता, मैंने जिस दु पन्त को अपना पति चुन लिया है, उसके ऊपर आप प्रसन्न हो।"

दु षन्त की विस्मृति

इस प्रकार हम देखते है कि शकुन्तला के उपाख्यान का यह पूर्व भाग कालिदास के शाकुन्तल उपाख्यान से लगभग मिलता है और कुछ अशो में भिन्न भी है, क्योकि कालिदास ने कवि की दृष्टि से अपने कथानक को अधिक मयत और परिमार्जित वनाया है। शकुन्तला को वचन देकर दु षन्त के चले जाने पर भरत का जन्म हुआ। उसका जन्म-नाम सर्वदमन रखा गया। जब वह वडा हुआ तव कण्व ने शकुन्तला से कहा कि अव इसके यौवराज्य का समय आ गया है, और अपने शिष्यो को आज्ञा दी कि शकुन्तला को पति के पास शीघ्र ले जाओ।

इस प्रकार शकुन्तला ने हस्तिनापुर में राजा के सामने उपस्थित होकर भरत को सामने करते हुए निवेदन किया—"हे राजन्, यह आपका पुत्र है, इसका यौवराज्य-पद पर अभिपेक कीजिए, जैमा कि आपने कण्व के आश्रम मे मेरे माथ ममागम होने पर वचन दिया था।"

उनकी यह वात सुनकर दु पन्त ने उस प्रसग का स्मरण रहते हुए भी कहा—"हे दुप्ट तापसी, तेरे साथ मेरा धर्म या काम का कोई सवध हुआ हो ऐसा मुझे स्मरण नहीं। तू यहा ठहर या जहा मन हो चली जा अथवा जो इच्छा हो, कर।"

इतना सुनना था कि मनस्विनी शकुन्तला लज्जा से विजडित और दुःख मे मानो भूमि मे गड गई। क्रोध से उसके नेत्र लाल हो गए और होठ

फडकने लगे। उसके नेत्रो से चिनगारियां निकलने लगी। उसने राजा की ओर देखा और अपने क्रोध को छिपाते हुए कहा—"हे महाराज, सबकुछ जानकर भी अनजान की तरह से आप ऐसा क्यो कह रहे है, मानो कोई साधारण व्यक्ति हो ? इस विषय में सच और झूठ का साक्षी आपका हृदय है। जो एक प्रकार हुई बात को दूसरी प्रकार से कहता है वह चोर और पापी है।" यह कहते-कहते शकुन्तला आवेश में आ गई और बोली—"अब तुम अपनेको अकेला मानते हो। क्या तुम्हें हृदय में रहनेवाले उस पुराण-मुनि काम का स्मरण नही रहा, जो सबके पाप-कर्म को जानता है। मैं स्वय तुम्हारे पास आई हू, यह जानकर मुझ पतिव्रता का अपमान मत करो। अर्घ्य की पात्र भार्या का सम्मान न करके उलटे तुम सभा में उसकी उपेक्षा करते हो, यह उचित नही। मैं कुछ शून्य में रुदन नही कर रही, क्या तुम मेरी बात नही सुन रहे ? यदि याचना करती हुई मेरे वचन के अनुसार तुम न करोगे तो हे दुष्यन्त, तुम्हारा मस्तक सौ टुकडे होकर उड जायगा। पति भार्या में प्रविष्ट होकर स्वय पुत्र रूप से जन्म लेता है। पुराने कवियो के अनुसार यही जाया का जायात्व है। भार्या मनुष्य का आधा भाग है, भार्या ही श्रेष्ठतम सखा है, भार्या त्रिवर्ग का मूल है, भार्या के साथ ही गृहमेधी लोग क्रियावान बनते है, जो भार्यावान हैं, उन्हींके जीवन मे आमोद-प्रमोद है। प्रियवादिनी भार्या एकान्त में मित्र, दुःख में माता और धर्म-कार्यो में पिता होती है। यदि साथ में स्त्री है तो मार्गस्थ मनुष्य को जगल में भी विश्राम मिलता है। हे राजन्, इस कारण विवाह उत्तम धर्म है। आत्मा ही पुत्र-रूप से उत्पन्न होता है, अतएव मनुष्य को उचित है कि अपने पुत्र की माता, निज भार्या, को माता के समान आदर दे। भार्या से उत्पन्न पुत्र दर्पण में प्रतिबिम्बित आत्मा के समान है, जिसके दर्शन से सुख मिलता है। चाहे कैसा भी दुःख और रोग क्यो न हो, मनुष्य पत्नी में वैसे ही सुख पाता है, जैसे गरमी से व्याकुल मनुष्य जल में। आवेश में आकर भी मनुष्य को स्त्री से अप्रिय वचन न कहने चाहिए, क्योकि रति, प्रीति और धर्म उसीके अधीन है। स्त्रियां सनति के जन्म का सनातन और पवित्र क्षेत्र हैं। ऋषियो की भी क्या शक्ति है, जो स्त्री के बिना सतान उत्पन्न कर सकें ? हे पौरव, उमग कर आये हुए अपने पुत्र की तुम अवहेलना क्यो करते हो ? जब इसका जन्म हुआ तब आकाशवाणी ने कहा था कि यह सौ अश्वमेधो का

करने वाला होगा। मृग के पीछे दौडते हुए तुम मेरे पिता के आश्रम में कौमार अवस्था मे मेरे पास आए थे। अप्सराओ में श्रेष्ठ मेनका ने स्वर्ग से पृथिवी पर आकर विश्वामित्र द्वारा मुझे जन्म दिया था। हा, मैंने पूर्व जन्म में कौन-सा अशुभ कर्म किया, जो मेरी वह असली मा जन्मते ही मुझे छोडकर चली गई और आज तुम भी मुझे छोड रहे हो! तुमसे परित्यक्ता मैं भले ही आश्रम में लौट जाऊ, पर अपने इस बाल-पुत्र को छोडना तुम्हें उचित नही।"

यह सुनकर दु पन्त ने उत्तर दिया—"हे शकुन्तला, तुममें उत्पन्न इस पुत्र का मुझे ज्ञान नही। स्त्रिया योही असत्य कह देती हैं। तुम्हारी बात पर कौन विश्वास करेगा? तुम्हारी माता मेनका कैसी निष्ठुर और पुश्चली थी, जो उतारी हुई माला की तरह तुम्हे हिमालय की चट्टान पर फेंककर चली गई और क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न होकर ब्राह्मणत्व का लोभी तुम्हारा वह पिता विश्वामित्र भी कामपरायण ही था। सचमुच मेनका अप्सराओ में और तुम्हारा पिता महर्पियो में श्रेष्ठ हैं, तभी तो उनकी सतान तुम पुश्चली के समान वचन कह रही हो! इस तरह की अविश्वसनीय बात कहते तुम्हें लज्जा नही लगती, और विशेपत मेरे सामने? हे दुष्ट तापसी, हट जाओ। कहा वह उग्र महर्पि, कहा वह मेनका अप्सरा और कहा तापसी वेश में दीन बनी हुई तू! और कैसे इतने थोडे समय में तेरा यह बालपुत्र शरीर से इतना विशाल और बली लगने लगा, जैसे शहतीर हो! हे पुश्चली, मुझे तेरी सब बात गडबड जान पडती है। जो तू कहती है उसका मुझे कुछ पता नही। मेरी-तेरी कुछ जान-पहचान नही। जहा तेरा मन हो, जा।"

स्त्रियोचित स्वाभिमान

दु पन्त के अति निष्ठुर वचन सुनकर शकुन्तला क्रोध से तिलमिला गई और उसका स्त्रियोचित स्वाभिमान जाग उठा। उसने कहा—"हे राजन्, दूसरे की आख का तिनका तुम देखते हो, पर अपनी आख का ताड देखते हुए भी क्या तुम्हें दिखाई नही पडता? मेनका सदा देवो में रहती है। सब देव मेनका के अनुगत हैं। हे दु पन्त, तुम्हारे जन्म से बढकर मेरा जन्म है। तुम धरती में घिसटते हो, मैं आकाश में उडती हू। अपने और मेरे बीच का अन्तर देखो, जैसे सरसो और सुमेरु का हो। इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, इनके घरों में

मेरा आना-जाना है। इतना मेरा प्रभाव है। मैं एक बात लोकोक्ति के रूप में कहती हू, कुछ चिढाने के लिए नही। कुरूप आदमी जबतक दर्पण में अपना मुह नही देखता, तबतक अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दर समझता है, पर जब शीशे में वह अपना दागदगीला मुह देख लेता है तब अपनी हीनता जान जाता है। जो रूपवान् है, वह किसीका अनादर नही करता। जो दुर्वचन कहता है वह लोक में परनिंदक कहलाता है। मनुष्यो के शुभाशुभ वचनो को सुनकर मूर्ख शूकर की भाति केवल गदगी लेता है, पर बुद्धिमान उन्हींमें से हस की भाति क्षीर रूपी गुणवत् वाक्यो को चुन लेता है। भला, इससे भी बढकर हँसी की बात और कोई लोक में है, जो दुर्जन अपनेको सज्जन कहे ? आत्मसदृश पुत्र को उत्पन्न करके जो उसकी अवहेलना करता है, उस मनुष्य की श्री को रुष्ट देवता हर लेते है। पितरो को नरक के उस पार पहुचाने के लिए पुत्र धर्म की नाव है। हे राजा, सत्य और धर्म का पालन करो, कपट करना ठीक नही। हजार अश्वमेधो के साथ सत्य को तराजू पर चढाकर यदि तोला जाय तो भी सहस्र अश्वमेधोसे से सत्य ही भारी बैठेगा। सब वेदो का अध्ययन, सब तीर्थों में स्नान एक ओर, और सत्य बोलना दूसरी ओर—ये दोनो एक-दूसरे के बराबर बैठे अथवा न भी बैठें। सत्य से परे कोई धर्म नहीं और न झूठ से बढकर कोई तीखी वस्तु है। सत्य परब्रह्म है, सत्य ही सबसे बडी प्रतिज्ञा है। हे राजन्, तुम अपनी उस सत्य की प्रतिज्ञा को मत छोडो। पर यदि झूठ से ही तुम्हें प्रेम हो तो मै तो जाती हू, तुम्हारे जैसे के साथ मेरा कोई मेल नही। पर हे दुष्यन्त, याद रखना, तुम्हारे बिना भी यह मेरा पुत्र पर्वतो के कुण्डल से अलकृत इस चतुरन्त पृथिवी का पालन करेगा।"

इतना कह शकुन्तला जाना ही चाहती थी कि अन्तरिक्ष से आकाश-वाणी ने दुष्यन्त से कहा—"शकुन्तला ने सत्य कहा है। तुम्ही इस गर्भ के जनक हो। अतएव हे दुष्यन्त, शकुन्तला के पुत्र का भरण करो। जीतेजी अपने पुत्र का परित्याग बडा अकल्याण है। तुम्हारे भरण करने से यह पुत्र भरत कहलायगा। हे पौरव, शाकुन्तल दौष्यन्ति भरत को तुम स्वीकार करो।"

यह सुनकर दुष्यन्त ने पुरोहित और अमात्यो से कहा—"आप लोगो ने देवदूत की बात सुनी। मैं भी समझता हू कि यह मेरा पुत्र है, किन्तु यदि इसके

कहने से ही मैं इसे स्वीकार कर लेता तो लोग सदेह करते।"

यो कह राजा ने पुत्र और स्त्री को स्वीकार करके शकुन्तला से कहा—"हे देवी, मैंने एकान्त में तुम्हारे साथ वह सबध किया था, अतएव शुद्धि के लिए मैंने इस प्रकार के व्यवहार का विचार किया। तुमने कुपित होकर जो अप्रिय वचन मेरे प्रति कहे, मैंने वे सब क्षमा किये।"

इस प्रकार दु पन्त ने भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त किया और भरत का तेजस्वी एव अप्रतिहतचक्र लोको को गुजाता हुआ सारी पृथिवी पर फैल गया। उसने अनेक राजाओ को जीतकर अपने वशवर्ती बनाया और वह सार्वभौम चक्रवर्ती हुआ। उसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। उसी भरत से कुरु-पाडवो का कुल भारत कहलाया। उसीसे लोक में भारती कीर्ति फैली। उस भरत के वश में अनेक देवकल्प राजा हुए। भरत, कुरु, पुरु, अजमीढ के वश में जन्म लेनेवाले क्षत्रिय भारत, कौरव और पौरव नामो से विख्यात हुए। उन्ही भरतवशियो का स्वस्त्ययन, पवित्र, धन्य, यशस्य और आयुष्प्रद यह महान उपाख्यान महाभारत है।

: ५ :

राजा ययाति का उपाख्यान

आदि-पर्व के सम्भव-पर्व में शकुन्तलोपाख्यान के बाद उन्नीस अध्यायो का ययात्युपाख्यान नामक बडा उपाख्यान है। इसके दो भाग हैं, पूर्व-यायात और उत्तर-यायात। ययाति भी कौरवो के पूर्व-पुरुष थे। अतएव आरम्भ में उनके चरित का सविस्तृत वर्णन करना आवश्यक समझा गया।

चन्द्रवश में नहुप के पुत्र ययाति हुए। ययाति ने असुरगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज वृपपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से विवाह किया। देवयानी के गर्भ मे यदु और तुर्वसु दो पुत्र उत्पन्न हुए। इसी प्रकार शर्मिष्ठा के गर्भ मे द्रुह्यु, अनु और पुरु नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उशना शुक्र के शाप मे ययाति अकाल में ही जराजीर्ण हो गए। उन्होने अपने पुत्रो की युवा-

वस्था को लेकर अपनी जरावस्था का परिवर्तन करना चाहा। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु इन चार बडे पुत्रो में से कोई इसके लिए तैयार नही हुआ, किन्तु सबसे छोटे पुरु ने पिता की आज्ञा स्वीकार कर ली और अपना यौवन देकर ययाति का बुढापा स्वय ले लिया। यौवन की शक्ति से पुन युवा बनकर ययाति ने अपनी दो पत्नियो एव विश्वाची नामक अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन में दीर्घ कालतक सुखो का उपभोग किया। अन्त मे उस जीवन की निस्सारता को देखकर उससे भी विरक्त हो गए। उन्होने पुरु को उसका यौवन देकर उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त किया और स्वय स्वर्ग को चले गए।

इतनी कथा ययाति-उपाख्यान के पूर्व भाग में है। इसे ही व्याकरण-साहित्य और महाभारत में पूर्व-यायात कहा गया है। इसके बाद ययाति का स्वर्ग में जाना, वहा इन्द्र से वार्तालाप, अपने पुण्य के विषय मे दर्पोक्ति, उसके कारण स्वर्ग से पतन, एव पुन स्वर्ग-आरोहण की कथा उपाख्यान के अतिम भाग में है, जिसे उत्तर-यायात कहते थे। किसी समय यह उपाख्यान महाभारत से स्वतत्र रूप में प्रचलित था। इस उपाख्यान के अत में भी फलश्रुति का श्लोक (आदि० ८८।२५) पाया जाता है, जो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि यह प्रकरण बाहर से तैरता हुआ मूल ग्रथ में स्थान पा गया।

ययाति-उपाख्यान के इस मूल पाठ को प्राचीन आख्यानविदो ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से अत्यन्त प्रतिमडित किया। इस उपाख्यान के आरम्भ में राजाओ की वशावली भी दी हुई है। प्रचेता के पुत्र दक्ष ने अपनी पचास कन्याओ मे से तेरह का विवाह कश्यप मारीच से किया। उनमें दाक्षायणी के गर्भ से विवस्वान्, विवस्वान् से वैवस्वत यम, यम से मार्तण्ड और मार्तण्ड से मनु का जन्म हुआ। मनु से मानव-वश लोक में फैला। वैवस्वत मनु के नौ पुत्र और इला नाम की कन्या थी। इला से पुरूरवा का जन्म हुआ। ऐल पुरूरवा और उसकी पत्नी उर्वशी के ज्येष्ठ पुत्र का नाम आयु था। आयु से नहुष का जन्म हुआ, जिसने धर्म से पृथिवी का पालन किया और अन्त में इन्द्र-पद भोगकर ऋषियो का अपमान करने से वह अधोगति को प्राप्त हुआ। इसी नहुष का पुत्र ययाति था।

कच-देवयानी प्रसग

ययाति के चरित्र-वर्णन के प्रसग में एक सरस लघु कथा वृहस्पति के युवा पुत्र ब्रह्मचारी कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक वार देवता और असुरो में ऐश्वर्य के लिए वडा सघर्प हुआ। उस देवासुर-सग्राम मे विजय पाने की इच्छा से देवो न वृहस्पति को अपना पुरोहित वनाया और असुरो ने उशना कवि को। दोनो पुरोहितो में लागडाट थी। देवता जिन दानवो को युद्ध में मारते, उशना अपनी सजीविनी विद्या के वल से उन्हें पुन जीवित कर देते थे। वृहस्पति के पास सजीविनी विद्या न थी। इससे देवता दु खी हुए। उन्होने वृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र कच से कहा—"हे कच, तुम हमारी सहायता करो। असुरो के गुरु शुक्राचार्य ब्राह्मण के पास जो विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर आओ। तुम्हीं अपने शील, दाक्षिण्य, माधुर्य, आचार और इद्रिय-निग्रह से कवि उशना को और उसकी पुत्री देवयानी को भी अपने अनुकूल वना सकोगे।"

कच ने यह वात स्वीकार की और शीघ्र ही वृपपर्वा असुर की राजधानी में जाकर शुक्राचार्य से निवेदन किया—"मै अगिरा ऋपि का पौत्र और वृहस्पति का पुत्र हू। मेरा नाम कच है। आप कृपया मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें। आपको गुरु मानकर मैं ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करूगा। कृपया अनुमति दें।"

कच की स्पष्टवादिता से प्रसन्न हो शुक्राचार्य ने उत्तर दिया—"हे कच, तुम्हारा स्वागत है, मै तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हू। तुम अर्चनीय हो, मै तुम्हारी अर्चना करूगा। तुम्हारे द्वारा वृहस्पति भी मुझसे अर्चित हो।"

इस प्रकार कच ने भृगु-पुत्र शुक्राचार्य के पास व्रत धारण किया। अपने उपाध्याय तथा उनकी कन्या देवयानी को प्रसन्न करते हुए वह रहने लगे। देवयानी प्राप्तयौवना थी। कच गीत, नृत्य और वाद्यो से एव पुप्प-फल आदि से देवयानी को प्रसन्न करते तथा देवयानी भी ब्रह्मचर्याश्रम के नियम और व्रतो का पालन करनेवाले उस विप्र युवक के साथ गाती-वजाती और एकान्त में परिचर्या करती थी।

इस प्रकार रहते हुए कच को पाच वर्प वीत गए। अव दानवो को किसी

प्रकार कच का पता लग गया। उन्होंने उसे जंगल में अकेले पाकर संजीविनी विद्या की रक्षा के लिए मार डाला और भेड़ियों को खिला दिया। गाएं अकेली जंगल से घर आईं। कच को वापस न आया देखकर देवयानी ने पिता से कहा—"हे तात, अवश्य ही कच को असुरों ने मार डाला है। मैं उसके बिना जीवित न रह सकूंगी।" इतना सुनकर शुक्राचार्य ने संजीविनी विद्या के बल से उसे जीवित कर दिया। दूसरी बार पुनः असुरों ने वही किया और फिर उसी प्रकार शुक्राचार्य ने उसे जीवनदान दिया। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे संजीविनी विद्या का वरदान दिया।

इस प्रकार गुरु से विद्या सीखकर कच ब्रह्मचर्य-व्रत का समावर्तन करके लौटने के लिए तैयार हुआ। उसी समय देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया। कच ने कहा—"हे सुन्दरी, जैसे तुम्हारे पिता पूज्य एवं मान्य हैं वैसे ही तुम भी पूजनीय हो। तुम भार्गव शुक्राचार्य के लिए प्राणों के समान प्रिय हो और गुरु-पुत्री होने के कारण मेरे लिए भी धर्मतः पूज्य हो। हे देवयानी, तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं।"

इस पर देवयानी ने सौहार्द, अनुराग और उत्तम भक्ति का स्मरण दिलाते हुए कहा—"तुम मेरे पिता के पुत्र नहीं हो, उनके गुरु अंगिरा के पुत्र के पुत्र हो। अतएव तुम्हारे साथ संबंध होने में मुझे कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता।"

किंतु कच ने यही कहा—"तुम मेरी धर्म की बहन हो, मैं तुम्हारे यहां बहुत सुख से रहा, मुझे विदा दो और मेरी मंगल-कामना करो। कभी-कभी मेरा स्मरण करती रहना और प्रमादरहित होकर नित्य मेरे गुरु की सेवा करना।"

किन्तु देवयानी इतने से माननेवाली न थी। उसने कहा—"हे कच, यदि धर्मानुमोदित काम के विषय में तुम मेरी बात न मानोगे तो मेरे पिता से प्राप्त की हुई यह विद्या तुम्हें फलवती न होगी।"

यह सुनकर कच ने अपने आपको उसी प्रकार शांत रखते हुए कहा—"तुम मेरी गुरुपुत्री हो। उलटकर मैं तुम्हारे लिए कोई बुरी बात नहीं कहता। हे देवयानी, मैं ऋषियों से अनुमोदित धर्म की बात तुमसे कहता था, फिर भी तुमने मुझे शाप दिया। इस शाप का हेतु काम है, धर्म नहीं। तुम्हारा जो मनो-

रय है, वह मुझसे तो पूरा नही होगा और भी कोई ऋषिपुत्र तुम्हारा पणिग्रहण न करेगा। और जो तुमने यह कहा कि यह सजीविनी विद्या मुझे न फलेगी तो इसे मै किसी दूसरे को सिखा दूगा, उसे यह फलवती होगी।"

यह कहकर कच देवताओ के पास लौट आया। कच की यह कथा प्राचीन आश्रमो मे अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारियो के शुभ आचारो का चमकता हुआ हीरा है।

ययाति का जरा-परिवर्तन

ययाति के उपाख्यान में वह अश काव्यपूर्ण है, जिसमें वह अपने पाच पुत्रो के साथ जरा देकर यौवन लेना चाहता है। देवयानी के सिखाने से शुक्राचार्य ने ययाति को अकाल में ही जराजीर्ण हो जाने का शाप दिया। अनुनय-विनय करने पर शुक्राचार्य ने यह कहकर उसपर कृपा की कि मेरा वचन तो अन्यथा न होगा, किंतु तुम अपना वृद्धत्व किसी दूसरे को दे सकते हो।

ययाति ने कहा—"जो पुत्र मुझे अपना यौवन देगा वह राज्य, पुण्य और कीर्ति का भाजन बनेगा।" शुक्राचार्य ने भी इसका अनुमोदन किया और तव ययाति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से कहा—"हे तात, उशना कवि के शाप से मुझे बुढापे ने आ दबोचा है। मेरे शरीर में झुरिया पड गई है और बाल पक गए है। यौवन के सुखो मे मुझे अभी तृप्ति नही हुई है। हे यदु, तुम मेरे इस जरारूपी पाप को ओढ लो और मुझे अपना यौवन दो, जिससे मैं विपयो मे रमण करू। सहस्र वर्ष पूरे होने पर मै तुम्हारा यौवन तुम्हे लौटा दूगा और अपनी पापिष्ठ जरावस्था स्वय ओढ लूगा।"

यदु ने उत्तर दिया—"बुढापे से मनुष्य ढीलाढाला हो जाता है। उसके बाल पक जाते है। देह में झुरिया छा जाती है। उस दुबले और अशक्त को कोई देखना नही चाहता। उसमें काम करने की शक्ति नही रहती। यौवन के जितने सुख है, उनसे वह वचित हो जाता है। मुझे ऐसा बुढापा नही चाहिए।"

तब ययाति ने तुर्वसु से वही बात कही। तुर्वसु ने उत्तर दिया—"काम और भोगो का नाश करनेवाली, बुद्धि और प्राण को हरनेवाली बुढौती मुझे नही चाहिए।"

इसके बाद ययाति ने शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु से वही बात कही। द्रुह्यु ने कहा—"जो बूढा हुआ, वह न हाथी, न रथ, न अश्व की सवारी कर सकता है और न स्त्री के साथ विहार कर सकता है। बुढापे के कारण बोलने की शक्ति भी ठीक-ठीक नही रहती। ऐसी बुढौती मै न लूंगा।"

इस पर ययाति ने अनु से अपना यौवन देने के लिए कहा। अनु ने उत्तर दिया—"बुड्ढा आदमी बच्चे की तरह गंदा रहता है। न उसके खाने-पीने का कोई नियम होता है, न समय पर अग्निहोत्र आदि कर पाता है। ऐसा बुढापा मुझे नही चाहिए।"

निराश होकर ययाति ने सबसे छोटे पुत्र पुरु से कहा—"हे पुरु, तुम मुझे सबसे अधिक प्यारे हो। देखो, मुझे बुढापे ने दबोच लिया है। मुझे अपने यौवन में भाग दो, जिससे कुछ समय तक और विषयो का सुख ले सकू।"

यह सुनकर पुरु ने पिता से कहा—"महाराज, आप जैसा कहते है, मैं आपके वचन का पालन करूगा। आपकी यह जरा और श्रीहीन अवस्था मैं ले लूगा, आप मेरा यौवन लीजिए और मनचीते काम-भोगो मे विलसिए। आप जैसा कहते हैं, आपको अपना यौवन देकर और आपका बुढापा लेकर मै तदनुकूल आयु और रूप धारण करूगा।"

यह सुनते ही ययाति प्रसन्न हो गए और उन्होंने पुरु को आशीर्वाद दिया। यौवन पाकर ययाति ने यथाकाम, यथोत्साह, यथाकाल और यथा-सुख अपने प्रिय विषयो का उपभोग करते हुए समय व्यतीत किया। यज्ञो मे देवताओ को, श्राद्ध मे पितरो को, अन्नपान मे अतिथियो को, परिपालन से प्रजाओ को, अनुग्रह से दीन अनाथो को, कामनाओ की पूर्ति से द्विजो को, अनुकम्पा से शूद्रो को, निग्रह से दस्युओ को और धर्म से समस्त प्रजाओ का अनुरजन किया। साक्षात् इन्द्र के समान युवा ययाति ने विषयो में मन लगा कर, किंतु धर्म मे अविरुद्ध उत्तम सुखो का अनुभव किया। अनेक समृद्ध काम-नाओ को प्राप्त करके वह पहले तृप्त और अन्त मे खिन्न हो गए, और समय पूरा होने पर अपने पुत्र पुरु से बोले—"हे पुत्र, तुम्हारे यौवन से मैंने मनचाहे विषयो का उत्साह के साथ यथासमय उपभोग किया। हे पुरु, अब मेरा मन भर गया है। तुम अपना यौवन और यह राज्य भी ग्रहण करो।"

इतना कहकर नहुषात्मज ययाति पुन जराजीर्ण बन गए। जिस समय

सबसे छोटे पुत्र पुरु का अभिषेक करने के लिए वह तैयार हुए तब ब्राह्मण आदि चारो वर्णो ने उपस्थित होकर राजा से कहा—"महाराज, शुक्राचार्य के नाती, देवयानी के पुत्र, यदु सबसे ज्येष्ठ हैं, उनसे छोटे तुर्वसु हैं, उसके बाद शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु और अनु है। इन ज्येष्ठ पुत्रो का उल्लघन करके आप छोटे पुरु को क्यो राज्य देना चाहते है ? आपसे हम सब कहते हैं कि आप धर्म का पालन करे।"

ययाति ने प्रजाओ का वचन सुनकर उत्तर दिया—"हे ब्राह्मणप्रमुख चारो वर्णो के पुरुषो, आप सब मेरी बात सुनें, क्यो मै ज्येष्ठ-पुत्र को राज्य नही देना चाहता। मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदु ने मेरी आज्ञा का पालन नही किया। जो पिता के प्रतिकूल है, उसे सज्जनो की परिभाषा के अनुसार पुत्र नही माना जा सकता। जो माता और पिता की आज्ञा माननेवाला, उनके प्रति हितबुद्धि रखनेवाला और उनके अनुकूल है, वही पुत्र है। पुत्र वही है जो माता-पिता के साथ पुत्र का व्यवहार करे। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु ने मेरा बहुत अनादर किया। पुरु ने ही मेरी बात मानी और मुझे विशेष आदर दिया। इसीलिए छोटा होता हुआ भी वह मेरा दायाद है। पुत्र का सच्चा रूप पुरु मे है, जिसने मेरी जरा के बदले में अपना यौवन देकर मेरी इच्छा पूरी की। स्वय कवि शुक्राचार्य ने यह वर दिया है कि जो पुत्र तुम्हारा अनुवर्ती होगा वही पृथिवी का राजा होगा। अतएव मै आप सबसे अनुनय करता हू कि पुरु को राज्य-सिहासन पर अभिषिक्त कीजिए।"

प्रजाओ ने इस दृष्टिकोण से सहमत होते हुए कहा—"जो पुत्र गुण-सम्पन्न है, जो माता-पिता का हितकारी है, चाहे छोटा भी हो, वही सब कल्याणो का अधिकारी है। अतएव तुम्हारा प्रियकारी पुत्र पुरु ही राज्य के योग्य है। तब क्या कहा जा सकता है ?" इस प्रकार सतुष्ट हुए पौर-जानपद जन की स्वीकृति पाकर ययाति ने पुरु का राज्याभिषेक किया और स्वय वन को प्रस्थान किया।

इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनु द्वारा उपदिष्ट प्राचीन राजनीति के अनुसार सबसे ज्येष्ठ पुत्र को राज्यसिहासन पाने का अधिकार होता था। इसी प्रथा के अनुसार दशरथ ने राम को युवराज बनाया था, किन्तु कैकेयी के षड्यत्र के कारण उस विधान का उल्लघन हुआ। यहा भी

प्रजाओं ने देखा कि ययाति मनु की उस नीति का उल्लंघन कर रहा है, तब पौर और जानपद प्रतिनिधियों ने सभा में उपस्थित होकर उसे टोका। यह निश्चित है कि पौर-जानपद प्रजाओं का समर्थन पाये बिना ययाति यदु आदि पुत्रों के अधिकार को नहीं छीन सकते थे। यहां ययाति ने यौवराज्य-पद प्राप्त करने के लिए पुत्र की एक नई परिभाषा दी है। ज्ञात होता है कि यह परिभाषा शुक्राचार्य की उपदिष्ट नीति के अनुसार थी। जब हम शुक्रनीति की तुलना मानवधर्मशास्त्र से करते हैं तब कई बातों में शुक्र का मत अधिक उदार या सुधारवादी जान पड़ता है। मनु ने राजा को ईश्वर का अंश माना है, शुक्र ने नहीं। राजा के प्रजापालनरूपी कर्त्तव्य के विषय में भी शुक्राचार्य की दृष्टि अधिक उदार है।

ययाति के उपाख्यान के उत्तर भाग में ययाति और इंद्र का संवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मणों के साथ वन में निवास करते हुए अनेक प्रकार का तप करके ययाति स्वर्ग में गए। वहां देवताओं ने उनका स्वागत-पूजन किया। एक बार इंद्र ने ययाति से पूछा—"हे राजन्, जब पुरु ने अपना रूप देकर आपसे जरा प्राप्त की और आपने कालान्तर में उसे राज्य सौंपा तब सत्य कहिए, आपने उससे क्या कहा?"

ययाति ने उत्तर दिया—"मैंने पुरु से कहा—गंगा और यमुना के बीच में जितना प्रदेश है, जो इस पृथिवी का मध्य भाग है, उसके तुम राजा हो और जो तुम्हारे भाई हैं वे इसके चारों ओर के प्रत्यन्त देशों के राजा हैं। मैंने उससे यह भी कहा—जो क्रोध नहीं करता, वह क्रोध करनेवाले से श्रेष्ठ है। जो सहनशील है, वह उससे बढ़कर है, जो सहन नहीं कर सकता। जो मानवेतर हैं, उन सबकी तुलना में मनुष्य प्रधान है। जो विद्वान है, वह न जाननेवालों में प्रधान होता है। यदि कोई अपने से जली-कटी बातें कहे तो स्वयं वैसा न
४ कहना चाहिए। जो उन बातों को सहन कर लेता है, उसका तेज दुर्वचन कहने वालों को फूंक डालता है और उनके सब पुण्यों को हर लेता है। मनुष्य को चाहिए कि किसीका मर्म न दुखाये, किसीसे कठोर बात न कहे। जो क्षुद्र है उससे किसी बढ़िया वस्तु को ग्रहण न करे। जो वचन दूसरे को उद्वेग पहुंचानेवाला और हृदय छीलनेवाला है और नारकी है, उसे कभी न कहे। जिसकी वाणी रूखी और मर्मान्तक है, जिसके शब्द शूल की तरह

कर्म में श्रद्धा नही रखता , उसका वह कर्म भी पाप-युक्त हो जाता है। जो सज्जन है वे कभी असज्जनो का अनुकरण नही करते। उनकी अपनी आत्मा उन्हे अनुकल मार्ग पर ले चलती है। जीवन में अनेक प्रकार के भाव आते है, वे दैव के अधीन है। ऊच-नीच, सुख-दु ख इत्यादि सम-विषम परिस्थितियो में मनुष्य की निजी चेष्टा कुछ काम नही देती। मन में समझ लेना चाहिए कि विधाता वाम है। ऐसा सोचकर धीर व्यक्ति अपने आपको खिन्न नही होने देता। जन्तु दैवाधीन होकर सुख या दु'ख पाता है, अपने मन से नही। अतएव नियति को बलवान समझकर न दु ख से सन्तप्त हो और न सुख से हर्षित हो। धीर पुरुष सदा अपने आपको सम अवस्था में रखे। हे अष्टक, भय से मुझे कभी मोह नही होता। मेरे मन में किसी प्रकार का सन्ताप नही होता। विधाता लोक मे मुझे जिस तरह चलाते हैं उसे ही मै ध्रुव भवितव्यता मानता हू। सुख और दु ख दोनो अनिवार्य हैं, फिर मुझे किस बात का सन्ताप हो ? मैं जानता हू कि मुझे क्या करना चाहिए और किस प्रकार के कर्म से मेरे मन को पीछे पछतावा न होगा। मैं इस बात में अपने-आपको सावधान रखता हू कि सन्ताप के काम से बचू।"

ययाति का यह दार्शनिक दृष्टिकोण वही है जो आजीवक मत के आचार्य मस्करी गोसाल का था। वह नियतिवादी थे। कर्म द्वारा सुख और दु'ख को नही टाला जा सकता , यह गोसाल का अभिमत था। बौद्ध और जैन-साहित्य में मक्खलि गोसाल की बहुत चर्चा आती है। शाति पर्व के मोक्ष-धर्म-पर्व में आजीवको के नियतिवाद का विस्तार से निरूपण किया गया है। प्रकरण में भाग्य के लिए 'दिष्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि ने भी 'अस्ति नास्ति दिष्ट मति' अपने इस सूत्र में उन आचार्यों का उल्लेख किया है, जो दिष्ट या भाग्यवादी होने के कारण दैष्टिक कहलाते थे। यह भी सभव है कि ययाति द्वारा कहा हुआ दैष्टिक मत और आजीवक सप्रदाय का दैष्टिक मत एक-जैसे होते हुए भी अन्य बातो में आजीवक-सप्रदाय की अपनी विशेषताए रही हो। मक्खलि गोसाल को बुद्ध अपने विरोधी आचार्यों में सबसे अधिक प्रबल और भयकर समझते थे।

अष्टक ने प्रश्नो का क्रम जारी रखते हुए कहा—"हे ययाति, तुम्हारे कहने का ढग ऐसा है, जैसे कोई क्षेत्रज्ञ धर्म की व्याख्या कर रहा हो।

बताओ, तुमने किन-किन लोको का कैसे उपभोग किया ?"

ययाति ने उत्तर दिया—"मै इस पृथिवी पर सार्वभौम राजा था। मैंने अनेक लोको को जीता और दीर्घकालतक यहा निवास करके फिर मै परलोक पहुचा। वहा मै इद्र की सहस्र द्वारोवाली और शत योजन लम्बी-चौडी अमरावती में दीर्घकाल तक रहा। उसके बाद प्रजापति के दिव्य अजरलोक में मैंने निवास किया। देवदेव इद्र के नन्दनवन में अप्सराओ के साथ देवसुख भोगते हुए मुझे बहुत समय बीत गया। तब देवो का एक विकराल दूत मेरे पास आया और डपटकर बोला—"हट! हट! हट!" उसके इतना कहते ही मैं क्षीणपुण्य होकर नन्दनवन से नीचे लुढक गया और मैंने अन्तरिक्ष में गिरते हुए अपने पीछे देवताओ की यह वाणी सुनी—'अहो, कैसे कष्ट की बात है कि पुण्यकर्मा ययाति भी पुण्य के चुक जाने से गिर रहा है!' मैंने उनसे कहा—'मेरे साथ इतनी ही भलाई करो कि मैं गिरकर भी सज्जनो के बीच में पहुच जाऊ।' इसपर उन्होने, हे अष्टक, आपकी यज्ञभूमि की ओर सकेत किया और मैं इस हविर्गन्ध देश मे आ गया।"

अष्टक ने पूछा—"नन्दनवन मे इच्छानुसार सैकडो-हजारो सवत्सर निवास करके तुम्हे पृथिवी की ओर फिर क्यो आना पडा ?"

ययाति ने उत्तर दिया—"यह तो सीधा नियम है। जिस प्रकार मनुष्य का धन क्षीण हो जाने पर उसके सबधी मित्र और स्वजन उसे छोड देते है, वैसे ही मनुष्य का पुण्य समाप्त हो जाने पर सब देवसघ और उनके अधिपति झट उसे छोड देते है। ये सब लोक अन्तवन्त है और मनुष्य के पुण्य भी समाप्त होनेवाले है। जब पुण्य चुक जाता है, मनुष्य को लपलपाती हुई लालसा लिये हुए पुन इसी भौम नरक में आना पडता है। यद्यपि वह अन्य प्रकार से क्षीण होता है, तथापि भोगो के प्रति उसकी तृष्णा बढ जाती है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस लोक में दुष्ट और निन्दित कर्म का परित्याग करे।"

इसके बाद अष्टक और ययाति के सवाद में इस बात की चर्चा है कि मरने के बाद मनुष्य किस प्रकार इस भौम नरक में घूमता रहता है और फिर किस प्रकार दूसरा शरीर पाने के लिए गर्भ में प्रवेश करता है और जन्म लेकर इद्रियो और तन्मात्राओ से संयुक्त होता है। इसी प्रसग में ययाति ने सद

या अहकार की वहुत निन्दा की है—"तप, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सब भूतो में दया इन सब पर अन्धकार छा जाता है, यदि मनुष्य का मन घमड से फूल गया हो। जो विद्या पढकर अपनेको पडित समझता है और अपने विद्यावल से दूसरो को नीचा दिखाने का विचार लाता है, उसका वह पढना-लिखना सब निष्फल हो जाता है और उसके जीवन के सब सुख मीमित हो जाते है। चार कर्म यदि ठीक प्रकार किये जाय तो उनसे मनुष्य को अभय की प्राप्ति होती है। वे कर्म ये है—अग्निहोत्र, मौनभाव, अध्ययन और यज्ञ। किन्तु इनको ही यदि ऐंठ में भरकर वेढगेपन से किया जाय तो ये ही मनुष्य के लिए भयकर हो जाते है। सम्मान से प्रसन्न न होना चाहिए और अपमान से सताप न करना चाहिए। इस ससार में भले आदमी भलो का सम्मान करते है। दुष्टो मे कभी साधुवुद्धि होती ही नही। दान, यज्ञ, और अध्ययन, ये मेरे व्रत के अन्तर्गत है, इन्हें मै अभय का मार्ग समझता हू, किन्तु यदि वे ही मानपूर्वक किये जाय तो त्याज्य हैं।"

अष्टक के इस प्रश्न के उत्तर मे कि आचार्य की शुश्रूपा करनेवाला ब्रह्मचारी, गहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु, ये सत्पथ पर चलकर किस प्रकार देवतुल्य वन सकते हैं, ययाति ने सक्षेप में उत्तर दिया —"गुरु का कर्म करने के लिए जिसे प्रेरणा की आवश्यकता न हो, गुरु से पहले उठनेवाला और वाद में मोनेवाला, जव वह कहे तभी अध्ययन करनेवाला, मृदु, दान्त, स्थिर चित्तवाला, अप्रमादी और स्वाध्यायशील ब्रह्मचारी सिद्धि का अधिकारी है। गृहस्थो की पुरातनी उपनिपद् विद्या यह है कि धर्मानुसार प्राप्त धन मे यज्ञ करें, सदा दान दे, अतिथियो को भोजन कराये और दूसरो के अदत्त धन को ग्रहण न करें। अपने परिश्रम से जीविका करनेवाला, पाप से निवृत्त, आहार और कर्म में मयमी, दूसरो को दान देनेवाला, किसीको न मतानेवाला मुनि अरण्य में रहता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है। जो किसी शिल्प के महारे जीविका नही चलाता, जो घर नही वनाता, जो जितेन्द्रिय है, जो गृहस्थी नही वटोरता, जो थोडा-थोडा विचरते हुए देशाटन करता है और अकेला रहता है, वही मच्चा भिक्षु है।"

वानप्रस्थ मुनियो और उनके मौनधर्म की व्याख्या करते हुए उसने कहा—"जगल में रहते हुए जो गाव को पीछे छोड देता है, अथवा गाव

में रहते हुए जो जगल को पीछे छोड देता है, वही मुनि है।" इस प्रकार की स्थिति कैसे सभव है ? इसके उत्तर में ययाति ने कहा— "जो जगल में रहनेवाला मुनि है वह किसी भी ग्राम्य आचार में नही पडता। यो वह जगल में वसकर गाव को पीछे छोड देता है। और यदि वह गाव मे वसते हुए केवल उतना ही भोजन करे, जितने प्राणयात्रा हो और केवल उतना ही चीवर ग्रहण करे, जितना कोपीन के लिए आवश्यक हो, गोत्र और चरण, अग्निहोत्र और गृहवास, इनका मोह न करे, तो गाव में वसते हुए भी वह जगल को पीछे छोड देता है।"

इसके बाद स्वर्ग से भ्रष्ट हुए ययाति को अष्टक एव अन्य लोग अपने-अपने पुण्यो से उपार्जित लोक अर्पित करते है, किन्तु ययाति ने यह कहकर सबको अस्वीकार किया—"जिसके लिए मैंने स्वय पहले कर्म नही किया है, मैं उससे चिमटने की कभी इच्छा नही करता—

अह तु नाभि गृह्णामि, यत्कृत न मया पुरा।
(आदि० ८८।११)

ययाति का यह तेजस्वी दृष्टिकोण मानव-मात्र के लिए जीवन का अमर विधान है।

अष्टक का दान अस्वीकार करते हुए ययाति ने उनसे कहा—"मैं अपने जीवन में पहले सदा दान देता रहा हू, किसी और से प्रतिग्रह मैं नही ले सकता। मनुष्य को चाहिए कि किसीके दान की कृपा पर जीवित न रहे।"

प्रतर्दन ने जब अपने लोक ययाति को अर्पित किये तब उत्तर मे ययाति ने कहा—"अवश्य ही तुम्हारे पुण्य से अर्जित लोको मे मधु और घृत की नदिया बहती है, किन्तु वे सब अन्तवन्त है, उनमें यह सामर्थ्य नही कि मनुष्य की रक्षा कर सके। तेजस्वी मनुष्य को चाहिए कि किसीके सुकृत की इच्छा न करे। यदि दैवयोग से उसपर आपत्ति भी आ जाय तो उसे कृपणभाव न अपनाना चाहिए।"

तब राजा वसुमना ने अपने सुकृत से उपार्जित लोको को अर्पित करते हुए इतना और कहा—"हे ययाति, तुम मेरे लोको का उपभोग करो। स्वर्ग

मे च्युत मत होओ। यदि तुम दान लेना अनुचित समझते हो तो घास का एक तिनका देकर भी तुम मेरे उन लोको को मुझसे मोल ले सकते हो।"

इसके उत्तर मे ययाति ने अपनी सत्यनिष्ठा को तीक्ष्ण करते हुए कहा—"मुझे स्मरण नही कि मैंने कभी अपने जीवन मे इस प्रकार का झूठा सौदा किया हो। वच्चे को धोखा देने की तरह क्या यो कोई वस्तु लेनी चाहिए ?"

इसी प्रकार औशीनर शिवि को भी उत्तर देते हुए ययाति ने कहा—'हे शिवि, तुम्हारे दान का मैं अभिनन्दन नही कर सकता, क्योकि दूसरे के दिये हुए लोक में मै सुख नही मान सकता। मेरे लिए तो वही लोक है, जिसके लिए मैंने कर्म किया है।"

इस प्रकार कर्म की महिमा और प्रतिष्ठा एव मानवोचित आत्मसम्मान और जीवन में सत्य की दृढ निष्ठा—यही ययाति के उपदेश का सार है। अन्त मे ययाति ने अपने जीवन का गुह्य अर्थ प्रकाशित करते हुए इतना और कहा—"मेरा द्युलोक और मेरी पृथिवी सत्य के बल पर टिकी है। सत्य से ही मनुष्यो में अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी मिथ्या वचन नही कहा। सज्जन लोग सत्य की ही पूजा करते हैं। सव देवता, मुनि और मनुष्य सत्य से ही पूजनीय वनते है। ऐसी मेरी मान्यता है—

सत्येन मे द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्य,
सत्य हि सन्त प्रतिपूजयन्ति।
सर्वे च देवा मुनयश्च लोका
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम्। (आदि० ८८।२४)

: ६ :

पौरव-राज-वंशावली

महात्मा ययाति के वशधर पुत्र पुरु के नाम से कुरु पाडवो का वश पौरव कहलाया। ययाति का चरित सुनकर जनमेजय ने यह जिज्ञासा

की—"भगवन्, पुरु के वश में जो प्रतापी वशकर्त्ता नृपति हुए उनके पराक्रमशाली चरित मै सुनना चाहता हू। इस वश में निर्वीर्य शीलहीन कोई राजा नही सुना जाता। विज्ञानशाली उन यशोधन राजाओ के जो प्रथित चरित्र हो उनका कृपया बखान करे।"

यह सुनकर वैशम्पायन ने कहा—"पुरु के वशधर वीर पुरुष इन्द्र के सदृश तेजस्वी हुए। उन लक्षणवान् राजाओ के विषय में तुमसे कहता हू।"

इस भूमिका के साथ महाभारतकार ने पौरववश के राजाओ की दो सूचिया दी हैं। एक ८९वे अध्याय में और दूसरी ९०वे अध्याय में। इनमें मे पहली सूची पुराणो के साथ अधिक मिलती है। प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति की छानबीन करनेवाले पार्जिटर महोदय ने पौरव-राजवशावली पर विस्तार से विचार करते हुए इस सामग्री को विश्वसनीय ठहराया है।

पौरव राजाओ की नामावली आठ पुराणो में पाई गई है—वायु (अ० ९९), ब्रह्माड (अ० १३), हरिवश (अ० ३१, ३२), मत्स्य (अ० ४९), विष्णु (अ० ४।१९), अग्नि (अ० २७७), गरुड (१।१४०), और भागवत (९।२०)। इस राजावली के मोटे तौर पर तीन भाग किये जा सकते है—प्रथम भाग पुरु से अजमीढतक, दूसरा, अजमीढ से कुरुतक, और तीसरा, कुरु से पाडवोतक।

पौरव-राजावली का प्रथम भाग—पुरु से अजमीढतक

पुराणो के साथ तुलनात्मक अनुसधान से इस वशावली का रूप कुछ इस प्रकार ठहरता है—

मनु—इला–पुरुरवा–आयु–नहुष–ययाति–पुरु–जनमेजय प्रथम–प्रचिन्वन्त–प्रवीर–मनस्यु–अभयद–सुधन्वन्-धुन्धु — बहुगव — सयाति–अहयाति–रुद्राश्व–ऋचेयु–मतिनार–तसु।

पुरु से मतिनारतक के नामो के विषय में पुराण प्राय सर्वसम्मत है। मतिनार अति प्रतापी राजा थे। उनके बाद तसु के समय मे इस वश का सौभाग्य विलुप्त हो गया। लगभग इसी समय अयोध्या में सूर्यवश के युव-

नाग्व और मान्धाता प्रतापी और विजिगीषु राजा हुए। सभवत पौरवो का राज्य इक्ष्वाकुओ के वर्धमान चक्र में विलीन हो गया।

तसु से दु पन्ततक की राजावली अनिश्चित और लुप्त है। केवल इतना ज्ञात होता है कि इलिना नाम की एक तेजस्विनी स्त्री हुई। उसके पौत्र दु पन्त थे। महाभारत में इलिना को तसु का पुत्र ईलिन मान लिया गया है, जो पुराणो के अनुसार भ्रान्त है। दु पन्त ने पौरवो की विचलित राज्यलक्ष्मी को पुन प्रतिष्ठापित किया।

दु पन्त से हस्तिन् (जिनका दूसरा नाम बृहत् था) तक की राजावली महाभारत और पुराणो में बहुत कुछ मिलती है, जो इस प्रकार है—

दु पन्त–भरत—(भरद्वाज)—वितथ—भुवमन्यु या भुवन्यु– बृहत्क्षेत्र—सुहोत्र–हस्तिन्—अजमीढ।

पौरव-राजावली का दूसरा भाग—अजमीढ से कुरु तक

हस्तिन् ने हस्तिनापुर बसाया। उनके दो पुत्र हुए—अजमीढ और द्विमीढ। अजमीढ़ हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे और उन्होने पौरवो के मूलवश को आगे बढाया। द्विमीढ से एक छोटा वश अलग चला, जिसमें यवीनर, धृतिमान् आदि राजा हुए। अजमीढ से कुरुतक के राजाओ को लेकर पौरव राजावली के नाम पुराणो में एक-से हैं। अजमीढ के तीन पुत्र हुए। प्रत्येक से एक-एक वश चला। सबमे ज्येष्ठ ऋक्ष हस्तिनापुर की राज-आसन्दी पर बैठे।

ज्ञात होता है कि यहा ऋक्ष के पहले और पीछे राजाओ के नाम लुप्त हो गए है। ऋक्ष के पहले की आठ पीढिया और बाद की छ पीढिया अन्य वशो के साथ समसामयिकता का मिलान करते हुए खोई हुई जान पडती हैं। ऋक्ष के वश को आगे चलानेवाले वशकर पुत्र सवरण हुए। इनके समय मे पौरव-राज्य को विपत्ति का सामना करना पडा। प्रजाओ का भारी नक्षय हुआ और राष्ट्र को नानाविध नाश ने ग्रस लिया। पचाल के राजा ने हस्तिनापुर को दबोच लिया और सवरण भागकर महान् सिन्धुनद के पास कही पर्वतो मे जा छिपे।

वहा बहुत कालतक रहने के बाद कभी राजा की वसिष्ठ ऋषि से भेट

हुई। सवरण ने उनका स्वागत-सत्कार करके प्रार्थना की—"भगवन् आप हमारे पुरोहित बनें तो मैं राज्य-प्राप्ति के लिए पुन प्रयत्न करू।" वसिष्ठ ने प्रार्थना स्वीकार की और अपने प्रयत्न एव युक्ति से पौरवो को पुन उनके राज्य मे प्रतिष्ठित किया। सब राजा लोग फिर से उन्हे बलि देने लगे।

सवरण की सुन्दरी रानी का नाम तपती था। उससे कुरु नामक पुत्र हुआ। समय आने पर प्रजाओ ने उसे धर्मज्ञ जानकर राजा वरण किया। उसीके नाम से कुरु-जागल प्रदेश विख्यात हुआ और तपस्वी कुरु ने ही अपने तप से कुरुक्षेत्र को पवित्र किया।

इस प्रकार कुरु-पाडववश के सबध मे तीन नामो की व्युत्पत्ति मिल जाती है। वे पुरु से पौरव, भरत से भारत और कुरु से कौरव कहलाए।

पौरव वशावली में अजमीढ का नाम महत्वपूर्ण है। उनके वशज होने के कारण धृतराष्ट्र आदि को महाभारत में प्राय आजमीढ भी कहा गया है। उन्ही अजमीढ के दो पुत्र नील और बृहदश्व हुए। नील ने गगा के उत्तर अहिच्छत्रा में उत्तर पचाल का राज्य स्थापित किया। छोटे बृहदश्व ने गगा के दक्षिण तट से चर्मण्वतीतक के प्रदेश में दक्षिण पचाल राज्य की स्थापना की, जिसकी मुख्य राजधानी काम्पिल्य थी और दूसरी काकन्दी नाम की नगरी थी।

इस प्रकार हस्तिनापुर एव उत्तर-दक्षिण पचाल इन तीनो वशो के नृपति अपने समान पूर्व-पुरुष भरत चक्रवर्ती के नाम से भारत कहलाने लगे। यहा यह स्मरणीय है कि अजमीढ से कुरुतक के दीर्घकाल मे लगभग पद्रह पीढियो का जो युग है उसमें हस्तिनापुर की मुख्य पौरव छत्रावली प्राय सूनी है। शक्ति का केंद्र हटकर उत्तर पचाल में चला गया था। यही नील के वश में वे प्रतापी सम्राट् हुए, जिनके नामो की गूज बार-बार ऋग्वेद के मत्रो में सुनाई पडती है।

इस वश के सबध में न केवल सब पुराण एकमत हैं, वरन् इन नामो को ऋग्वेद से जो समर्थन प्राप्त होता है उससे पुराण वशावली की विश्वसनीयता दृढता से प्रमाणित हो जाती है। उत्तर पचाल के इस सुप्रथित देश में भृम्यश्व, मुद्गल, वध्र्यश्व, दिवोदास, मित्रयु, सृजय, च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक नामक राजा हुए।

सोमक हस्तिनापुर के पौरव राजा कुरु के समकालीन थे। भृम्यश्व के पुत्र मुद्गल का नाम भार्म्यश्व भी था। वध्र्यश्व को ऋक् १०।६९।१ में दिवोदास का पिता कहा गया है। सृंजय (ऋ० ४।१५।४) और च्यवन (ऋ० १०।६९।५६) का भी उल्लेख है। च्यवन का ही दूसरा नाम पचजन था, जो पिजवन का ही दूसरा पाठ है। उनके पुत्र पैजवन सुदास (ऋ० ७।१८।२२) को दिवोदास का वशज कहा गया है (ऋ० ७।१८।५५)। सुदास के सहदेव और सहदेव के सोमक हुए।

इस युग मे पचाल ने हस्तिनापुर के वश को आत्मसात् कर रखा था और दोनो ही अपने आपको समान रूप से भारत मानते थे।

इसी कारण महाभारत में भी यत्रतत्र कुरु पाडवो को, जो हस्तिनापुर की प्रधान पौरव शाखा में हुए, उत्तर पचाल के राजाओ के वशज मानकर सृंजय और सोमक विशेषण दिये गए है।

पौरव-राजावली का तीसरा भाग—कुरु से पाडवोतक

हस्तिनापुर की प्रधान पौरव शाखा मे कुरु के जन्म लेने पर इस वश का पुन भाग्योदय हुआ। कुरु के तीन पुत्र हुए—ज्येष्ठ पुत्र परीक्षित् प्रथम, तब जह्नु और सुधन्वा। परीक्षित् प्रथम का पुत्र जनमेजय हुआ। इसी वश में पहले पुरु के पुत्र का नाम जनमेजय था। अतएव परीक्षित के पुत्र को स्पष्टता के लिए जनमेजय द्वितीय कहना उपयुक्त होगा। अभाग्यवश इस पारीक्षित जनमेजय की गार्ग्य ऋषि से करारी खटपट हो गई, जिस के कारण गार्ग्य ने उसे शाप दिया, और कहा जाता है कि समस्त पौरव प्रजा ने अपने राजा का परित्याग कर दिया। दुखी पारीक्षित जनमेजय ऋषि इद्रोत दैवाप शौनक की शरण में गया। ऋषि ने उसे अश्वमेध यज्ञ द्वारा शुद्ध और पुन प्रतिष्ठित करना चाहा, किन्तु जनमेजय द्वितीय का वश लुप्त ही हो गया।

इस पारीक्षित जनमेजय के पुत्र श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन तीन पारीक्षितीय थे, किन्तु पिता के अपराध से वशावली में उन्हें स्थान नही मिला। अतएव पौरव राजा कुरु के दूसरे पुत्र जह्नु से अग्रिम वशावली चली। महाभारत में इनके बाद राजाओ की दो वशावलिया आपस में अन-

मिल है। मुख्य बात यह है कि दूसरी वशावली में सार्वभौम आदि दम राजाओ के नाम जो पारीक्षित जनमेजय के बाद आने चाहिए किसी गड-बडी के कारण मतिनार से पहले गिना दिये गए है। महाभारत की प्रथम वशावली में यह घोटाला नही है और पुराणो के साथ उसका पूरा मेल है। उसे सशोधित करके जो छत्र-क्रम निश्चित किया गया है वह इस प्रकार है।

जह्नु का पुत्र सुरथ या विदूरथ—सार्वभौम—जयत्सेन–अराधिन् महाभौम अयुतायु–अक्रोधन– देवातिथि– ऋक्ष द्वितीय–भीमसेन–दिलीप –प्रतीप (ऋष्टिषेण)–शान्तनु–(भीष्म)–विचित्रवीर्य–धृतराष्ट्र–पाडव– अभिमन्यु, परीक्षित् द्वितीय–जनमेजय तृतीय।

यही पौरव वशावली का मूल ठाठ है जिसमे ययातिपुत्र पुरु से लेकर अभिमन्युतक के राजाओ की आनुपूर्वी स्पष्टता से समझी जा सकती है। महाभारत के कथा-प्रसग मे अनेक बार इन नामो की पनरावृत्ति होती रहेगी। उनके अते-पते के लिए इस प्रकरण की राज-सूची को बार-बार देखना या ध्यान में रखना आवश्यक होगा। इसी कारण अल्परस होते हुए भी आरम्भ में इस विषय का उपन्यास कर दिया गया है।

पार्जिटर महोदय ने पैनी न्यायाधीश बुद्धि से पुराणो की और महाभारत की समग्र उपलब्ध सामग्री का सकलन और तुलनात्मक अध्ययन करके हस्तिनापुर के पौरव और अयोध्या के इक्ष्वाकु आदि प्राचीन राजवशो की आनुपूर्वी और समसामयिकता का निरूपण किया था। उसीके आधार पर ऊपर का विवेचन किया गया है जिसके लिए हम उनके अनुगृहीत है।

: ७ :

भीष्म का उदात्त चरित

सभव-पर्व के अवशिष्ट चित्रपट पर हमें एक अमित महिमाशाली विभूति के दर्शन होते हैं। यह महापुरुष बाल ब्रह्मचारी पितामह भीष्म है। शातनु के पुत्र गागेय भीष्म महाभारत युग की सभ्यता के उत्कृष्ट प्रतीक है। उनका जन्मनाम देवव्रत था, बाद मे आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत की कठिन

प्रतिज्ञा करने के कारण वह भीष्म नाम से विख्यात हुए।

भीष्म का चरित गाम्भीर्य में समुद्र के तुल्य और उच्चता में हिमवान् के समान है। अगाध पाडित्य, अतुलित शरीरबल एव बहुमुखी प्रज्ञा, जो उस युग की विशेषताए थी, इनकी साकार मूर्त्ति भीष्म हैं। वह नानाविध लोक्य धर्मो के भडार थे, युद्ध की कलाओ में पारगत और शांति धर्म की युक्तियो मे परिनिष्णात थे। राजनीति और दडनीति, अध्यात्म और नि श्रेयस् मे सबधित जीवन और ज्ञान का कोई पक्ष ऐसा नही दीखता, जिसका उत्कृष्ट विकास भीष्म के चरित में न पाया जाता हो। महाभारत की घटनाओ का जो भरा-पूरा चलचित्र है, उसके देवकल्प मानवो में पितामह भीष्म महाहिमवत के ऊचे शिखर की भाति सर्वाभिभावी रूप में दिखाई पड़ते है। उनका निर्मल चरित्र समग्र राष्ट्र की अन्तरात्मा मे व्याप्त हो गया है। यद्यपि आजन्म ब्रह्मचारी होने के कारण उनका अपना वश नही चला, तथापि प्राचीन भारतीय श्राद्ध-विधि के अनुसार सब व्यक्ति पितामह भीष्म के प्रति शाश्वत श्रद्धा अर्पित करते है, मानो वे सबके ही पूर्व पुरुप बन गए हो। भारतीय सस्कृति में जल सुन्दरता, पवित्रता और सत्यता का प्रतीक है। इन तीन गुणो मे युक्त भीष्म के लिए हम सब अपनी सावत्सरिक जलाजलि अर्पित करते है। महाभारत-युग मे भी भीष्म के समान दूसरा कोई ज्ञानी न था। शांति-पर्व और अनुशासन-पर्व के राजधर्म और मोक्षधर्मो से सबध रखनेवाले सवाद महामहिम भीष्म की विशाल प्रज्ञा के अमर कीर्तिस्तम्भ है।

भीष्म का जन्म

पौरव-वश मे प्रतीप नामक राजा हुए। उनके तीन पुत्र थे—देवापि, शन्तनु और वाल्हीक। ज्येष्ठ पुत्र देवापि ने वैराग्यवान् होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। तब शन्तनु ने राज्य ग्रहण किया। इन्ही शन्तनु के पुत्र देवव्रत भीष्म थे।

कथा है कि एक बार राजा प्रतीप गगातटवासी होकर जप करने लगे। उनकी लुभावनी आकृति देखकर दिव्यरूपा एक मनस्विनी सुन्दरी उनके समीप आई। राजा ने पूछा—"हे कल्याणी, तुम्हारी क्या इच्छा है ? मै

तुम्हारा क्या अभीष्ट पूरा करू ?"

उस सुन्दरी ने कहा—"हे राजन्, मैं तुम्हे चाहती हू। तुम मुझे स्वीकार करो। कामवती स्त्री का त्याग अनुचित माना गया है।"

प्रतीप ने कहा—"हे सुन्दरी, मेरा व्रत है कि मैं कभी कामवश होकर पराई और असवर्णा स्त्री का सपर्क न करूगा।"

स्त्री ने कहा—"राजन्, मैं किसी प्रकार हीन नही और न अगम्या हू, मेरा विवाह नही हुआ है, मै अभी कुमारी हू, अतएव मुझे स्वीकार करो।"

प्रतीप ने उत्तर दिया—"तुम्हारी यह प्रिय प्रार्थना मेरे चरित्र से वाहर की वात है। धर्म का विप्लव मुझसे न होगा, और फिर तुम मेरे दक्षिण उरु भाग की ओर आकर वैठी हो, जो कि पुत्री और पुत्रवधू का स्थान है। स्त्रियो के लिए वाम भाग उचित स्थान है, वह तुमने छोड दिया। अतएव मै अपने पुत्र के लिए तुम्हें स्वीकार करता हू। हे कल्याणी, तुम मेरी पुत्रवधू वनो।" उस स्त्री ने यह सुनकर तुरन्त स्वीकृति देदी।

प्रतीप के शन्तनु नामक पुत्र ने जव यौवन में पदार्पण किया तव पिता ने पुत्र से कहा—'हे शन्तनु, पहले एक स्त्री मेरे पास आई थी और मैंने उसे तुम्हारे कल्याण के लिए स्वीकार कर लिया था। यदि एकात मे वह तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो तो मेरी आज्ञा से तुम उसे स्वीकार कर लेना।" पुत्र से ऐसा कह और उसका राज्याभिषेक करके प्रतीप स्वय वनवासी हो गए।

पृथिवी में प्रख्यात धनुर्धर राजा शन्तनु मृगयाशील वनकर एक वार गगातट पर विचर रहे थे। वहा उन्होने उसी रूपवती स्त्री को देखा और मोहित होकर वोले—'हे सुरसुन्दरी, तुम देवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी या मानुषी कोई भी हो, तुम मेरी भार्या वनो।"

यह सुनकर उन स्त्री ने मन्द मुसकान से चित्त प्रसन्न करते हुए कहा—"हे महीपाल, मैं तुम्हारी वशवर्तिनी पटरानी वनूगी, किन्तु एक शर्त है—शुभ या अशुभ मैं कुछ भी करू, मुझे रोकना मत और न कोई अप्रिय वचन कहना। इस प्रकार तो मैं तुम्हारे समीप वास करूगी, अन्यथा छोडकर चली जाऊगी।" राजा ने इसे स्वीकार किया।

यह स्त्री साक्षात् स्वर्ग की नदी दिव्य-रूपिणी गगा थी, जिसे शापवश

मानुषी शरीर में आना पड़ा था। उसके साथ संवत्सरों तक यथाकाम विहार करते हुए राजा ने आठ पुत्र उत्पन्न किये। जन्म के बाद प्रत्येक पुत्र को वह गंगाजल में डाल देती थी। शन्तनु को यह बात अच्छी न लगी, किन्तु त्याग के भय से कुछ कह न सके। जब आठवें पुत्र का जन्म हुआ तब वह उसी प्रकार मुसकराई, किन्तु राजा दुःख से व्यथित हो गए और उन्होंने पूछा—"तुम पुत्रों की हिंसा क्यों करती हो? यह महापाप मत करो।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"हे पुत्रकाम, तुम्हारे पुत्रों को अब मैं न मारूंगी। मेरा यहां निवास अब समाप्त हुआ, जैसा हम दोनों का वचन था। ये आठ पुत्र अष्ट वसुओं के अवतार थे। मैं स्वयं गंगा हूं। इनकी धात्री और जननी होने के लिए मानुषी रूप में आई थी। इन्हें शाप से मुक्त करने के लिए जन्म के अनन्तर इन्हें मैं जल में डालती रही हूं। मेरा यह अन्तिम पुत्र है, इसका तुम पालन करना। मैं अब जाऊंगी। तुम्हारा कल्याण हो।" यह कहकर वह देवी अपने पुत्र को लेकर अन्तर्धान हो गई और शन्तनु नगर को लौट आये। शन्तनु का यह पुत्र देवव्रत और गांगेय इन दो नामों से प्रसिद्ध हुआ।

देवव्रत गांगेय माता के साथ रहते हुए रूप, कर्म, वृत्त और ज्ञान से युक्त होकर पार्थिव और दिव्य सब अस्त्रों में निष्णात हो गए और महाबल, महासत्त्व, महावीर्य और महारथ कहलाने लगे। एक बार शन्तनु मृगया के लिए गंगातीर पर विचरते हुए क्या देखते हैं कि नदी का प्रवाह रुक गया है। इसका कारण जानने के लिए उन्होंने इधर-उधर देखा तो उन्हें एक रूपसम्पन्न बृहदाकार कुमार दिखाई पड़ा जो दिव्य अस्त्रों का अभ्यास कर रहा था। उसने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से गंगा को भर दिया था। उसके इस अतिमानवी कर्म से राजा विस्मित हो गए। उन्होंने अपने पुत्र को जन्म के बाद एक बार ही पहले देखा था, अतएव वह उसे पहचान न सके। वह कुमार उन्हें देखकर अदृश्य हो गया।

कुछ देर में गंगा उस अलंकृत कुमार को लेकर सामने उपस्थित हुई और बोली—"राजन्, जिस आठवें पुत्र को पूर्व काल में आपने उत्पन्न किया था, वही यह है। आप कृपया इसे घर ले जायं। इसने वसिष्ठ से सांग वेदों का अध्ययन किया है। यह महाधनुर्धारी और अस्त्रविद्या में अभ्यस्त है तथा

देव और असुर सब इसका आदर करते हैं। उशना कवि जिस शास्त्र को जानते हैं और अगिरा के पुत्र बृहस्पति जिस शास्त्र के ममर्ज्ञ हैं वे निखिल शास्त्र इस महाबाहु में प्रतिष्ठित हैं। प्रतापी जामदग्न्य राम जिस अस्त्र को जानते हैं, वह भी इसको प्राप्त है। राजधर्म एव अर्थशास्त्र के पडित महाधनुर्धर इस पुत्र को मैं आपको अर्पित करती हू। आप इस वीर को घर ले जाय।"

उसके ऐसा कहने पर पौरवराज शन्तनु अपने पुत्र के साथ हस्तिनापुर को लौट आये। वहा उन्होंने पौरवो के समक्ष युवराज पद पर उसका अभिषेक किया। देवव्रत ने भी अपने आचार से पिता, पौरव प्रजा और राष्ट्र का अनुरजन किया।

सत्यवती-शन्तनु-विवाह

इस प्रकार चार वर्ष व्यतीत होने पर एक वार शन्तनु यमुना के किनारे वन में गए। वहा उन्हें एक ओर से उग्र गध आती हुई जान पडी। उसकी खोज में चलते हुए उन्हें देवरूपिणी एक कन्या दिखाई दी। उन्होंने पूछा—"हे सुदरी, तुम किसकी पुत्री हो और क्या करती हो ?"

कन्या ने उत्तर दिया—"मैं दाशो के राजा की पुत्री हू और पिता की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाकर लोगो को पार उतारती हू। यह मेरा कुतूहल है।"

उसके रूपमाधुर्य और शरीरसौरभ से लुब्ध होकर शन्तनु उसपर मोहित हो गए और उसके पिता से उन्होंने उसकी याचना की। दाशराज ने उत्तर दिया—"मैं इसके जन्म से ही इसे किसी योग्य वर को देने की इच्छा करता रहा हू, पर मेरे हृदय में एक कामना है उसे सुनो—यदि तुम इसे अपनी धर्मपत्नी बनाना चाहते हो तो सत्यपरायण होकर मेरे साथ शर्त करो। प्रतिज्ञा के साथ ही मैं तुम्हें यह कन्या दे सकता हू।"

शन्तनु ने कहा—"अपना वर बताओ, उसे मैं पूरा कर सकूगा या नही, यदि देने योग्य होगा तो दूगा, अदेय होगा तो नही।"

दाशो के राजा ने कहा —"इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही राजा बनेगा। तुम्हारे बाद उसीका अभिषेक किया जायगा, दूसरे का नही।"

शन्तनु के चरणो में सत्यवती को समर्पित किया। उनके उस दुष्कर कर्म की चारो ओर प्रशसा होने लगी। शन्तनु ने भीष्म के उस दुष्कर कर्म से प्रसन्न होकर स्वय वरदान दिया —"हे पुत्र, तुम्हे इच्छा-मरण प्राप्त हो।"

विचित्रवीर्य का विवाह और देहान्त

सत्यवती और शन्तनु का विवाह हो जाने पर उनके चित्रागद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। विचित्रवीर्य छोटे ही थे कि शन्तनु कालधर्म को प्राप्त हो गए। तब भीष्म ने सत्यवती की सम्मति से चित्रागद को राजा बनाया। चित्रागद ने अपने शौर्य के दर्प से सब राजाओ को चुनौती दी। वह अपने बराबर किसीको भी न समझता था। उसकी उस चुनौती को सुनकर गधर्व देश का बलवान राजा कुरुक्षेत्र पर चढ आया और हिरण्यवती नदी के तीर पर तीन वर्षतक दोनो का घोर सग्राम होता रहा, जिसमें गधर्वराज के हाथ से कुरुराज की मृत्यु हो गई। भीष्म ने विधिपूर्वक उसका प्रेतकार्य कराया। छोटे भाई विचित्रवीर्य उस समय बालक थे, फिर भी भीष्म ने कुरुराज के आसन पर उनका अभिषेक कर दिया और स्वय सत्यवती की सम्मति से राज्य का पालन करने लगे।

विचित्रवीर्य के युवा होने पर भीष्म को उनके विवाह की चिन्ता हुई। उन्हे विदित हुआ कि काशिराज की तीन कन्याओ का स्वयवर होनेवाला है। माता की आज्ञा लेकर वह वाराणसीपुरी आये। स्वयवर में जब राजाओ के नामो का कीर्तन हो रहा था तब भीष्म ने स्वय उन तीनो कन्याओ का हरण कर उन्हें रथ पर बैठा लिया और राजाओ को ललकारते हुए कहा—"कई प्रकार के विवाह बुद्धिमान पुरुषो ने कहे है। क्षत्रिय लोग उनमे से स्वयवर की प्रशसा करते है और उसमें सम्मिलित होते है। धर्मवादियो का मत है कि उसमे भी युद्ध करके जिस कन्या को हर लिया जाय वह सबसे उत्तम है। इसलिए मै इनको बलपूर्वक लिये जाता हू। तुममे से जो चाहे मुझसे युद्ध करे।"

यह कह उन्होने रथ चला दिया। सब राजा क्रुद्ध हो गए। आभूषण उतारकर उन्होने कवच पहना और रथ पर चढकर भीष्म का पीछा किया। उन सबका अकेले भीष्म के साथ लोमहर्षण सग्राम हुआ। सबको जीतकर

भीष्म कन्याओ के साथ भरतवशी क्षत्रियो के पास लौट आये। पीछे से महारथी शाल्वराज ने उनपर प्रचड आक्रमण किया, मानो हथिनी के कारण कोई गजेंद्र दूसरे गजराज के पृष्ठभाग को अपने दातो से तोड रहा हो। शाल्वराज ने पुकार कर कहा—"ऐ स्त्रीकामुक, ठहर, ठहर।"

उस वाक्य से चोट खाकर भीष्म निर्धूम अग्नि की तरह जलने लगे और शाल्व की ओर अपना रथ मोड दिया। भीष्म और शाल्व गरजते हुए दो साडो के समान भिड गए। भीष्म ने शाल्व के सारथी, रथ और अश्वो का निपात करके उसे जीवित ही छोड दिया और स्वय हस्तिनापुर लौट आये।

उन कन्याओ को धर्मात्मा भीष्म ने अपनी पुत्री, बहन और पुत्रवधू के भाव से ही ग्रहण किया था। अतएव अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए उन्हें अर्पित कर दिया और सत्यवती की सम्मति से विचित्रवीर्य के विवाह का प्रबन्ध किया।

तब काशीपति की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ने कहा—"मैंने सौभपति शाल्व को मन से अपना पति वर लिया था। वह भी मुझे चाहता था। मेरे पिता की भी यही इच्छा थी। स्वयवर में मैं उसे ही वरती। हे धर्मज्ञ, यह जानकर धर्म का पालन करो।"

यह सुनकर भीष्म विचार मे पड गए। वेदज्ञ ब्राह्मणो के साथ मत्रणा करके उन्होंने अम्बा को जाने की आज्ञा दे दी तथा अम्बिका और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया। दोनो कन्याए अनुरूप पति पाकर प्रसन्न हुई। सौंदर्य मे अश्विनीकुमार के समान विचित्रवीर्य सात वर्षतक उनके साथ रमण करता रहा। तरुण होने पर भी अन्त मे वह यक्ष्मा से ग्रसित हो गया। आप्त चिकित्सको के उपाय विफल होने पर वह सूर्य के समान अस्त होकर यमलोक सिधार गया।

कुल-ततु के लोप की समस्या

इस मर्मभेदी घटना से सत्यवती अत्यत दीन और दयनीय दशा को प्राप्त हो गई। दोनो पुत्रवधुओ के साथ उसने पुत्र के लिए प्रेतकार्य किया। फिर उस मानिनी ने धर्माचार, पितृवश, मातृवश, इन सबकी आवश्यकताओ

को सोचकर गागेय भीष्म से यह कहने का साहस किया—"यशस्वी शन्तनु का पिण्ड, कीर्ति और सन्तान अब तुम पर ही निर्भर हैं। जिस प्रकार शुभ कार्य करने से स्वर्ग-प्राप्ति ध्रुव है, जिस प्रकार प्राणियो की आयु ध्रुव है, वैसे ही सत्यात्मा, तुममें धर्म की स्थिति ध्रुव है। हे धर्मज्ञ, समास और विस्तार से तुम धर्मों को जानते हो, विविध श्रुतियो को जानते हो और सब वेदो को भी जानते हो। धर्म मे तुम्हारी स्थिति और अपने कुल के आचार को मैं देखती हू तथा यह भी सोचती हू कि कठिन स्थिति मे भी तुम शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान उपाय करने मे समर्थ हो। इसलिए अपने मन को धीरज देकर तुमसे कुछ कहती हू। सुनकर उसे ग्रहण करना। मेरा पुत्र और तुम्हारा प्रिय भाई अपुत्र ही स्वर्ग चला गया। ये दोनो रानिया रूप-यौवन से युक्त है और पुत्र के लिए सकाम हैं। हे भारत, हमारे कुल की सतति के लिए इनमें अपत्य उत्पन्न करो। हे महाभाग, मेरा वचन मानकर तुम इस धर्म में प्रवृत्त हो। राज्य मे अपने-आपको अभिषिक्त करो और भरतो की रक्षा करो।"

सत्यवती के यह वचन सुन धर्मात्मा भीष्म ने कहा—"हे माता, नि-सन्देह तुमने धर्म की बात कही है, किन्तु सन्तान के सबध में तुम मेरी उस परम प्रतिज्ञा को जानती हो। तुम यह भी जानती हो कि तुम्हारे विवाह के पूर्व तुम्हारे पिता ने क्या शुल्क मागा था और उस समय क्या घटना घटी थी। हे सत्यवती, आज मैं पुन तुम्हारे सामने वही सत्य प्रतिज्ञा करता हू। मैं त्रिलोकी को चाहे छोड दू, देवो का राज्य भी त्याग दू, अथवा इन दोनो से अधिक भी किसी वस्तु को त्याग दू, किन्तु सत्य को कभी न छोड़ूगा। चाहे पृथिवी अपनी गध छोड दे, वायु स्पर्श गुण छोड दे, सूर्य प्रभा छोड दे, धूम-केतु उष्णता छोड दे, आकाश शब्द छोड दे, सोम शीतल रश्मिया छोड दे, इन्द्र पराक्रम छोड दे, किन्तु मैं सत्य को कभी नही छोड सकता।"

पुत्र का यह तेजस्वी वचन सुनकर माता सत्यवती ने भीष्म से कहा—"मैं सत्य के विषय में तुम्हारी टेक जानती हू। मैं यह भी जानती हू कि मेरे कारण तुमने पहले जो कहा था वह सत्य ही था, पर अब आपद्धर्म का विचार करके पितृ-पितामह से प्राप्त इस भार को सम्हालो, जिससे कुल-तन्तु का लोप न हो और धर्म का भी पराभव न हो।"

इस प्रकार दीन बनकर गिडगिडाती हुई और सन्तान के लिए धर्म विरहित वचन कहती हुई अपनी माता से भीष्म ने फिर कहा—"हे महा रानी, धर्मो का विचार करो। हम सबका नाश मत सोचो। क्षत्रिय के लिए सत्य से डिग जाना धर्म में नही गिना जाता। हे राज्ञी, मै वह क्षात्र-धर्म तुमसे कहता हू जिसमे शन्तनु का वश पृथिवी पर अक्षय होगा। कृपया उसे सुनो और फिर आपद्धर्म के जाननेवाले वुद्धिमान पुरोहितो के साथ लोक-मर्यादा का विचार करते हुए उसका पालन करो। लोक में इसके अनेक दृष्टात कि आपद्धर्म के समय क्षत्रिय स्त्रियो ने ब्राह्मणो से सतति उत्पन्न की। हे माता, भरत-वश की वृद्धि के लिए तुम भी ऐसा ही करो। किसी गुणवान ब्राह्मण को उपनिमन्त्रित करो, जो स्वर्गस्थ विचित्रवीर्य के क्षेत्र में प्रजा समुत्पन्न करे।"

द्वैपायन व्यास को आमत्रण

यह सुनकर सत्यवती वात को सवारती हुई, कुछ हँसकर, कुछ लजाकर कहने लगी—'हे भीष्म, तुम जैसा कहते हो, सच है। पर तुम पर भरोसा करके कुल-सतति के लिए एक वात कहती हू, उसे अस्वीकार न करना, क्योकि यह आपत्ति का समय ऐसा ही है। तुम्ही हमारे कुल के धर्म हो, तुम्ही सत्य हो, तुम्ही परम गति हो। इसलिए मेरी वात सुनकर जो कर्तव्य हो, करो। हे धर्मात्मन्, मेरे पिता की एक धर्मार्थ नाव चला करती थी। प्रथम यौवन के समय एक वार मैं ही उसे चला रही थी। तव यमुना के पार जाने के लिए महर्षि पराशर मेरी उस डोगी पर आ गए। यमुना पार करते हुए उन्होने कामार्त होकर मुझसे कुछ मीठी वाते की। मैं एक ओर उनके शाप से डरी, दूसरी ओर अपने पिता से, पर सहसा प्रत्याख्यान न कर सकी। मुनि ने मुझ वाला को अपने तेज से वश में कर लिया और चारो ओर अधेरा छाकर नाव में ही मुझमें गर्भ का निधान कर दिया। उससे महायोगी पाराशर्य्य महान् ऋषि द्वैपायन का जन्म हुआ, जो मेरी कन्यावस्था के पुत्र हैं। वह सत्यवादी व्यास मेरे और तुम्हारे अनुरोध को मानकर भाई की इन स्त्रियो से अवश्य ही कल्याणयुक्त सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। उन्होने मुझसे कहा था कि जव कार्य हो, मुझे स्मरण करना। हे भीष्म, यदि तुम चाहो तो मैं उनका

स्मरण करू।"

व्यास का नाम लेने पर भीष्म ने हाथ जोडकर कहा—"धर्म, अर्थ, काम इन तीनो के परस्पर अनुकूल सबधो को और विपरीत भावो को सोचकर बुद्धिपूर्वक जो कार्य करता है वही बुद्धिमान है। धर्म से युक्त और कुल के लिए हितकारी जो श्रेयस्कर बात तुमने कही है वह मुझे रुचिकर है।"

भीष्म के ऐसा कहने पर सत्यवती नें कृष्णद्वैपायन का स्मरण किया और वह वहा आकर उपस्थित हो गए।

पुरोहित ने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और सत्यवती ने कुशलप्रश्न के अनन्तर कहा—"पुत्रो का जन्म माता और पिता दोनो से ही होता है। पिता जैसे उनके स्वामी है, माता भी वैसी ही है। विधाता ने तुम्हें मेरा पहला पुत्र बनाया था। विचित्रवीर्य मेरा छोटा पुत्र था। पिता के अश से जैसे भीष्म है, माता के अश से वैसे ही तुम विचित्रवीर्य के भाई हो। यह भीष्म तो सत्य-प्रतिज्ञा के कारण सन्तान की इच्छा नही करते। तुम भाई के हित के लिए, कुल के वर्द्धन के लिए, भीष्म के वचन से, मेरी आज्ञा से, भूतो पर दया करके सबकी रक्षा के लिए जो मै कहू उसे करो। तुम्हारे छोटे भाई की दो स्त्रिया पुत्रकामा है। हे तात, तुम उनमें अपत्य उत्पन्न करो।"

यह सुनकर व्यास ने उत्तर दिया—"हे सत्यवती, तुम परम धर्म और लौकिक धर्म भी जानती हो। धर्म मे तुम्हारी बुद्धि है, अतएव धर्म का उद्देश्य रखकर तुमने जो आज्ञा दी है, मै उसका पालन करूगा।"

इस प्रकार स्वीकृति देकर व्यास ने अम्बिका से धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया, किन्तु वह जन्म से अधे थे। सत्यवती ने पुन व्यास से निवेदन किया—"हे पुत्र, अधा व्यक्ति कुरुओ का राजा नही बन सकता। अतएव कुरुवश के लिए एक अन्य पुत्र उत्पन्न करो, जो राजा बन सके।"

तब व्यास द्वारा अम्बालिका के गर्भ से पाण्डु का जन्म हुआ जो जन्म से पाण्डुरोगी थे। इस प्रकार विचित्रवीर्य की पत्नियो मे द्वैपायन व्यास द्वारा कुरुवश का विवर्धन करनेवाले देवोपम पुत्र उत्पन्न हुए। इसी अवसर पर ज्येष्ठ रानी की दासी से प्रज्ञावान विदुर का भी जन्म हुआ। तदनन्तर वे तीनो कुमार कालक्रम से सवर्द्धित होने लगे।

: ८ :

कौरव-पाण्डवों का बाल्यकाल

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीनो कुमारो के जन्म लेने पर पृथिवी में नए प्रकार का जन-मगल प्रारम्भ हुआ। कुरु-जनपद, कुरु जागल और कुरु-क्षेत्र इन तीन भौगोलिक भागो में बटे हुए भू-प्रदेश का सवर्द्धन हुआ। कुरु-क्षत्रियो ने अपने जनपद में अनेक कूप, आराम, सभा, वापी और ब्राह्मणो के निवास के लिए आवसथ आदि का निर्माण किया।

भीष्म के द्वारा शास्त्रानुकूल राज्य की रक्षा होने पर वह जनपद सब ओर से रमणीय हो उठा। उसमें सैकडो चैत्य-वृक्ष और यज्ञिय यूप प्रतिष्ठापित हुए। राष्ट्र में धर्मचक्र व्याप्त हो गया। पौर-जानपद लोगो मे निरन्तर उत्सव होने लगे। कुरु-मुख्य क्षत्रियो के घरो में एव पुरवासियो के आवासो में 'दान लीजिए', 'भोजन कीजिए' इस प्रकार का घोष सब ओर सुनाई पडने लगा। वणिक और शिल्पी आकर नगर में भर गए। अनेक द्वार, तोरण और प्रासादो से वह पुरी अमरावती के समान सुशोभित हुई।

भीष्म ने जन्म से तीनो कुमारो का परिपालन किया और ब्रह्मचर्य-व्रत एव अध्ययन सम्बन्धी सस्कार यथासमय किये। धनुर्वेद, घोडे की सवारी, गजशिक्षा, गदायुद्ध, ढाल-तलवार का कौशल, नीतिशास्त्र, इतिहास-पुराण, वेद-वेदाग और अन्य शिक्षाए उनके अध्ययन के अन्तर्गत थी। यथाविधि शारीरिक श्रम और व्यायाम का भी उन्हें अभ्यास कराया गया।

धृतराष्ट्र और पाण्डु का विवाह

क्रमश वे कुमार यौवन को प्राप्त हुए। भीष्म ने विचार मन मे किया—"हमारा यह प्रसिद्ध कुल आज पृथिवी मे अन्य सब राजाओ से बढकर है। इसे अधिराज्य की प्रतिष्ठा प्राप्त है। अब सब प्रकार फूलते-फलते हुए इस परिवार के इन युवा कुमारो का विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए, क्योकि ये कुल के ततु है।" भली प्रकार अपने मन मे विचार करके और विदुर से परामर्श कर भीष्म ने धृतराष्ट्र का विवाह गाधार देश के राजा सुबल की

पुत्री गाधारी से कर दिया। धर्मचारिणी गाधारी ने जब यह सुना कि धृतराष्ट्र नेत्रहीन हैं, तभी से उसने पतिव्रत-धर्म का सकल्प लेकर अपने नेत्रो पर पट्टी बाध ली। उसने यह निश्चय किया कि मै भोग या सुख के अनुभव में किसी भी प्रकार अपने पति से आगे न जाऊगी। गाधारराज का पुत्र शकुनि अपनी बहन के साथ बहुत-सा साज-सामान लेकर हस्तिनापुर आया और विधिपूर्वक उसे कौरवो को सौपकर भीष्म से पूजित हो अपने नगर को लौट गया।

दूसरे कुमार पाडु का विवाह यदुवश में उत्पन्न शूर की पुत्री और वसुदेव की बहन पृथा से हुआ। शूर ने पृथा को अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को, जिसके सतान न थी, गोद दे दिया था। पिता कुन्तिभोज के घर में कुन्ती ने दुर्वासा नाम के ऋषि को प्रसन्न किया। मुनि दुर्वासा ने उसे एक मत्र देकर कहा—"इस मत्र से तुम जिस देव का आवाहन करोगी, उसकी कृपा से तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा।" कुन्ती ने कुतूहलवश कौमार अवस्था में ही सूर्य को बुला लिया। उसके सयोग से कुन्ती के गर्भ से कर्ण का जन्म हुआ। अपने सम्बन्धियो से डरकर कुन्ती ने पुत्र को छिपाने के लिए जल के समीप डाल दिया। एक सूत ने उस शिशु को देखकर उठा लिया और अपनी पत्नी राधा को पालन करने के लिए दे दिया। दोनो ने उस बालक का नाम वसुषेण रखा।

कुछ समय बाद भीष्म को ज्ञात हुआ कि मद्र-जनपद के राजा की पुत्री माद्री रूप मे अद्वितीय है। उन्होने मद्रराज को बहुत-सा धन देकर उसे पाडु के लिए प्राप्त कर लिया और दोनो का विवाह कर दिया।

इधर पाडु ने पृथिवी की दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दशार्ण, मगध, विदेह, काशी, सुह्म और पुण्ड्र देशो के राजा पाडुरूपी अग्नि मे भस्म हो गए। अधिराज्य-प्रणाली के अनुसार उन्होने कुरुदेश के राजा को कर देना स्वीकार किया। धृतराष्ट्र की अनुज्ञा से पाडु ने वह धन भीष्म और सत्यवती के सामने लाकर रख दिया और उनकी अनुमति से धृतराष्ट्र ने अनेक अश्वमेध-यज्ञ किये।

उनके अनतर पाण्डु मृगया के लिए हिमालय के दक्षिण पार्श्व में फैले हुए रम्य शाल-वन में चले गए और कुन्ती तथा माद्री के साथ वहीं विहार

करने लगे। समय वीतने पर गाधारी से १०० पुत्रो का और एक वैश्य स्त्री से एक पुत्र का जन्म हुआ। इस प्रकार धृतराष्ट्र के १०१ पुत्र हुए। इनमे दुर्योधन, दु शासन, युयुत्सु, दु शल, विन्द और अनुविन्द मुख्य थे। दु शला नाम की एक कन्या हुई, जिसका विवाह सिधु-देश के राजा जयद्रथ से हुआ।

पाण्डवो का जन्म

राजा पाडु अपनी दोनो पत्नियो के साथ वन में रहते थे। उन्होने निश्चय किया कि वह ग्राम्य सुखो को त्यागकर आरण्यक मुनियो के धर्म का पालन करेंगे। कुन्ती और माद्री ने भी उनके इस प्रस्ताव का समर्थन किया और इस व्रत का समाचार हस्तिनापुर भी भेज दिया।

हिमालय में विचरते हुए पाण्डु गध-मादन पर्वत के उस प्रदेश में पहुच गए, जहा नित्य वरफ जमी रहती है और वृक्ष, पशु या पक्षी कोई नही रहता।

कथा है कि किसी मृग के शाप से पाडु की पुसत्व-शक्ति नष्ट हो गई थी, फिर भी उन्हें यह चिता हुई कि अपत्य के विना गति नही होती। अतएव उन्होने कुन्ती को सन्तानोत्पादन के लिए नियोग की आज्ञा दी, किन्तु कुन्ती ने उत्तर दिया—"हे धर्मज्ञ, आपका ऐसा कथन उचित नही है। मैं आपकी धर्मपत्नी हू। मन से भी दूसरे का वरण न करूगी। आप ही मुझमे सतान उत्पन्न कीजिए।"

पाण्डु ने कहा—"हे कुती, तुम इस पुराने धर्म को सुनो—"पूर्वकाल में स्त्रिया स्वतत्र थी और इच्छानुसार विहार करती थी। कौमार अवस्था से ही पतियो के पास जाने पर भी उन्हें अधर्म नही होता था। यह पुराण-दृष्ट धर्म आज भी उत्तर-कुरुदेश में प्रचलित है। स्त्रियो का अनुग्रह करने-वाला यह सनातन धर्म है। हमारे लोक में कुछ ही काल से उद्दालक मुनि के पुत्र श्वेतकेतु ने यह मर्यादा वाघ दी है कि जो स्त्री पति का अतिक्रमण करेगी उसे पातक लगेगा। इसी प्रकार जो पुरुप अपनी कौमारी और ब्रह्मचारिणी, भार्या का उल्लघन करेगा वह भी पाप का भागी होगा। श्वेतकेतु ने यह भी मर्यादा स्थिर की कि पति की आज्ञा से सतान के लिए जो स्त्री नियोग न करेगी वह भी दोपयुक्त होगी। स्वय प्रजनन की अशक्ति से और पुत्रदर्शन की लालसा से, हे सुन्दरी, मैं हाथ जोडकर तुमसे प्रार्थना करता हू

कि तुम किसी तपस्वी द्विजाति से नियोग करो। तुम्हारी कृपा से मैं पुत्रवान् कहलाऊगा।"

पाण्डु का ऐसा आग्रह देखकर कुती ने पुरानी कथा सुनाई और कहा—"पिता के घर मुझे दुर्वासा मुनि ने कुछ मत्र सिखाये थे, जिनके द्वारा मैं जिस देवता का आवाहन करू, वह अकाम हो या सकाम, मेरे वश में हो जायगा। उस ब्राह्मण की वाणी का सत्य होने का समय अव आ गया है।"

यह सुनकर पाडु प्रसन्न हुए और उन्होने तत्काल धर्म के आवाहन के लिए कुती को आज्ञा दी। कुन्ती को धर्म से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पाडु की प्रथम सतान युधिष्ठिर थे। इसके वाद कुती ने वायु से भीम, और इन्द्र से अर्जुन नामक पुत्रो को उत्पन्न किया। जिस दिन भीम का जन्म हुआ उसी दिन दुर्योधन का भी। भीम का शरीर वज्र के समान था।

कुती के पुत्रो का जन्म होने पर माद्री ने एकात में पाडु से कहा—"आपके अशक्त होने का मुझे सताप नही है और न कुती की अपेक्षा अपने घटे हुए पद का शोक है, किंतु गाधारी के सौ पुत्रो का जन्म सुनकर भी जो दुःख मुझे नही हुआ, वह मुझे अपने अपुत्र रह जाने का है। हे राजन्, यदि कुती मेरे ऊपर कृपा कर दे तो मैं भी पुत्रवती वन जाऊ, और आपका भी भला हो। कुती मेरी सपत्नी है। मेरे लिए उससे ऐसी प्रार्थना करना हेठी की वात है। पर यदि आप प्रसन्न हैं तो अपनी ओर से आप उसे इसके लिए प्रेरित करे।"

पाडु ने इसका समर्थन किया और एकात में कुती से कहा—"प्रिये, माद्री के लिए भी सतान का प्रवन्ध करो और जैसे डोगी में बैठाकर उसे इस कष्ट से पार उतारो।"

यह सुनकर कुती ने माद्री को भी देवता के चिन्तन का वह उपाय वताया। तदनुसार दोनो अश्विनीकुमारो से माद्री के नकुल और सहदेव नामक जुडवा पुत्र हुए। एक वर्ष वाद पाण्डु ने पुन कुती को माद्री की सहायता के लिए प्रेरित किया। परन्तु कुती ने उत्तर दिया—"माद्री को मैंने एक वार मत्र वताया, किंतु उसने दो पुत्र उत्पन्न करके मुझे ठग लिया। कही यह फिर ऐसा करके मुझे नीचा न दिखा दे। स्त्रियो की गति ऐसी ही होती है। मैं मूढ थी, पहले इसे नही समझी कि दो का आवाहन करने मे

फल भी दो हो सकते है। अतएव अब आप मुझे बाधित न करें।"

पाडु की मृत्यु

इस प्रकार पाण्डु के पाच पुत्र उस वन मे सवर्द्धित होने लगे। एक बार पाण्डु वसन्त ऋतु में वन की शोभा देखते हुए विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहने हुए उनके पास आई। उसे यौवनवती देखकर पाण्डु के हृदय मे इस प्रकार कामाग्नि धधक उठी जैसे जगल मे दावाग्नि प्रकट हो जाती है। माद्री के समझाने और प्रतिरोध करने पर भी पाडु अपने-आपको वश मे न रख सके, मानो साक्षात मृत्यु ने उनकी बुद्धि को मोह लिया था। माद्री के साथ मिलने से पाडु की मृत्यु हो गई।

माद्री और कुती विलाप करने लगी। माद्री ने कुती से कहा—"तुम अकेली ठहरो और ये पाचो पुत्र भी यही रहे। मै पति के साथ ही मृत्यु का वरण करूगी।" यह कहकर वह पृथिवी पर पाडु के साथ लेट गई।

कुती ने विलाप करते हुए कहा—"मै उस वीर को नित्य बचाती रहती थी। हे माद्री, तुमने कैसे शाप की बात जानते हुए भी मर्यादा का उल्लघन किया ? तुम्हें तो राजा को बचाना चाहिए था। कैसे तुमने ही उन्हें इस प्रकार से एकात में लुभा लिया ?"

माद्री ने कहा—"मेरे बारम्बार निवारण करने पर भी राजा अपने-आपको न रोक सके। भाग्य की बात सच्ची होती है।"

कुती ने कहा—"हे माद्री, मै ज्येष्ठ हू, मैं पति के साथ जाऊगी। तुम उठो और इन बच्चो का पालन करो।"

माद्री ने कहा—"मेरे ही कारण यह इस गति को प्राप्त हुए। अतएव मैं ही यमलोक में इनके साथ जाऊगी। जीवित रहकर भी मैं तुम्हारे पुत्रो के साथ निष्पक्षपात व्यवहार न कर पाऊगी। हे आर्ये, उससे मुझे पाप लगेगा। अतएव मुझे राजा के साथ जाने दो। हे कुती, मेरे पुत्रो के साथ अपने पुत्रो-जैसा बर्ताव करना। अब मेरे शरीर को राजा की देह के साथ अग्नि में भस्म कर दो। मुझे और कुछ कहना नही है।" यह कहकर माद्री पति के साथ चिताग्नि में प्रविष्ट हो गई।

पाडु की इस कथा के पीछे मूल तथ्य यह विदित होता है कि राजयक्ष्मा

जैसी भयकर व्याधि के कारण उनके लिए कामोपभोग निपिद्ध था। कुती यत्नपूर्वक इस विपय में उन्हे वचाती रहती थी। किंतु असावधानी से काममोहित होकर शरीर का मथन हो जाने के कारण पाण्डु की प्राणशक्ति क्षीण हो गई।

पाडु के अवसान के अनन्तर आश्रम के तपस्वियो ने सोचा कि पाडु यहा तप करने आये थे और अपने स्त्री-वालको को हमें सौंपकर स्वर्ग चले गए। अतएव पाडु के स्त्री-पुत्रो को हस्तिनापुर ले जाकर भीष्म को सौप देना चाहिए। यह सोचकर वे सव हस्तिनापुर आये। पौर-जानपद लोगो ने तथा भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, सत्यवती एव गाधारी ने उनका स्वागत किया। तव एक वृद्ध मुनि ने सव समाचार कह सुनाया। सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर को आज्ञा दी कि विधिपूर्वक पाडु का प्रेतकार्य किया जाय।

दो प्रकार के उल्लेख

इस प्रसग मे दो प्रकार के उल्लेख मिलते है। पहले कहा जा चुका है कि हिमालय पर ही पाडु के साथ माद्री अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी (आदि ११६।३१) उसके वाद उल्लेख आता है कि हिमालय के ऋपि कुती को, पाचो पाडवो को और पाडु के शरीर को लेकर हस्तिनापुर आए। (आदि ११७।६)। पुन कहा गया है कि ऋपियो ने यह समाचार दिया—"आज से सत्रह दिन पूर्व पाण्डु का स्वर्गवास हुआ और तव माद्री उनके साथ चिता मे भस्म हो गई। उनके लिए और माद्री के लिए जो प्रेत-कार्य करना हो आप करें। ये उन दोनो के शरीर हैं।" इसके वाद कहा गया है कि पाडु के लिए एक अरथी वनाई गई और उसके शरीर को गध-चदनादिक मे सुवासित कर शुक्ल वस्त्रो मे सजाया गया और माद्री के शरीर के साथ प्रेतकर्म में निष्ठित पुरोहितो के द्वारा उनका दाह-कर्म कराया गया।

ज्ञात होता है कि पाडु का दाह-कर्म हिमालय मे ही मृत्यु के उपरान्त कर दिया गया था। सत्रह दिन वाद हस्तिनापुर मे शरीर लाकर पुन दाह-कर्म करने की कल्पना पीछे मे जोड दी गई। वस्तुत शरीर का पारिभापिक अर्थ, जो कि प्राचीन वौद्ध साहित्य में भी मिलता है, चिता में से वीनी हुई

अस्थियो से था। उन्हे ही मुनि लोग हस्तिनापुर लाये थे।

समाज का आयोजन

पाडु की और्ध्वदैहिक क्रियाओ से निवृत्त होकर माता सत्यवती दोनो वहुओ के साथ वन में चली गई और वहा तप करती हुई मृत्यु को प्राप्त हुई। पाचो पाडव और धृतराष्ट्र के पुत्र एक साथ प्रतिपालित होने लगे। उन्हे शस्त्रास्त्रो की शिक्षा देने के लिए भीष्म ने द्रोण को नियुक्त किया। महाधनुर्धर द्रोण ने उन्हे अपना शिष्य वनाकर शस्त्राभ्यास कराया। न केवल कौरव राजकुमार वरन् नाना देशो के राजपुत्र वृष्णि और अन्धक एव राधापुत्र कर्ण भी गुरु द्रोण से अस्त्र-विद्या सीखने के लिए आये।

अर्जुन के साथ द्रोण की विशेष प्रीति थी और अर्जुन भी गुरुपूजा मे विशेष यत्नवान् रहते थे। अर्जुन रात्रि में भी अभ्यास करते, जिसके कारण उन्हे विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त हुई। द्रोण ने प्रसन्न होकर अर्जुन से कहा—"मैं ऐसा यत्न करूगा, जिससे पृथिवी पर तुम्हारे जैसा कोई दूसरा धनुर्धर न हो और उसके वाद रथ, गज, अश्व, गदायुद्ध, असिचर्या, भाला और शक्ति चलाने की शिक्षा भी द्रोण ने अर्जुन को दी।

कुमारो की शिक्षा समाप्त होने पर द्रोण ने धृतराष्ट्र को इसकी सूचना दी और कहा कि कुमारो को अपना अस्त्र-कौशल दिखाने का अवसर मिलना चाहिए। धृतराष्ट्र ने प्रसन्नतापूर्वक विदुर को आवश्यक प्रवन्ध कराने की आज्ञा दी। तदनुसार रगभूमि में विस्तृत प्रेक्षागार वनाया गया, जिसमें जानपद जन के वैठने के लिए मच वने हुए थे। नियत समय पर गाधारी, कुन्ती आदि सव स्त्रिया, भीष्म, कृपाचार्य और सव प्रमुख लोग प्रेक्षागार मे एकत्र हुए। चारो वर्णों के लोग वहा आये और अनेक प्रकार के वाजे वजने लगे। रगभूमि के मध्य में द्रोणाचार्य सफेद वस्त्र और मालाए पहने हुए अपने पुत्र के साथ उपस्थित हुए। उन्होने आकर प्राचीन प्रथा के अनुसार वलि दी और व्राह्मणो से मगलाचरण कराया। पुण्याहवाचन होने के अनन्तर युधिष्ठिर आदि कुमार कवच पहनकर, फेंटा कसकर, तूणीर वाधकर और हाथ में धनुष लेकर वहा प्रविष्ट हुए।

महाभारतकार ने इस समस्त उत्सव को 'समाज' की सज्ञा दी है।

अशोक के शिलालेखो में भी 'समाज' का उल्लेख आया है। वहा कहा गया है कि अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज हुआ करते थे। जिन समाजो मे हिंसा-परक खेल होते या द्यूत, सुरापान आदि का प्रसग रहता, वे निन्दित समझे जाते थे। उन्हे अशोक ने वर्जित कर दिया था। महाभारत के इस विस्तृत वर्णन में प्राचीन 'समाज' नामक उत्सवो का अच्छा चित्र खीचा गया है।

कर्ण का आगमन

दुर्योधन और भीमसेन ने गदायुद्ध मे अपने-अपने कौशल का परिचय दिया। इसी प्रकार अर्जुन ने भी अपनी धनुर्विद्या का विलक्षण प्रदर्शन किया। इसी समय कर्ण ने रगभूमि में प्रवेश किया और आकर कहा, "मै अर्जुन से द्वद्व-युद्ध करना चाहता हू।"

अर्जुन ने उसे टोका—"तुम विना बुलाये यहा आये हो।"

कर्ण ने उसे चापते हुए उत्तर दिया—"यह रगभूमि है, सबको समान रूप से यहा प्रवेश करने का अधिकार है। हे अर्जुन, इस पर कुछ तुम्हारा ही विशेष अधिकार नही। राजपुत्रो में जो बलवीर्य में श्रेष्ठ है, वही वडा है। धर्म भी बल के पीछे चलता है। इस प्रकार ताना मारने से क्या? यह तो दुर्बलो का सहारा है। मुझसे अपने वाणो से वातचीत करो। गुरु के सामने ही अभी तुम्हारा मस्तक अपने तीरो से अलग करता हू।"

यह परिस्थिति देख कर द्रोण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए अनुमति दी। उधर दुर्योधन ने भी समरोद्यत कर्ण का आलिगन किया। रगभूमि मे कर्ण और अर्जुन को आमने-सामने देखकर आकाश में इन्द्र समेत सब देवता अर्जुन की ओर तथा आदित्य कर्ण की ओर से दर्शक के रूप में स्थित हुए। सब प्रेक्षक दो दलो में बट गए—कौरव कर्ण की ओर और द्रोण, कृपाचार्य एव भीष्म अर्जुन की ओर हुए। समस्त स्त्री और पुरुष भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पक्षपाती बन गए। दोनो पुत्रो को रगभूमि में उद्यत देखकर कुन्ती मूर्च्छित हो गई। होश आने पर उसे विदुर ने समझाया। उसके मन में सताप था, पर ऊपर से कुछ कह न पाती थी।

जिस समय दोनो वीरो ने अपने-अपने धनुष हाथो में उठा लिये, उस समय द्वद्व युद्ध के नियमो को जाननेवाले कृपाचार्य ने बीच में आकर कहा—

"यह कुरुवश में उत्पन्न पृथा का पुत्र और पाण्डु का छोटा कुमार तुम्हारे साथ द्वद्व युद्ध के लिए तैयार है। हे महाबाहु, तुम भी अपने माता-पिता और कुल इन तीनों के विषय में बताओ। उन्हें जानकर ही अर्जुन तुमसे युद्ध करेगा, अथवा न करेगा।" इतना सुनना था कि कर्ण का मुह लज्जा से नीचा हो गया। (आदि १२६।३१, ३२, ३३)

वस्तुत प्राचीन प्रथा के अनुसार द्वद्व युद्ध का यह नियम था कि राजकुल में उत्पन्न व्यक्ति उसी व्यक्ति के साथ प्रहरण-क्रीडा या अखाडे में उतरते थे, जिसने स्वय भी राजकुल में जन्म लिया हो। इसी नियम की उद्घोषणा कृपाचार्य ने ठीक अवसर पर की। प्राचीन यूनान देश की प्रथा भी इसी प्रकार की थी।

कर्ण को इस प्रकार लज्जित देखकर दुर्योधन ने तुरन्त उठकर कहा—"शास्त्र के विचार में राजा तीन तरह से हो सकता है—जो राजकुल में उत्पन्न हुआ हो, जो सेनापति हो अथवा जो शूर हो। यदि अर्जुन ऐसा मानता है कि मैं उसके साथ युद्ध न करूगा जो राजा नही है, तो मैं कर्ण को इसी क्षण अग देश का राजा बनाता हू।" यह कह उसने तत्काल उसका अभिषेक कर दिया।

उसी समय एक ओर से कर्ण का पिता अधिरथ सूत लाठी टेकता हुआ रगभूमि में प्रविष्ट हुआ। उसे देखते ही कर्ण ने धनुप डाल दिया और सिर झुकाकर अभिवादन किया। अधिरथ ने भी स्नेहवश उसका आलिगन किया और अग देश का राज्य प्राप्त होने के समाचार से प्रसन्न होकर आनन्द-जनित अश्रुओ से कर्ण को अभिषिक्त किया।

यह दृश्य देखकर भीमसेन ने चट ताड लिया कि यह सूतपुत्र है और हँसते हुए कहा—"हे सूतपुत्र, तुम इस योग्य नही कि अर्जुन तुम्हारा युद्ध में वध करके तुम्हे गौरव दें। तुम अपने कुल के अनुरूप हाथ में चाबुक लेकर अपना काम करो। तुम अग का राज्य भोगने के योग्य नही हो। क्या कुत्ता अग्नि के समीप रखा हुआ यज्ञ का पुरोडाश कभी पा सकता है?"

इतना सुनना था कि कर्ण के होठ फडकने लगे। वह क्रोध से जलकर फुफ-कार छोडता हुआ सूर्य की ओर देखने लगा। महाबली दुर्योधन क्रोध से उत्तप्त होकर उछलकर सामने आया और भीम को डपटकर कहने लगा—

"अरे वृकोदर, तुझे ऐसे वचन कहना उचित नही। क्षत्रियो का वल ही उनके वडप्पन का कारण होता है। शूरो का और नदियो का जन्म कौन जानता है? और तुम सवकी उत्पत्ति का हाल भी हमे अच्छी तरह ज्ञात है। कुडल-कवच पहने हुए दिव्य लक्षण-सपन्न आदित्य के समान तेजस्वी वाघ को कही हिरनी जन्म दे सकती है? अगराज्य की तो वात क्या, कर्ण अपने वाहुवल से पृथिवी का राज्य करने के योग्य है। यदि किसीको मेरा यह कर्म सहन न हुआ हो तो रथ पर चढ कर या पैदल ही मेरे सामने आकर अपने धनुष की परीक्षा करे।"

दुर्योधन का यह रूप देखकर रगभूमि में हाहाकार मच गया और सूर्य भी अस्त हो गए। तव दुर्योधन कर्ण का हाथ पकडकर रगभूमि से वाहर चला गया। पाडव, द्रोण, कृपाचार्य, भीष्म आदि भी अपने-अपने घर चले गए। कुछ लोग अर्जुन और कुछ कर्ण की प्रशसा करते हुए लौटे। कुन्ती कर्ण को पहचानकर कि यही वह मेरा पहला पुत्र है, मन मे प्रसन्न हुई। दुर्योधन के मन में भी अर्जुन की ओर से जो खुटका वना रहता था, वह कर्ण को पाकर जाता रहा। कर्ण ने शातिपूर्वक सुयोधन का अभिवादन किया। युधिष्ठिर भी मन मे सोचने लगे कि कर्ण के समान पृथिवी में धनुर्धारी नही है।

पिता-पुत्र का षड्यत्र

भीमसेन के वल और अर्जुन की विद्या को देखकर दुर्योधन मन मे जलने लगा तथा कर्ण और शकुनि की सहायता से पाडवो को मारने का उपाय सोचने लगा। पाडवो को भी यह विदित हो गया और वे कुछ न कहते हुए भी विदुर के परामर्श से सजग रहने लगे। इधर पुरवासी लोग पाडु के पुत्रो को देखकर सभाओ में और चत्वर स्थानो में एकत्रहोकर इस प्रकार की चर्चा करने लगे—"धृतराष्ट्र प्रज्ञाचक्षु है। नेत्रहीन होने के कारण ही उन्हें पहले राज्य नही दिया गया था। अव वह राजा कैसे हो सकते है? सत्यसध भीष्म ने भी ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर राज्य त्याग दिया था। वह भी अव राज्य ग्रहण न करेंगे। इसलिए पाडवो में ज्येष्ठ सत्यवादी युधिष्ठिर का ही हम अभिषेक करना चाहते हैं।"

उनकी यह चर्चा सुन-सुनकर दुर्योधन सतप्त हुआ और धृतराष्ट्र के पास

जाकर बोला—"मैंने पौर लोगो की अनिष्ट बातें सुनी हैं। वे तुम्हे और भीष्म को ठुकराकर ज्येष्ठ पाडव को राजा बनाना चाहते हैं। भीष्म की भी ऐसी ही राय है, क्योकि स्वय वह राज्य नही चाहते। पाडु को पहले अपने पिता से राज्य प्राप्त हुआ था। अन्धे होने के कारण तुमको मिलनेवाला राज्य भी न मिल सका। यदि पाडु का उत्तराधिकार ज्येष्ठ पाडव को मिल गया, तो फिर उससे उसके पुत्र को, और उससे उसके उत्तराधिकारियो को मिलता रहेगा। हम अपने पुत्र-पौत्रो के साथ राज्य-वंश से हीन रह जायगे और लोक में सब तरह हमारी हेठी होगी। सदा पराया अन्न खाकर नरक का दुःख हमें भोगना न पड़े, हे राजन्, ऐसा उपाय करो। यदि तुम किसी प्रकार पहले से ही राज्य पर दृढ अधिकार कर लो तो जनता कितनी भी प्रतिकूल हो, निश्चय हमे ही राज्य मिलेगा।"

पुत्र की बात सुनकर धृतराष्ट्र ठमक गए और कुछ सोचकर बोले—"पाण्डु ने पिता-पितामह के राज्य का धर्मपूर्वक पालन किया, मत्री और सेना को भी अनुकूल रखा। उसके गुणवान् पुत्र को, जिसे पुरवासी चाहते हैं, कैसे हम बलपूर्वक धता बता सकते हैं? कही ऐसा न हो कि युधिष्ठिर का समर्थन करनेवाले पौरव लोग बन्धु-बान्धवो के साथ हमारा ही वध कर डालें।"

दुर्योधन ने उत्तर दिया—"इसी त्रुटि को तो मैंने अपने मन में समझकर प्रजाओ को धन और मान से अनुरक्त बनाने का यत्न किया है। अवश्य ही उनके मुखिया हमारी सहायता करेंगे। हे राजन्, आजकल अर्थ-विभाग और उसके अमात्य मेरे ही अधीन हैं। आप किसी मृदु उपाय से पाडवो को यहासे बाहर वारणावत नगर में भेज दें। जब मैं राज्य पर पूरा अधिकार कर लू तब कुन्ती फिर अपने पुत्रो को लेकर यहा आ जाय।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"दुर्योधन, बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में भी चक्कर काट रही है। पर इस पापी विचार को खुलकर नही कह सकता। भीष्म, द्रोण, विदुर और कृप, कभी पाडवो को यहासे निकालने के लिए तैयार न होगे। उनके लिए तो हम और वे बराबर हैं। वे दोनो धर्मात्मा दोनो में भेद क्यो करेंगे? कहीं ऐसा न हो कि कौरव प्रजा और ये लोग हमारा वध करने पर उतारू हो जाय?"

दुर्योधन ने कहा—"भीष्म तो हमेशा बीच में रहते है, द्रोणपुत्र मेरी ओर

है। जिधर अश्वत्थामा है, उधर ही द्रोण को समझिए, और कृपाचार्य को भी, क्योकि इन तीनो का तिगड्डा है। कृपाचार्य, द्रोण और अपने भानजे अश्वत्थामा को कभी न त्यागेंगे। विदुर तो पैसे के गुलाम हैं, और आप हमारे है ही। छिपकर विदुर पाडवो के लिए हमें कुछ बाधा नही पहुचा सकते। इसलिए आप विश्वासपूर्वक आज ही कुन्ती के साथ पाण्डवो को वारणावत भेज दीजिए और निद्रा का नाश करनेवाले इस घोर काटे को निकाल डालिए।"

पाण्डवो का वारणावत-प्रस्थान

इस प्रकार पिता-पुत्र का षड्यन्त्र सब जाने के बाद दुर्योधन तो धन और मान से प्रजाओ को मुट्ठी मे करने लगा और उधर धृतराष्ट्र के सधे-बधे कुछ चालाक मन्त्रियो ने आकर यह कहना शुरू किया कि वारणावत नगर बडा सुन्दर है और वहा एक बडा भारी समाज होनेवाला है। धृतराष्ट्र के सिखाने से इस प्रकार की चर्चा फैलने लगी। उसे सुनकर पाडवो का भी मन हुआ कि चलकर उस समाज को देखें। जब धृतराष्ट्र ने जान लिया कि पाडवो के मन मे कुतूहल उत्पन्न हो गया है, तब उसने एक दिन उनसे कहा, "कई बार आकर लोग मुझे सूचना दे चुके है कि वारणावत नगर बहुत सुन्दर है। वहा तुम लोग कुछ उत्सव देखना चाहो तो मै प्रबन्ध कर दू। कुछ समय वहा बिताकर फिर हस्तिनापुर लौट आना।" युधिष्ठिर ने मन में सोचा कि हम असहाय है। राजा धृतराष्ट्र की ऐसी इच्छा है, लाओ, इसे मान ले, और उत्तर में 'हा' कह दिया। तब भीष्म, विदुर आदि से भी अनुमति लेकर पाडव कुन्ती के साथ वारणावत चले गए।

इससे दुरात्मा दुर्योधन के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने अपने सचिव पुरोचन से एकान्त में कहा—"तुम्हारे जैसा कोई मेरा विश्वासपात्र नही है। हे तात, इस मन्त्र को गुप्त रखना और मेरे सपत्नो को उखाडने का प्रयत्न करना। धृतराष्ट्र ने पाडवो को वारणावत भेज दिया है। वहा वे उत्सव आदि करेंगे। तुम आज ही वारणावत जाओ। वहा जाकर एक चतु शाल घर का निर्माण कराओ। वह खूब छिपा हुआ होना चाहिए। उसमे एक शस्त्रागार भी रखना। सन, राल आदि जलनेवाले पदार्थ उसकी दीवारो के बीच-बीच मे

भरवाना तथा घी, तेल और लाख मिट्टी में मिलाकर बने मसाले का पलस्तर दीवारो पर कराना। सन, वास, घी, लकडी, जहा मौका देखो, उस मकान मे इस प्रकार लगवाना कि पाडवो को या अन्य लोगो को सदेह न हो। ऐसा निवासस्थान बनवाकर उसमें कुन्ती को, उसके पुत्रों और हित-मित्रो के साथ ठहराना। उनके लिए आसन, शयन, यान आदि का अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध करना। जब वे लोग विश्वस्त होकर रहने लगें, तब कभी उनके सो जाने पर उस घर में आग लगा देना और यह दरवाजे से शुरू करना। इस प्रकार उनके दग्ध हो जाने पर लोग यही कहेंगे कि पाडव अपने ही घर में जल मरे।"

पुरोचन ने दुर्योधन को वचन देकर वारणावत को प्रस्थान किया और दुर्योधन ने जैसा कहा था, सबकुछ वैसा ही किया। पाडव भी वारणावत पहुंचकर नगर के लोगो से प्रेमपूर्वक मिले। सब लोगो ने 'जय-जय' कहते हुए उन्हे घेर लिया। वहा वे पुरोचन के बनवाये हुये आवास में जाकर ठहरे। युधिष्ठिर ने उस घर को देखकर अपनी बुद्धि से सब ताड लिया और भीम से कहा—"यह आग्नेय घर है। दुष्ट पुरोचन हमें जलाना चाहता है।"

भीम ने कहा—"यदि आप ऐसा समझते हैं तो अच्छा है। जहा हम पहले थे वही चलें।"

युधिष्ठिर ने कहा—"यह ठीक न होगा। हमारे सदेह को यदि पुरोचन भाप गया तो वह बल का प्रयोग करके हमें और भी शीघ्र जला सकता है, क्योंकि उसे निन्दा या अधर्म का भय नही। दुर्योधन विष आदि प्रयोगो से भी हमें नष्ट कर सकता है। अतएव, हमे चाहिए, कि हम आज ही इस घर से बाहर निकलने के लिए एक गुप्त सुरग बनाय।

पाण्डव बच निकले

उसी समय विदुर का विश्वासी मित्र एक खनक वहा आया और युधिष्ठिर से कहा—"मुझे विदुर ने यह कहकर भेजा है कि तुम जाकर पाडवो का हित करो। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को पुरोचन इस घर में आग लगा देगा।"

युधिष्ठिर ने कहा—"विदुर ने पहले ही मुझे इस विषय मे सचेत किया

था। अब वही विपत्ति समीप आ रही है। अव तुम हमारी रक्षा का उपाय करो।"

खनक ने उसे स्वीकार किया। उसने नगर के चारो ओर की खाई के एक गुप्त स्थान से भूमि के भीतर विल खोदना शुरू किया। उस सुरग का मुह उसी लाक्षागृह के बीच में जाकर निकला। उसे भी उसने किवाड से बन्द करके पृथिवी के साथ एकाकार मिला दिया।

इस प्रकार जब लगभग एक वर्षतक पाडव वहा रह चुके थे तब युधिष्ठिर ने बचकर निकल जाने की युक्ति सोची। दान देने के बहाने कुन्ती ने रात्रि के समय अनेक ब्राह्मणो को भोजन कराया। उसमें स्त्रिया भी आई। एक निषाद जाति की स्त्री अपने पाच पुत्रो के साथ आई थी। यथेच्छ भोजन करके और मदिरा पीकर वह बेसुध वही सो गई। रात के समय सबके सो जाने पर भीम ने जहा द्वार पर पुरोचन सो रहा था, वही आग लगा दी। चारो ओर उजाला फैल गया और अग्नि का चट-चट शब्द होने लगा। उसे जानकर पुर-जन एकत्र हो गए और विलाप करने लगे। उधर पाडव अपनी माता के साथ उस बिल से अलक्षित बाहर निकले और शीघ्रता से बाहर चले गए। रात बीतने पर नगरवासी आकर जले हुए घर मे ढूढने लगे। उन्हीके साथ ढूढते हुए खनक ने मौका पाकर सुरग के मुह को मिट्टी भरकर पाट दिया। उन्होंने उस निषादी को पाच पुत्रो के साथ जले हुए देखकर पाडवो को ही अग्नि मे जला हुआ समझ लिया।

उस अप्रिय समाचार को सुनकर राजा धृतराष्ट्र भी दु खी होकर विलाप करने लगे—"हा, भाई पाडु को मै आज मरा हुआ मानता हू। हा, उसके पाच वीर पुत्र अपनी माता के साथ नष्ट हो गए। मेरे अधिकारी शीघ्र वारणा-वत जाकर उन वीरो का यथोचित सस्कार करे।" यह कहकर सबधियो के साथ धृतराष्ट्र ने पाडवो को जलाजलि दी। सब कौरव शोकमग्न होकर रोने लगे। विदुर सच्ची बात जानते थे। उन्होंने ऊपर-ही-ऊपर शोक किया। उधर पाडव वारणावत नगर से बाहर हो गए और शीघ्रता से दक्षिण दिशा की ओर रातोरात किसी गहन वन में चले गए।

: ९ :

द्रौपदी-स्वयंवर

वारणावत के लाक्षागृह-दाह से बचकर भागे हुए पाडव घोर वन में शीघ्रता से आगे बढने लगे। वे थककर वन मे एक वृक्ष के नीचे सो गए। वहा हिडिम्ब नामक राक्षस मानुषगन्ध पाकर उस शालवृक्ष के नीचे आया और उन्हे देखकर हिडिम्बा नाम की अपनी बहन से बोला—"आज बहुत दिन बाद मुझे मनचाहा भोजन मिला है। बहन, जा और देख, वन में वे कौन सो रहे है ?"

राक्षसी शीघ्र वहा आई और उसने वहा कुन्ती और पाडवो को सोते देखा। केवल भीमसेन जाग रहे थे। उन महाबाहु के शालस्कधयुक्त स्वरूपवान् शरीर को देखकर वह उन पर मोहित हो गई। सोचने लगी—"यदि मेरा भाई इन्हे खा लेगा तो उसे मुहूर्त्त भर की तृप्ति होगी, पर यदि मैं इस वीर पुरुष से विवाह कर लू तो मुझे अनेक वर्षोंतक सुख मिलेगा।" यह सोच कर वह सलज्ज भाव से भीमसेन के पास आई और कहा—"तुम्हारे स्वरूप को देखकर मै तुम पर मोहित हुई हू और तुम्हे अपना पति बनाना चाहती हू। मैं नरभक्षक राक्षस से तुम्हारी रक्षा करूंगी।"

हिडिम्बा को देर से गया हुआ जानकर उसका भाई हिडिम्ब स्वय वहा आ पहुचा। उसके आने से भयभीत होकर हिडिम्बा ने भीम से कहा—"मैं तुम सबको अपनी पीठ पर बैठाकर आकाश में ले जाऊगी।" किन्तु भीम ने उत्तर दिया—"तुम भय मत करो, तुम्हारे देखते-देखते मै इसे मार डालूगा। मेरे बल को यह नही सह सकता।"

हिडिम्ब अपनी बहन पर बहुत क्रोधित हुआ और अपशब्द कहने लगा। तब भीम ने उसे ललकारा और देरतक दोनो में घमासान युद्ध होता रहा। अन्त में भीमसेन ने उसे पछाड डाला और भुजाओ के बीच में दबाकर पशु की तरह मार डाला। शोर सुनकर माता कुन्ती और भाई जाग उठे। तब भीमसेन ने हिडिम्बा से विवाह किया और उससे घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनो को पीछे छोडकर पाडव अन्त में एकचक्रा नगरी मे

पहुचे। वहा वे भिक्षा से जीविका चलाकर किसी ब्राह्मण के घर मे रहने लगे।

वक-वध

एक बार वे लोग भिक्षा के लिए बाहर गए थे। केवल भीमसेन कुन्ती के पास था। अकस्मात् ब्राह्मण के घर से आता हुआ विलाप का शब्द कुन्ती ने सुना। उसने अन्त पुर में जाकर उसका कारण पूछा तो उसे विदित हुआ कि नगर से वाहर वक नामक कोई नरभक्षक राक्षस रहता था। उसे लोग उस जनपद का रक्षक मानकर पूजते थे। वदले में उसके लिए प्रतिदिन दो भैसे और एक पुरुष भोजन के लिए भेजते थे। वहुत वर्षों के वाद किसी परिवार की वारी पडती थी। उस दिन उस ब्राह्मण परिवार की वारी थी। ब्राह्मण को किसी एक व्यक्ति को राक्षस के पास भेजना था। उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्री स्वय जाकर शेष का प्राण बचाने के लिए आग्रह कर रहे थे। यह देखकर कुन्ती का हृदय द्रवित हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—"तुम भय मत करो, मैंने इसका उपाय सोच लिया है। तुम्हारा एक ही पुत्र है, वह भी अभी छोटा है। एक ही तपस्विनी कन्या है। उन दोनो का या तुम्हारी पत्नी का जाना भी मैं ठीक नही समझती। हे ब्राह्मण, मै पाच पुत्रो की माता हू। तुम्हारी जगह मेरे पुत्रो में से एक राक्षस के पास वलि लेकर चला जायगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"मै अपना प्राण बचाने के लिए ऐसा नही कर सकता कि मेरे अतिथि के प्राण जाय। अकुलीन और अधार्मिक भी ऐसा नही करते।"

तव कुन्ती ने उसे समझाया—"यदि सौ पुत्र भी हो तो भी माता उनमें मे किसी पुत्र का क्षय नही सह सकती। किन्तु इस राक्षस की शक्ति नही कि मेरे पुत्र का नाश कर सके। मेरे पुत्र को मत्र सिद्ध हैं। वह राक्षस के पास भोजन लेकर जायगा और अपने आपको भी बचा लेगा। पहले भी इसने वहुत से वलवान् राक्षस मारे हैं। हे ब्राह्मण, यह वात किसीसे कहना मत, नहीं तो वहुत से लोग मत्र सीखने के लिए मेरे पुत्र को तग करेंगे।"

कुन्ती के ऐसा कहने पर ब्राह्मण ने उसकी वात मान ली। तव भीम माता की आज्ञा लेकर वक राक्षस के पास गया। उसने नाम लेकर राक्षस को पुकारा। महाकाय वक क्रोध से भरा हुआ भीमसेन की ओर झपटा। दोनो

में बात बढ गई और अन्त में भीमसेन ने उसे मार डाला। भीमसेन ने उसका शरीर नगर के द्वार पर फेंक दिया और स्वय अलक्षित रूप में फिर ब्राह्मण के घर लौट आया।

प्रात काल नगरवासियो ने एकचक्रा के द्वार पर बक के पर्वताकार शरीर को पडा हुआ देखा। वे बहुत विस्मित हुए और सबने देवताओ की पूजा की। तब वे यह हिसाब लगाने लगे कि आज किसकी बारी थी। उस ब्राह्मण की बारी जानकर लोग उसके घर पहुचे और उससे पूछने लगे। उसने पाडवो को बचाने के लिए यह कहकर टाल दिया कि मेरे परिवार को रोते देखकर एक मत्रसिद्ध ब्राह्मण भोजन लेकर राक्षस के पास गया था। उसीने यह किया होगा। यह सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए और सब जानपद जनो ने मिलकर 'ब्रह्ममह' नामक उत्सव किया (आदि १५२।१८)। 'ब्रह्म' प्राचीन सस्कृत में यक्ष की भी सज्ञा थी। यक्ष-पूजा के लिए जो उत्सव किया जाता था, उसे ही 'ब्रह्ममह' या 'यक्षमह' (पाली—यक्खमह) कहते थे।

पाचाल-यात्रा

पाडवो के वहा रहते हुए किसी ब्राह्मण ने आकर सूचना दी कि पाचाल देश मे वहाके राजा यज्ञसेन द्रुपद की पुत्री कृष्णा याज्ञसेनी का स्वयवर होने वाला है। उसे सुनकर पाडवो के मन ऐसे अस्वस्थ हो गए जैसे कोई नया काटा चुभ गया हो। उनकी यह दशा देखकर कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा—"यहा रहते हुए हमें अधिक काल हो गया। भिक्षा भी ठीक से नही मिलती। अच्छा हो, पाचाल देश में चलें। सुनती हू, पाचाल देश बडा रमणीय है और वहा सब प्रकार सुभिक्ष है।" इस प्रकार सलाह करके सब लोग राजा द्रुपद की राजधानी को गए। मार्ग में गगातट पर सोमश्रवायण तीर्थ में पहुचे। वहा गगातट पर अग्निपर्ण गधर्व घाट रोके हुए जल-विहार कर रहा था। अर्जुन के साथ उसकी झडप हो गई। अर्जुन ने उसे बाध लिया। तब उसकी पत्नी के अनुनय-विनय करने पर युधिष्ठिर ने उसे अभय-दान दिया। गधर्व ने प्रसन्न होकर उन्हें चाक्षुषी-विद्या प्रदान की, जिसके द्वारा वे लोग तीनो लोको में जिसे भी देखना चाहे, देख सकते थे। उसी गधर्व ने उन्हे सूर्य की कन्या तपती और पाडवो के पूर्वज सवरण के विवाह की कथा सुनाई। इन्ही तपती और

सवरण के पुत्र कुरु थे।

वसिष्ठ उपाख्यान

इसी प्रसग में वसिष्ठ और विश्वामित्र के वैर के सूचक वासिष्ठ उपाख्यान का भी वर्णन किया गया है। अर्जुन ने वसिष्ठ के विषय में जानना चाहा तो गधर्व ने कहा—"वसिष्ठ ब्रह्मा के मानस पुत्र और अरुन्धती के पति है। काम और क्रोध, जिन्हे कोई मर्त्य या देवता नही जीत पाता, उनका चरण-सवाहन करते हैं। विश्वामित्र के अपकार करने पर भी वसिष्ठ ने कुशिको का विनाश नही किया। अपने पुत्रो के क्षय से सतप्त होने पर भी वसिष्ठ ने विश्वामित्र के विनाश के लिए मन में विचार नही किया, और न यमराज के नियमो का अतिक्रमण करके अपने पुत्रो को पुन जीवित करने की इच्छा की। वसिष्ठ को पुरोहित बनाकर ही इक्ष्वाकुओ ने इतनी उन्नति की।"

अर्जुन ने प्रश्न किया कि विश्वामित्र और वसिष्ठ इन दोनो में परस्पर वैर होने का कारण क्या था। गधर्व ने उत्तर दिया कि कान्यकुब्ज में कुशिक के पुत्र गाधि के पुत्र विश्वामित्र राज्य करते थे। वह एक बार मृगया के लिए वन में पर्यटन करते हुए वसिष्ठ के आश्रम में जा पहुचे। वसिष्ठ ने अपनी गौ नन्दिनी के प्रभाव से विश्वामित्र और उनकी सेना का उत्तम सत्कार किया। विश्वामित्र ने वसिष्ठ से नन्दिनी गौ मागी और बदले में अपना राज्यतक देना चाहा। वैसा न होने पर विश्वामित्र ने नन्दिनी का बलपूर्वक अपहरण करना चाहा, किन्तु नन्दिनी ने अपने प्रभाव से पल्लव, द्राविड, शक, यवन, पौण्ड्र, किरात, सिंहल, बर्बर, पुलिंद, चीन, हूण, केरल, म्लेच्छ आदि जातियो को उत्पन्नकर विश्वामित्र को परास्त कर दिया। इससे खिन्न हो विश्वामित्र ने अपने क्षात्र-बल को धिक्कारा और तपस्या द्वारा ब्रह्म-बल प्राप्त करके इन्द्र के साथ सोम-पान किया।

वसिष्ठ-विश्वामित्र के पारस्परिक वैर के कारण की कई कल्पनाए महाभारत में ही मिलती है। शल्य-पर्व में लिखा है कि स्थाणु तीर्थ में सरस्वती नदी के एक ओर वसिष्ठ का आश्रम और दूसरी ओर विश्वामित्र का आश्रम था। दोनो में तप की स्पर्द्धा से मनोमालिन्य हुआ। यही आदिपर्व में उनके वैर को यहा तक बढा हुआ कहा है कि इक्ष्वाकुवंशी

सुदासपुत्र कल्मापपाद राजा और वसिष्ठपुत्र शक्ति में खटपट हो गई, शक्ति ने उसे शाप दिया, तव विश्वामित्र ने राजा की राक्षसी वृत्ति को उभाडकर शक्ति और वसिष्ठ के अन्य पुत्रो का नाश करवा डाला। वशिष्ठ को दुख तो वहुत हुआ पर उन्होंने क्रोध नही किया। किसी नरभक्षक कल्मापपाद नामक यक्ष की कथा जातको में भी पाई जाती है। उसके मूल मे कोई लोक-कथा रही होगी, जिसका इक्ष्वाकुवशीय कल्मापपाद के साथ सवध जुड गया।

अग्निपर्ण गधर्व से विदा लेते हुए अर्जुन ने इतना और पूछा कि ऐसा वेदज्ञ श्रेष्ठ पुरोहित कौन है, जो हमारे अनुरूप हो। गन्धर्व ने उत्कोचक तीर्थ में रहनेवाले धौम्य ऋषि का नाम वताया। तव पाडव धौम्य के आश्रम में गए और विधिपूर्वक धौम्य को अपना पुरोहित वरण किया। वहासे वे पाचो पाडव माता कुन्ती के साथ दक्षिण पाचाल देश के राजा द्रुपद की राजधानी में होने वाले देव-महोत्सव को देखने के लिए चले।

द्रौपदी-स्वयवर

मार्ग में उन्हे कुछ ब्राह्मण मिले। उन्होने वताया कि राजा द्रुपद के यहा उसी देव-महोत्सव के अवसर पर उनकी पुत्री द्रौपदी का स्वयवर भी आयोजित किया गया है। पाडव स्वयवर देखने की लालसा से वहा पहुचे। वहा नगर से पूर्व उत्तर दिशा में द्वार और तोरणो से अलकृत एक समाज-वाट वनाया गया था। पन्द्रह दिन तक नट-नर्तको की कलाओ के साथ समाज का उत्सव होता रहा।

सोलहवें दिन द्रौपदी रगभूमि में अवतरित हुई। उसके आते ही वाजो का घोप वन्द कर दिया गया। चारो ओर सन्नाटा होने पर धृष्टद्युम्न ने रगभूमि के वीच खडे होकर कहा—"यह धनुप है, वह लक्ष्य है, ये वाण हैं। आये हुए सव राजाओ से मैं कहता हू—जो यत्र के छेद में से केवल पाच वाणो की सहायता से लक्ष्य का वेध करेगा और जो कुल, रूप और वल से युक्त होगा, मेरी यह वहन कृष्णा उसकी पत्नी हो जायगी।"

यह कहकर धृष्टद्युम्न ने उपस्थित हुए सव राजाओ का नाम लेकर द्रौपदी को उनका परिचय दिया। उस स्वयवर में अनेक जनपदो के राजा उपस्थित

हुए थे। गाधार, मगध, विराट, कलिग, ताम्रलिप्ती, मद्र, कम्वोज, उशीनर, वृष्णि, सिन्धु, वाल्हीक, वत्स, कोशल, आदि जनपदो के नाम इस प्रसग मे आये हैं। रगभूमि में उपस्थित क्षत्रियो ने उस धनुप को चढाने का प्रयास किया, किन्तु सफल न हुए। तव कुन्ती-पुत्र अर्जुन जो ब्राह्मणो के वीच में वैठे थे, उठे और धनुष के समीप आये। उन्होने धनुष की परिक्रमा कर उसे प्रणाम किया और प्रसन्न मन से उसे हाथ में लेकर क्षण भर में सज्जित कर दिया, और पाच वाण लेकर यन्त्र के छिद्र से लक्ष्य को वेघ दिया।

समाज के वीच महान् ध्वनि फैल गई। लोग हर्ष से वस्त्रो को उछालने लगे। अनेक प्रकार के वाजे वजने लगे। सूत और मागव स्तुति करने लगे। यह सब देखकर राजा द्रुपद मन में प्रसन्न हुए। साथ ही उन्होने देखा कि उपस्थित क्षत्रियो में वडी खलबली मच रही है। इस भय से कि अर्जुन को कोई हानि न पहुचाए, उन्होनें अपने सैनिको की सहायता देनी चाही, किन्तु उस भम्भड को देखकर युधिष्ठिर ने यही उचित समझा कि शीघ्र ही वहासे हटकर अपने आवास पर चले जाय।

इधर कृष्णा ने देखा कि लक्ष्य-वेघ हो चुका है और इन्द्रसदृश अर्जुन खडे है। वह श्वेत पुष्पो की वरमाला लेकर उनकी ओर वढी और उसे उनके गले मे डाल दिया। इसी समय राजाओ मे वडा कोलाहल मचा। वे कहने लगे—"देखो इस दुष्ट द्रुपद को, इसने हमारा अपमान किया है। हमें यहा वुलाकर तिनके की तरह हमारी अवहेलना करके एक ब्राह्मण को अपनी कन्या दे देना चाहता है। हमारे रहते हुए ऐसा कभी नही हो सकता। हम इस दुरात्मा का इसके पुत्र के साथ ही वध कर देंगे। राजाओ के इस समूह मे क्या इसे कोई दूसरा राजा अपने सदृश नही मिला? और फिर क्षत्रियो के स्वयवर में व्राह्मणो को वरण का अधिकार भी नही। यदि यह लडकी ही हममे से किसीके साथ न जाना चाहे तो इसे आग में झोककर अपने देश को लौट जायगे।" इस प्रकार कहकर प्रचड राजा हथियार लेकर द्रुपद की ओर दौडे।

यह देखकर पाडु-पुत्र भीम और अर्जुन द्रुपद की रक्षा के लिए राजाओ से भिड गए। उस मडली में कृष्ण और वलराम भी उपस्थित थे। उन्होने अर्जुन को धनुष चलाते हुए देखकर सव ताड लिया और वोले—"हे वलराम, यदि

मेरा नाम वासुदेव है तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हू कि यह अर्जुन ही है, और देखो वह जो वृक्ष लेकर वेग से राजाओ पर टूट पडा है, वह वृकोदर भीम है। वे सामने प्रलम्बवाहु युधिष्ठिर है। वे नकुल-सहदेव है। मैंने जैसा सुना था, ये सव लोग लाक्षागृह में जलने से वच गए थे। इससे मैं प्रसन्न हू।"

वहा उस समय जितने उद्धत राजा थे, भीम और अर्जुन ने उन सबको परास्त कर दिया, विशेषत अर्जुन ने कर्ण को और भीम ने मद्रराज शल्य को। इस प्रकार जव राजा लोग वल से हार गए तो सव लोग अपने-अपने आवासो को यह कहते हुए लौटे कि आज रग ब्राह्मणो के हाथ रहा और पाचाली द्रौपदी को ब्राह्मण वर ले गए।

पचपतिका पाचाली

पाडव भी द्रौपदी के साथ उस कुम्हार के घर वापस आये जहा कुन्ती थी। अर्जुन और भीम ने प्रसन्न होकर माता से कहा—"आज यह भिक्षा मिली है।" कुन्ती ने कुटी के भीतर से ही उत्तर दिया—"सव लोग इसे मिलकर भोगो (उवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे)।" पीछे जव कुन्ती ने द्रौपदी को देखा तव वह दु खी हुई कि मैंने क्या कह दिया। वह अधर्म से डरी और द्रौपदी का हाथ पकडकर युधिष्ठिर के पास जाकर वोली—"द्रुपद की पुत्री इस कन्या को जव तुम्हारे दोनो भाइयो ने आज मुझे निवेदित किया तो मैंने भूल से यहा कह डाला कि सव लोग इसे मिलकर भोगो। अव क्या किया जाय, जिससे मेरा वचन मिथ्या न हो और द्रौपदी को भी अधर्म न लगे ?"

युधिष्ठिर ने माता को सात्वना दी और अर्जुन से कहा—"हे धनजय, तुमने द्रौपदी को जीता है, तुमसे ही इस राजपुत्री की प्रसन्नता है। तुम अग्नि में हवन करके विधिवत् इसका पाणिग्रहण करो।"

अर्जुन ने उत्तर दिया—"हे राजन्, मुझे अधर्म मे मत सानिए। और लोग इसे धर्म नही मानते। पहले आप विवाह करेंगे, पीछे भीम, तव मैं, मेरे वाद नकुल और उसके वाद सहदेव। एक ओर हम पाच है, दूसरी ओर यह कन्या है। ऐसी स्थिति में जो करना चाहिए, जो धर्मयुक्त हो, जिससे निंदा न हो और जो पाचालराज द्रुपद को भी प्रिय लगे वह उपाय वताइए। हम सव आपकी वात मानेंगे।"

युधिष्ठिर ने भाइयो की ओर घूम कर देखा और समझ गए कि सभी का मन द्रौपदी पर अनुरक्त है। उन्होने भाइयो से कहा—"द्रौपदी हम सबकी भार्या होगी।" भाइयो ने मन से इस बात का अनुमोदन किया।

इधर कृष्ण और बलराम उसी भार्गव कर्मशाला मे पहुचे, जहा पाडव थे। कृष्ण ने जाकर युधिष्ठिर के पैर छुए और अपना नाम बताया। बलराम ने भी वैसा ही किया। फिर दोनो ने बुआ कुन्ती के चरणो का स्पर्श किया। तब युधिष्ठिर ने कुशल कहकर कृष्ण से पूछा—"तुम्हे हमारे यहा छिपकर रहने का पता कैसे चला?" कृष्ण ने हँसकर कहा—"अग्नि कितनी भी छिपी हो, पहचान ली जाती है। उस दिन जो पराक्रम तुमने किया वैसा और कौन कर सकता था? यह अहोभाग्य है कि तुम सब उस अग्निदाह से बच गए और यह भी आनन्द का विषय है कि पापी दुर्योधन की इच्छा पूरी न हुई। तुम यहा छिपकर रहो, कोई तुम्हे न जान पाये। अतएव बलदेव के साथ मैं यहा से शीघ्र अपने शिविर को चला जाता हू।"

इधर पाडवो के पीछे-पीछे कृष्णा के चले जाने पर राजा द्रुपद चिंतित हुए। उन्होने धृष्टद्युम्न से कहा—"पुत्र, कुछ पता लगाओ, कृष्णा को कौन ले गया है? सच-सच कहो, मेरी पुत्री को किसने जीता है? माला की तरह सुकुमारी वह कही श्मशान में तो नही जा पडी?" धृष्टद्युम्न द्रौपदी के पीछे ही जाकर कुम्हार की कर्मशाला में, जहा पाडव ठहरे थे, छिपकर उनका सब हाल देख आया था। उसने कहा—"निस्सदेह वे लोग क्षत्रिय थे, जिनके साथ द्रौपदी गई है। जिस प्रकार वे लोग आपस में युद्ध की बातचीत कर रहे थे उस प्रकार कोई वैश्य या ब्राह्मण या शूद्र नही कर सकता, और सुनते हैं कि पाडव लाक्षागृह के उस अग्निदाह से बच गए थे। अतएव यह आशा मन में उठती है कि वे लोग कही छिपे हुए पाडव ही तो नही है।"

यह सुनकर राजा द्रुपद एकदम प्रसन्न हो गए। उन्होने अपने पुरोहित को वहा भेजा कि जाकर पता लगाओ कि कही वे लोग पाडु-पुत्र ही तो नही है। पुरोहित ने वहा जाकर युक्तिपूर्वक पूछा तो युधिष्ठिर ने कहा—"द्रुपद ने तो कुल, गोत्र, वर्ण, शील आदि की कुछ पूछताछ किये बिना अपनी पुत्री को राजाओ के बीच में लक्ष्यवेध करनेवाले किसीको भी दे दिया। अतएव उन्हे सताप न करना चाहिए। फिर भी मैं कहता हू कि तुम्हारे राजा की

कामना पूरी होगी। कोई भी अल्प बलवाला व्यक्ति, जिसने अस्त्रो का अभ्यास न किया हो, धनुष पर प्रत्यचा चढाकर उस लक्ष्य को नही वेध सकता था। अतएव पाचाल-राज को चाहिए कि पुत्री के लिए मनस्ताप न करे।"

युधिष्ठिर यह कह ही रहे थे कि एक दूसरा व्यक्ति वहा आया और दूत के रूप में उसने निवेदन किया—"राजा द्रुपद ने विवाह के लिए अनेक अन्न सम्भार तैयार कराये हैं। आप लोग सुनहले रथो पर बैठकर वहा चले।" पाडव लोग कुन्ती और कृष्णा के साथ राजधानी में पहुचे। राजा ने सब सचिवो के साथ हर्षपूर्वक उनका स्वागत किया और पहले एक बड़ा भोज किया। तत्पश्चात् द्रौपदी के साथ उनका विवाह कराया। इस प्रकार कल्याणयुक्त होकर पाडव द्रुपद की नगरी में निवास करने लगे।

: १० :

सुभद्रा-परिणय

धृतराष्ट्र के गुप्तचरो ने सब हाल जानकर यह समाचार दिया कि जिसने लक्ष्यवेध किया था वह धनुर्धर अर्जुन था और वे ब्राह्मण जो स्वयवर में आये थे, पाडव ही थे। पाडवो के हितैषी राजा इस समाचार के फैलने से प्रसन्न हुए और उन्होंने समझा कि पाडवो का पुनर्जन्म हुआ। किन्तु राजा दुर्योधन और उसके भाई, अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा दु शासन सब बडे दु खी हुए। पाडवो की समृद्धि देखकर वे मुरझा गए।

पाडवो की कुशल का यह हाल जब विदुर को ज्ञात हुआ तब उन्होंने धृतराष्ट्र से सब समाचार कहा। धृतराष्ट्र ने ऊपर से बहुत प्रसन्नता प्रकट की और कहा—"जैसे वे पाडु के पुत्र हैं वैसे ही मुझे भी प्रिय हैं। मैं उनकी इस वृद्धि से प्रसन्न हू कि द्रुपद के साथ उनका सम्बन्ध हुआ है। द्रुपद को अपना मित्र पाकर कौन पुन श्रीसम्पन्न न हो जायगा ?"

उनकी यह बात सुनकर विदुर ने उत्तर दिया—"हे राजन्, पाडवो के विषय में आपकी यह बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे।"

तव दुर्योधन और कर्ण दोनो धृतराष्ट्र के समीप गए और बोले—"हे राजन्, विदुर के सामने हम कुछ नही कह सकते। आपकी यह क्या चिन्ता है जो सपत्नो की वृद्धि को अपनी वृद्धि मानते है ? आपको करना कुछ चाहिए और करते कुछ है। हे तात, हमे तो पाडवो के बल का क्षय करने की बात सोचनी चाहिए।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"सोचता तो मै भी यही हू जैसा तुम कहते हो, लेकिन विदुर के सामने अपनी बात साफ-साफ नही कह सकता। इसलिए उनके गुणो का ही कीर्तन करता हू, जिससे विदुर मेरे असली अभिप्राय को जानने न पावें। इस समय तुम जो ठीक समझते हो बताओ, और हे कर्ण, तुम भी जो इस समय कर्त्तव्य-कर्म हो उसका सुझाव दो।"

दुर्योधन ने कहा—"मेरे मन में कई बाते आती है। एक तो कुछ अच्छे समझदार ब्राह्मणो को लगाकर शनै-शनै कुन्ती और माद्री के पुत्रो मे फूट डलवा दें, अथवा राजा द्रुपद, उसके पुत्र और अमात्यो को धन की बडी राशि देकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर की ओर से उनका मन फेर दे, अथवा यह भी सम्भव है कि हमारे दिये हुए द्रव्य के लोभ से द्रुपद और उसके सहयोगी पाडवो को ऐसी पट्टी पढावें कि वे द्रुपद की राजधानी में ही बस जाय। तब उनका हस्तिनापुर से पाप ही कट जायगा। अथवा कुछ ऐसे उपाय-निपुण पुरुषो को लगाया जाय जो पाडवो मे आपस में ही फूट डाल दें या द्रौपदी का मन ही उनकी ओर से उचाट कर दे। उसे बहुतो में अपना मन लगाना पडता है, इसलिए शायद ऐसा करना सरल हो। अथवा पाडवो का ही मन उसकी ओर से फेर दे। या उन सबमें भीमसेन ही तगडा है, किसी उपाय मे छिपे हुए अपने आदमियो से उसकी समाप्ति करा दे। एक बार उसका काम तमाम हुआ नही कि फिर पाडव राज्य का हौसला न करेंगे। वही उनका बडा भरोसा है। अर्जुन तभीतक युद्ध में अजेय है, जबतक उसकी पीठ पर भीम है। भीम के बिना अर्जुन कर्ण के पैर की धूल भी नही। यदि पाडव यहा आ भी गए तो भी आखिर तो हमारे ही बस में रहेगे। जैसे चाहे उनको ठिकाने लगाया जा सकता है। अथवा यहा आने पर सुन्दरी स्त्रिया उनमें से एक-एक के मन को ऐसा लुभा दें कि वे फिर द्रौपदी का नाम न ले। या यह भी सम्भव है कि उन्हें लिवा लाने के लिए कर्ण को भेजा जाय और फिर बट-

मारो को मिलाकर मार्ग में ही उन्हे कटवाकर फेंक दिया जाय। इन उपायो में जो तुम्हे निर्दोष जचे उसीका प्रयोग शीघ्र करो, क्योकि समय बीत रहा है। मेरी तो राय यही है कि साधु-असाधु किसी भी ढग से पाडवो का निग्रह किया जाय। अथवा, हे कर्ण, तुम्हारी समझ मे क्या आता है ?"

यह सुनकर कर्ण ने कहा—"दुर्योधन, मुझे तो तुम्हारी राय ठीक नही जचती। पाडव किसी भी तरकीब से वस में नही आ सकते। पहले भी तुम उनके निग्रह के लिए बारीक उपाय कर चुके हो। जब बचपन में उनके पख भी न निकले थे और वे यही थे, तब तुम उनका कुछ न बिगाड सके तो अब तो उनके पख निकल आये हैं। वे यहा से बाहर हैं और बडे हो गए हैं, इसलिए अब पाडव उपाय-साध्य नही हैं। तुम उन्हे विपत्ति मे नही डाल सकते, भाग्य उनके साथ है। अब वे अपने पितृ-पितामह से प्राप्त हक के दावेदार होकर तुम्हारी ओर शका से देखते हैं। उनमें आपसी फूट भी नही डाली जा सकती। कृष्णा के मन में भी उनकी ओर से भेद डालना कठिन है। जब उनके फटे-हाल होने पर द्रौपदी ने उन्हे वर लिया था तब आज तो वे उजले-चिट्टे हो गए हैं।   और राजा द्रुपद आर्य है, तुम समझते हो उन्हे धन का लोभ होगा ? राज्य भी दोगे तो भी द्रुपद कौंतियो को न छोडेंगे। द्रुपद का पुत्र भी पाडवो का अनुरागी है। अतएव किसी तरह तुम्हारा कोई उपाय पाडवो पर न चल सकेगा। मेरी समझ में तो यह आता है कि साम, दाम और भेद इनसे पाडव वश में नही हो सकते। केवल दण्ड से ही उनको साधा जा सकता है। अतएव उनपर तुरन्त धावा बोलना चाहिए। जबतक वे वहा जड नही पकड लेते, तबतक हमारा पक्ष तगडा और द्रुपद का निर्बल है; तभीतक, हे गाधारी के पुत्र, शीघ्र चढाई कर दो। विक्रम से ही पृथिवी प्राप्त होती है। महात्मा भरत और पाकशासन इन्द्र ने विक्रम से ही लोको को जीता। विक्रम ही शूरो का अपना धर्म है। इसलिए चतुरगिणी सेना सजाओ और पाचाल पर चढ चलो। शीघ्र द्रुपद को दलकर, पाडवो को पकडकर यहा ले आओ और सारी पृथिवी का भोग करो। कार्य का दूसरा उपाय मुझे तो दिखाई नही पडता।"

कर्ण के वचन सुनकर धृतराष्ट्र ने उसे थपथपाया और फिर कहा—"महाप्राज्ञ शस्त्रधारी कर्ण का तुमसे विक्रम की बात कहना उचित ही है,

किन्तु फिर भी भीष्म, द्रोण और विदुर तथा तुम दोनो मिलकर कोई ऐसी बात विचारो कि जिसमें सुखोदय हो।" तब धृतराष्ट्र ने सबको बुलाकर मत्रणा की।

उसमें भीष्म ने कहा—"मुझे तो पाडु-पुत्रो के साथ बखेडा करना नही रुचता। मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र वैसे ही पाडु। जैसे गाधारी के पुत्र वैसे ही कुन्ती के भी। अतएव उन वीरो के साथ सधि करके भूमि उन्हे लौटा दो। इस राज्य में उनके भी पिता-प्रपितामहो का भाग था। अतएव मधुरता से आधा राज्य उन्हे दे दो। कुछ और किया तो तुम्हारा भला न होगा और मुह मे कालिख भी पुत जायगी। इसलिए हे दुर्योधन, अपने पूर्वजो के और कुरु-कुल के जो अनुरूप है, वैसा करो।"

इसके बाद द्रोण ने कहा—"मेरी भी यही मति है जो भीष्म की है। पाडवो को उनका हिस्सा बाट देना चाहिए। यही सनातन धर्म है। पहले भेंट लेकर अपना दूत द्रुपद के पास मित्रता के लिए भेजो। पीछे सेना के साथ दु शासन और विकर्ण जाकर पाडवो को यहा ले आवें। तब प्रजाओ की अनुमति से उन्हे उनका पैतृक पद प्रदान करो। यही सच्चा उपाय है।"

यह सुनकर कर्ण ने कहा—"जिन्हें सदा धन और मान से युक्त किया और सब कामों में अपना अगुआ बनाया, वे भीष्म और द्रोण भी तुम्हारे हित का मत्र नही देते। इससे अधिक अचरज की क्या बात है ? जो छिपे-छिपे दुष्ट मन का है, पर ऊपर से हित की बात करता है ऐसे अमात्य का मत्र किस काम का ?"

कर्ण का व्यग्य सुनकर द्रोण बिगडकर कहने लगे—"रे कर्ण, हम तेरे दुष्ट भाव को समझते हैं। तेरे मन में पाडवो के प्रति मैल है और तू दोष हमारे मत्थे मढता है।"

यह सुनकर विदुर ने कहा—"हे राजन्, भीष्म और द्रोण ने जो हितकर वचन कहा है उसे क्यो नही ग्रहण करते ? तुम्हारे लिए दुर्योधनादिक पुत्र और पाडव एक-से होने चाहिए। पुरोचन के कारण जिस अयश में तुम सन गए हो, अब पाडवो के प्रति अनुग्रह करके उसे धो डालो।"

उनकी बात सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—"हे विदुर, भीष्म, द्रोण और तुम हितकारी और सत्य बात कहते हो। तुम जाओ और माता कुन्ती एव

देवरूपिणी कृष्णा के साथ पाडवो को यहा लिवा लाओ।"

यह सुनकर विदुर द्रुपद के यहा गए और कुशल प्रश्न के अनन्तर बोले—"धृतराष्ट्र, भीष्म एव सब कौरव आपके साथ सम्बन्ध हो जाने से अपनेको धन्य समझते हैं। ऐसा जानकर आप कृपया पाडवो को मेरे साथ भेज दें। वे भी दीर्घकाल के बाद नगर देखने को उत्सुक होंगे।"

विदुर की बात सुनकर द्रुपद ने कहा—"हे महाप्राज्ञ, तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे भी इस सम्बन्ध से हर्ष है। महात्मा पाडवो का घर लौटना भी ठीक है। किन्तु मेरा कहना उचित नही, तुम स्वय कहो।"

तब सब लोगो ने परामर्श किया और पाडव विदुर और कृष्ण के साथ, जो वहा इस समय उपस्थित थे, हस्तिनापुर गए। सारा नगर उनके स्वागत में उमड पडा। वहा उन्होने धृतराष्ट्र और भीष्म का पादाभिवन्दन किया और कुछ समयतक धृतराष्ट्र के बताये हुए स्थान में निवास करते रहे। फिर धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर कहा—"हे युधिष्ठिर, तुम्हारे साथ कौरवो का कोई झगडा न हो, इसलिए मेरी राय है कि राज्य का आधा भाग लेकर तुम खाण्डवप्रस्थ में बसो।"

तब पाडव खाण्डवप्रस्थ के वन मे गए। वहा उन्होने व्यास और कृष्ण के परामर्श से इन्द्रप्रस्थ नामक एक नया नगर बसाया। पाडवों के वहा सुख-पूर्वक बस जाने पर कृष्ण बलराम के साथ द्वारावती नगरी को लौट गए।

अर्जुन का वनवास

इसी समय नारदजी पाडवो मे मिलने आए। उन्होने सुन्द-उपसुन्द नामक दो भाइयो में एक पत्नी तिलोत्तमा के लिए जिस प्रकार झगड़ा हुआ था, उसकी कथा सुनाकर पाडवो में यह नियम करा दिया कि एक समय म एक ही व्यक्ति एकान्त में द्रौपदी के साथ रहे, यदि दूसरा उस समय चला जाय तो वह बारह वर्षतक वन में ब्रह्मचारी होकर रहे। इस प्रकार का समय करके दीर्घ कालतक पाडव वशवर्तिनी कृष्णा के साथ सुख से रहते रहे।

कुरु जनपद के एक ब्राह्मण की गायें कुछ चोर लूट ले गए थे, उसने खाण्डवप्रस्थ में जाकर पांडवो से गुहार की। उसकी पुकार अर्जुन ने सुनी और

उसे अभय-दान दिया। जहा उस समय अर्जुन के आयुध रखे थे, वहा कृष्णा के साथ धर्मराज युधिष्ठिर एकान्त में थे। शरणार्थी ब्राह्मण के कार्य की तुरन्त आवश्यकता समझकर अर्जुन ने थोडी देर के लिए अपने मन में विचार किया कि मैं भीतर प्रवेश करू या न करू, और फिर अपने वनवास की जोखिम उठाकर वे भीतर जाकर धनुष ले आये। इधर ब्राह्मण का धन चोरो से लौटाकर अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित होकर कहा—"मैंने समय का उल्लघन किया है। अतएव मुझे आदेश दीजिए कि मैं वनवास के लिए जाऊ।"

यह सुनकर युधिष्ठिर दुखी हुए। उन्होने अर्जुन को बहुत समझाया कि तुमने धर्म-लोप नही किया और न मेरा उल्लघन किया, किन्तु अर्जुन ने यही कहा—"मैं सत्य से विचलित न होऊगा। सत्य का जो परिणाम हो, मुझे सहना चाहिए। आपसे ही मैंने यह सुना है कि धर्म के विषय में कपट-व्यवहार उचित नही।" यह कहकर वह सबसे विदा लेकर बारह वर्ष के लिए वनवास और तीर्थयात्रा के लिए निकल गए। इसी अवधि में उन्होने गगाद्वार मे नागकन्या उलूपी के साथ नागराज के भवन में एक रात बिताई। तब हिमालय के अन्य तीर्थों मे घूमते हुए पूर्व दिशा में अग, वग, कलिग होते हुए पूर्व मे मणलूर (वर्तमान मणिपुर) के राजा चित्रवाहन के नगर में पहुचे और वहा उसकी दुहिता चित्रागदा से विवाह किया। अर्जुन वहा तीन वर्ष रहे। उनका पुत्र बभ्रुवाहन पीछे मणलूर का राजा हुआ। फिर दक्षिण दिशा मे अगस्त्य तीर्थ, पचाप्सरस्तीर्थ, अपरान्त देश में गोकर्ण-तीर्थ और प्रभास-तीर्थ मे गमन किया।

सुभद्रा-अर्जुन-परिणय

प्रभास मे कृष्ण उनसे आकर मिले और उन्हे साथ लेकर रैवतक पर्वत पर गए। वहासे वे दोनो द्वारकापुरी गए। कुछ दिन पीछे अधक और वृष्णियो का 'गिरि-मह' नामक एक महान् उत्सव रैवतक पर्वत पर हुआ। उसीमें अनेक वृष्णि राजकुमारो के साथ कृष्ण और अर्जुन भी पधारे और सखियो के साथ अलकृत सुभद्रा भी आई। उसे देखकर अर्जुन के मन में कामसकल्प हुआ। कृष्ण ने यह देखकर कहा—"यह सारण की सहोदरा मेरी

भगिनी है।" अर्जुन द्वारा उसकी प्राप्ति के उपाय पूछे जाने पर कृष्ण ने सलाह दी—"हे अर्जुन, तुम मेरी इस सुन्दरी भगिनी का बलपूर्वक हरण करो। वही क्षत्रियो का श्रेष्ठ मार्ग है। स्वयवर में न जाने क्या हो ?"

यह सलाह करके अर्जुन ने सुभद्रा को, जब वह रैवतक गिरि की प्रदक्षिणा करके लौट रही थी, बलपूर्वक रथ पर बैठाकर हस्तिनापुर की ओर रथ हाक दिया। यह देखकर रक्षक सैनिक तुरन्त द्वारका में दौडे गए। वहा सुधर्मा सभा में जाकर उन्होने सभापाल को सूचना दी। सभापाल ने तुरन्त साम्राहिकी भेरी (फौजी नगाडा) वजवाकर वृष्ण्यन्धक सभा का एक तात्कालिक अधिवेशन किया। वृष्णिवीरो के नेत्र लाल हो गए और वे अविलम्ब युद्ध का साज साजने की तैयारी करने लगे।

तब बलराम ने सबसे कहा—"कृष्ण तो चुपचाप बैठे है। इनका भाव जाने बिना आप सबका क्रोध और गर्जन व्यर्थ है।" यह सुनकर सब लोग चुप हुए और कृष्ण की ओर देखने लगे– "हे कृष्ण, तुम्हारे ही कारण हमने अर्जुन का सत्कार किया था। वह दुर्बुद्धि और कुल-कलक है, पूजा के योग्य नही। कौन ऐसा है जो जिस बरतन में खाय उसीमे छेद करे ? ऐसा कौन है, जिसे अपने प्राण प्यारे हो और जो ऐसा साहस करे ?"

यह सुनकर कृष्ण ने कहा—"अर्जुन ने हमारे कुल का कोई अपमान नही किया। सुभद्रा के लिए यह सम्बन्ध उचित ही है। कुन्तिभोज की पुत्री कुन्ती के पुत्र अर्जुन के साथ सम्बन्ध कौन न चाहेगा ? और फिर उसके साथ युद्ध करने में कौन समर्थ है ?" कृष्ण के ऐसा समझाने पर सब लोग शात हुए।

जब अर्जुन हस्तिनापुर पहुचे तब पहले तो द्रौपदी ने उन्हे बुरा-भला कहा—"हे अर्जुन, वही जाओ, जहा तुम्हारी वह वल्लभा है। कितना भी कसकर बाधो पहली बाधी हुई गाठ ढीली पड ही जाती है।" इस प्रकार विलपती हुई कृष्णा को अर्जुनने शात किया और बार-बार क्षमा-याचना की। उधर सुभद्रा को गोपालिका के वेश मे द्रौपदी के पास भेजा। उसने राजभवन मे जाकर पहले कुन्ती के पैर छुए और फिर यह कहकर कि मै आपकी दासी हू, द्रौपदी की वदना की। कृष्ण की बहन को अपने सामने देखकर द्रौपदी का मन भर आया और उसने उठकर उसका आलिंगन किया और उसे

आशीर्वाद दिया ।

इस सम्बन्ध को जानकर सब लोग परम प्रसन्न हुए। इधर जब द्वारका में अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुचने का समाचार मिला तव सव अन्धक-वृष्णियो ने मिलकर निश्चय किया कि कृष्ण और वलराम के साथ हम सव लोग सुभद्रा के लिए यौतुक धन लेकर खाण्डवप्रस्थ चले। वन्धुओं से ज्ञातिदेय उस महाधन को लेकर कृष्ण, बलराम और वृष्णिसमूह के इन्द्रप्रस्थ आने पर युधिष्ठिर ने सबका स्वागत किया। बलराम ने आगे वढकर पैरछुआई का वह नेग (पादग्रहणिक) अर्जुन को अर्पित किया। उसके वाद कुछ दिनतक कृष्ण वहीं रहे। समय पाकर सुभद्रा ने वीर अभिमन्यु को जन्म दिया। जन्म से ही कृष्ण ने उसकी सब क्रियाए की। द्रौपदी से भी पाचो भाइयो के पाच पुत्र हुए।

खाण्डव-दाह

युधिष्ठिर धर्मपूर्वक इन्द्रप्रस्थ में राज्य करने लगे। इसी अवसर में णकाल आया जानकर अर्जुन और कृष्ण मित्रो को साथ लेकर यमुना के तट पर जल-विहार के लिए चले गए। कृष्णा और सुभद्रा भी उनके साथ गईं। वहा उनके सुखपूर्वक बैठने पर एक तेजस्वी ब्राह्मण उनके पास आया और कहा—"मुझे अन्न दो। मैं अग्नि हू। इन्द्र खाण्डव-वन की सदा रक्षा करते है। वहा उनका मित्र तक्षक नाग रहता है। मै उसे जलाना चाहता हू। यही मेरा अन्न है। तुम इन्द्र की वृष्टि से मुझे बचाना।"

अर्जुन ने कहा—"मेरे पास दिव्य अस्त्र तो हैं, किन्तु धनुष नही, और कृष्ण के पास भी उनके बल के अनुरूप आयुध का अभाव है। हे अग्निदेव, ये आयुध हमें दीजिए।" तब अग्नि ने वरुण का ध्यान किया और उनसे अर्जुन के लिए गाडीव और कृष्ण के लिए चक्र प्राप्त किया। उन्हे प्राप्तकर अर्जुन और कृष्ण खाण्डव-वन में पहुचे और उसके दाह में अग्नि की सहायता की। जव वन में चारो ओर से आग लगी तव अनेक नाग उसमें से निकलकर भागे। तक्षक उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था, वहा न था। उसका पुत्र अश्वसेन किसी प्रकार अग्नि की लपटो के बीच में से निकलकर भागा। इन्द्र ने नागो की सहायता करनी चाही, किन्तु कृष्ण और पार्थ के सामने कुछ न कर सके।

ज्ञात होता है कि इस कथा के पीछे ऐतिहासिक अनुश्रुति का कोई तथ्य छिपा है। युधिष्ठिर की इन्द्रप्रस्थ राजधानी के पास ही खाडव-वन में नाग या मुडा जाति की एक बस्ती बच गई थी। नागो का कुरुवश के साथ पुराना वैर चला आता था, जिसने आगे चलकर परीक्षित और जनमेजय के समय मे उग्ररूप धारण किया। उस उपनिवेश को निर्मूल करके इन्द्रप्रस्थ के राज्य को निष्कटक बनाना, यही कृष्ण और अर्जुन का उद्देश्य था, जो खाडव-दाह की इस कथा के मूल में है। उसी खाडव-वन में तक्षक के घर में मय असुर भी छिपा हुआ था। इस विपत्ति के समय अपने प्राण बचाने के लिए वह अर्जुन की शरण में आया और अर्जुन ने उसे अभयदान दिया।

इस प्रकार पुरुवश और असुरवश में मेल हो गया। कुछ समय के लिए नाग भी हततेज हो गए। यह देखकर नाग और असुरो के पक्षपाती इन्द्र ने कृष्ण और अर्जुन के पास आकर सधि कर ली। इस सघर्ष मे इन्द्र और अग्नि आर्यों के इन दो वडे देवो में एक शाखा के अधिष्ठाता इन्द्र नाग और असुरो के पक्षपाती थे और दूसरी शाखा के अधिष्ठाता अग्नि पुरुवश के साथ थे। इस प्रकार इस कथानक से प्राक्कालीन जातीय सघर्षों के धुधले इतिहास पर प्रकाश की कुछ किरणें स्फुट होती हैं।

(आदि पर्व समाप्त)

: ११ :

देवर्षि नारद का उपदेश

आदि-पर्व के अत में कहा जा चुका है कि अर्जुन ने मय नामक असुर को खाडव-दाह के अवसर पर अभय-दान दिया था। उस उपकार से कृतकृत्य होकर मय ने कृष्ण के समक्ष अर्जुन से विनयपूर्वक कहा—"हे कौन्तेय, आपने दहकते हुए क्रुद्ध काले पावक से मेरे प्राणो की रक्षा की। इसलिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करू ?"

अर्जुन ने कहा—"हे महान् असुर, तुम अपना कर्तव्य कर चुके, अव

प्रसन्न है एव व्यसनो में आसक्त तो नही है ? जिन दूतो पर तुम्हारा भरोसा है, वे, तुम्हारे अमात्य अथवा तुम स्वय किसी प्रकार अपने गुह्य मत्र को प्रकट तो नही कर देते ? अथवा उसके विषय में विविध अनुमान लगाकर उसकी वास्तविकता को तो दूसरे लोग नही जान लेते ?

"अपने कुलीन और अनुरक्त मत्रियो को व्यवहार में तुम आत्मवत् समझते हो या नही ? तुम्हारे प्रति उनकी बुद्धि पवित्र है या नही ? तुमने उन्हें जीवन के सब साधनो से सम्पन्न बनाया है या नही ? जिस राजा के मत्री को शास्त्रो में चतुर मत्रधनी अमात्य सु-गुप्त रखते है, उसे ही विजय मिलती है। तुम समय पर सोकर ठीक समय पर जागते हो या नही ? रात्रि के अन्तिम भाग में शात मन से अपने कार्यों पर विचार करते हो या नही ? कही तुम केवल प्रधान मत्री तक ही अपनी मत्रणा को सीमित तो नही रखते? अथवा मत्रि-परिषद् के सभी मन्त्रियो को महत्त्वपूर्ण विषय के मत्र मे सम्मिलित तो नही करते ? केवल प्रधान मत्री के साथ मत्र करने से वह राजा को अपने मत से प्रभावित कर सकता है, जबकि बहुत से मन्त्रियो के साथ किया हुआ रहस्यपूर्ण मत्र प्रकट हो जाता है। कही तुम्हारा किया हुआ गुप्त मत्र सारे राष्ट्र में तो नही फैल जाता ? राष्ट्र के लिए महान् अभ्युदयवाले जो निश्चय तुम करते हो, उनपर तुरन्त कार्य करना आरम्भ कर देते हो या नही ? उन्हे लम्बा तो नही टाल देते ? तुम्हारे जो कार्याध्यक्ष हैं, उनको सदा अपने से परोक्ष रखकर भयभीत तो नही कर देते ? अथवा वे सब परित्यक्त-से तो नही रहते ? राजा का सान्निध्य उनको कर्मक्षम रखता है। तुम्हारे कर्मों की सूचना फल निष्पन्न होने पर ही औरो को मिलती है या नही ? अनवाप्त कर्मों की बात तो चारो ओर नही फैल जाती ? तुम्हारे राज्य के कार्यालयो के अध्यक्ष और सैनिक-विभाग के अधिकारी निर्दिष्ट कर्तव्यो का पालन करने में समर्थ होते है या नही ? कार्यालय के कामो में जो विज्ञ है, ऐसे एक पडित को रखना अच्छा है, हजार मूर्खों को रखना अच्छा नही, क्योकि जब काम अटकता है, तब केवल बुद्धिमान ही उस सकट से बचाता है।

अधिकारियो से व्यवहार

"तुम्हारे राज्य में दुर्गों को धन, धान्य, शस्त्र, जलाशय, यन्त्र, शिल्पी

और धनुर्धरो से सुसज्जित तो कर दिया गया है ? मेधावी, शूर और विचक्षण एक भी अमात्य जिस राजा के पास होता है उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है। अपने राज्य में और दूसरे राष्ट्रो के भी सब महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियो की जानकारी अपने गुप्तचरो से प्राप्त करते हो या नही ? शत्रुओ द्वारा अविदित रूप से उनके कार्यों पर तुम निगाह रखते हो या नही ? विनयसपन्न, कुलीन, बहुश्रुत और शास्त्रो की चर्चा करनेवाले अपने पुरोहित का सत्कार तुम करते हो या नही ? अपने प्रधान अधिकारियो को महत्त्वपूर्ण कार्यों में, बीच के अधिकारियो को मध्यम कार्यों में और निम्न वर्ग के अधिकारियो को उनके अनुरूप छोटे कर्मों में ही नियुक्त करते हो या नही ? पिता-पितामह के समय से आये हुए, सब छल-छिद्रो से विशुद्ध श्रेष्ठ अमात्यो को श्रेष्ठ कामो में ही लगाना चाहिए। कही ऐसा तो नही होता कि तुम्हारे मत्री तुम्हारे उग्र व्यवहार से प्रजाओ को उद्वेजित करते हुए राष्ट्र का अनुशासन करते हो ? तुम्हारा सेनापति शूर, मतिमान, धृतिमान, अनुरक्त, दक्ष और कुलीन तो है ? सग्राम में निपुण बलाधिकृत या सैनिक मुख्याधिकारियो के विशेष पराक्रम दिखाने पर तुम उन्हें सत्कारपूर्वक सम्मानित करते हो या नही ? तुम अपनी सेना को यथोचित भोजन और वेतन ठीक समय पर देते हो या नही ? कही इसमे ढिलाई तो नही करते ? जिन्हे भोजन और वेतन पर नियुक्त किया है, यदि उनके काल का अतिक्रमण हो जाता है तो अपनी दुर्गति के कारण वे स्वामी पर क्रोध करने लगते है। इसे भारी अनर्थ समझना चाहिए।

"कही ऐसा तो नही करते कि युद्ध-सबधी सभी मामलो में तुम मनमाने ढंग से स्वय आदेश देने लगते हो ? क्योकि अपने मन से चाहे जैसा करने से शासन-पद्धति का अतिक्रमण हो जाता है। जो राजपुरुष अपनी शक्ति और श्रम से कोई शोभन कर्म सिद्ध करता है, उसे तुम अधिक सम्मान या वेतन में वृद्धि देते हो या नही ? जो विद्या-विशेषज्ञ या ज्ञान-विशारद लोग है, उन्हे उनके गुण और योग्यता के अनुसार दान से कृतार्थ करते हो या नही ? जो लोग राज्य के लिए मृत्यु को प्राप्त हो जाते है, या किसी आपत्ति में पड जाते है, उनके भरण-पोषण का भार तुम उठाते हो या नही ? जो शत्रु युद्ध में पराजित हुआ है, या भय से तुम्हारी शरण में आ गया है, उसकी रक्षा पुत्रवत् करते हो या नही ? सारी पृथिवी के लिए माता-पिता के समान समभाव रखने

वाले तुम स्वय तो पक्षपात में नही पड जाते ? जब अपने शत्रु को सकट म फसा हुआ देखते हो, तब तुरन्त उस पर चढाई करते हो या नही ? ऐसे समय तुम अपनी सेना को अग्रिम वेतन तो बाटते हो और परराष्ट्र से प्राप्त होनेवाले रत्नो में सेनापतियो को भाग देते हो या नही ?

जब तुम शत्रुओ पर चढाई करते हो, उससे पूर्व ही तुम्हारे द्वारा सुप्रयुक्त साम-दान-दड-भेद ये उपाय वहा अपना काम करने लगते हैं या नही ? अपने राष्ट्र को पहले दृढ बनाकर पीछे तुम शत्रु पर अभियान करते हो और शत्रु को पराजित करने के बाद उसकी रक्षा तो करते हो ? बलमुख्यो के समुचित नेतृत्व में तुम्हारी चतुरगिणी सेना शत्रु-पक्ष को लूट-पाट द्वारा बाधा तो नही पहुँचाती है ? जब तुम परराष्ट्र में शत्रुओ से युद्ध करने जाते हो, तब वहाकी खडी फसल (लव) और तैयार फसल (मुष्टि), इन दोनो पर भी अधिकार कर लेते हो या नही ? स्वराष्ट्र और परराष्ट्र में जहा कही तुम होते हो, तुम्हारे बहुसख्यक अगरक्षक आवश्यक सेवाकार्य और रक्षाकार्य का सम्पादन करते हैं या नही ? तुम्हारी इच्छा के अनुसार वे तुम्हारे भोजन, अनुलेपन और सुगधित द्रव्यो की रक्षा तो इस प्रकार करते हैं कि उनमे कोई विष न मिला सके ? तुम्हारे लिए राजपुरुष, अन्न के कोष्ठागार, वाहन, राजद्वार की रक्षा, आयुध और विविध स्थानो से आय, इन बातो का प्रबन्ध तुम्हारे अधीन सामत लोग करते हैं या नही ?

समुचित सावधानी

"अपने आभ्यतर प्रतीहारो और बाह्य प्रतीहारो से सर्वप्रथम अपने आपको सुरक्षित तो रखते हो ? और फिर उन्हे अपने अन्य कुटुम्बियो से एव आपस में मिल जाने से पृथक् तो रखते हो ? कही दिन का पूर्वार्द्ध भाग पान, द्यूत, क्रीडा, प्रमदा आदि व्यसनो में तो तुम नही खो देते ? कही तुम अपनी आय के चौथाई, या आधे, या तीन-चौथाई भाग से अधिक तो व्यय नही कर डालते ? तुम अपने कुटुम्बियो की, गुरुजनो की, वृद्धो की और अपने आश्रित व्यापारी और शिल्पियो की उनके विपद-ग्रस्त होने पर धन-धान्य से निरन्तर सहायता तो करते हो ? आय और व्यय विभाग में नियुक्त सब गणक और लेखक नित्यप्रति दिन के पूर्वार्द्ध भाग में हिसाब-किताब (आय-

व्यय) का तो ठीक लेखा-जोखा (अनुष्ठान) करते हैं ? अर्थ-विभाग में जो अनुभवी (सप्रौढ) हितैषी और अनुरक्त कर्मचारी है, उन्हे भ्रष्टाचार का पूर्व प्रमाण पाये विना उनके पदो से अलग तो नही कर देते ? अपने राजकर्मचारियो में उत्तम, मध्यम और अधम कोटियो को पहचान कर जो जिस काम के योग्य है, उसे वही नियुक्त तो करते हो ? कही तुम ऐसे व्यक्तियो को तो राजसेवा में नियुक्त नही कर लेते जो लोभी, चोरी करनेवाले, तुम्हारे प्रतिकूल अथवा नावालिग (अप्राप्त व्यवहार) हैं ? कही चोर और लोभी राजकर्मचारी, राजकुल के कुमार, अन्त पुर का स्त्रीवर्ग, अथवा तुम स्वय जनता को आर्थिक दृष्टि से लूटने तो नही लगते ?

"क्या तुम इस वात का ध्यान रखते हो कि तुम्हारे राष्ट्र में खेती करने वाले सव प्रकार पनपते हैं ? क्या राष्ट्र में स्थान-स्थान पर जल से भरे हुए वडे-वडे तालो का तुमने निर्माण कराया है ? कही खेती को तुमने दैव के आश्रय पर तो नही छोड दिया ? जिस समय किसानो पर विपत्ति पडती है, उस समय तुम उनमें नि शुल्क भोजन और वीज का तो वितरण करते हो ? उन विपत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए तुम केवल रुपये सैकडे व्याज की दर से अनुग्रह-ऋण (तकावी) का तो प्रवन्ध करते हो ? हे तात, कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा इन तीनो के सश्रय से ही लोक का सुख वढता है। क्या तुमने अपने राष्ट्र में ईमानदार राजकर्मचारियो द्वारा वार्ता-शास्त्र अर्थात् कृषि, वाणिज्य और पशुपालन की समुचित व्यवस्था कर दी है ?

"हे राजन्, क्या तुम्हारे जनपद मे ईमानदार, वुद्धिमान और कर्त्तव्य-परायण पच लोग एकत्र होकर जनता का कल्याण करते हैं ? राजा को उचित है कि अपने पाटनगर या राजवानी की सुरक्षा का पक्का प्रवन्ध करे। दुर्ग-विवान के जिन उपायो से नगर-गुप्ति की जाती है, उसी विधि से एक-एक गाव की रक्षा-विधि करे, और गावो की रक्षा-व्यवस्था के द्वारा समस्त जनपद की रक्षा का वन्धान वावे, और सुरक्षित हुए ग्रामो और जनपद को नगर-रक्षा के साथ सवंधित कर दे। इस प्रकार का विधान क्या तुमने अपने राष्ट्र में कर दिया है ? तुम्हारे राज्य में सेना और अध्यक्ष लोग सम-विपम स्यानो में डकैतो का पीछा तो करते है ? तुम अपने अन्त पुर को शात और अनुकूल तो रखते हो ? उसकी रक्षा का तुमने ठीक प्रवन्ध किया है

या नही ? तुम उसपर अधिक श्रद्धा रखकर राज्य के गुह्य मत्र तो नही वता देते ? रात्रि के पहले पहर के एकान्त मुहूर्त्त में गुप्तचरो के समाचार सुनकर और तदनुसार कार्य का आदेश देकर रात्रि के शेष दो पहरो में अपने आभ्यतर जनो के साथ सुख और निद्रा का अनुभव तो करते हो ? और फिर चौथे पहर में उठकर धर्म और अर्थ-सवधी कार्यों पर विचार तो करते हो ?

"अपने मन्त्रियो के साथ प्रात काल दर्शन के लिए सजधज कर आई हुई प्रजा को दर्शन तो देते हो ? लाल वस्त्र पहने हुए, हाथ में तलवार लेकर, बारहबानी-लैस तुम्हारे अग-रक्षक चारो ओर से तुम्हे घेरकर तुम्हारी सेवा करते है या नहीं ? जिस प्रकार यमराज प्राणिमात्र के प्रति समव्यवहार करते हैं, वैसे ही तुम भी दड्य, पूज्य, अप्रिय और प्रिय इन सवमें समानता वरतते हो या नही ? शरीर की व्याधियो को औपध और नियम-पालन से और मन के रोगो को ज्ञानवृद्ध पुरुषो की सेवा से दूर करते हो या नही ? अष्टाग-चिकित्सा के जाननेवाले सुहृद एव अनुरक्त वैद्य लोग तुम्हारे शरीर की रक्षा तो करते हैं ? ऐसा तो नही होता कि वादी-प्रतिवादी के आने पर तुम मान, मोह या कामवश उन्हे टाल देते हो ? तुम अपने आश्रित मनुष्यो की वृत्ति को किसी अवस्था में भी रोक तो नही लेते, चाहे उन्होने लोभ, मोह, विश्वास और प्रेम किसी दृष्टि से तुम्हारा आश्रय क्यो न लिया हो ? कही तुम्हारे पौर और जानपद लोग औरो से क्रीत होकर तुम्हारे विरुद्ध आचरण तो नही करते ? तुम बलवान शत्रु को भी अपने सैनिक वल से अथवा नीति-बल से या दोनो से दबाकर अपने से दुर्बल बनाये रखते हो या नही ? तुम्हे प्रधान मान कर राजा लोग तुम्हारे प्रति अनुरक्त भाव से अपने प्राणतक देने को उद्यत रहते है या नही ? तुम सव विद्याओ की, ब्राह्मणो और सद्वृत्ति लोगो की गुणो के अनुसार पूजा करते हो या नही ?

"क्या तुम पूर्व-पुरुषो द्वारा आचरित त्रयीमूलक धर्म उन्हीके समान पालन करते हो ? तुम्हारे घर पर आमन्त्रित होकर गुणवान द्विज लोग तुम्हारी उपस्थिति में स्वादु अन्नो से तृप्त होते हैं या नही ? उन्हे उचित दक्षिणा देते हो या नही ? तुम एकाग्र मन से वाजपेय, पुण्डरोक आदि सोम-यज्ञो को विधिपूर्वक करते हो या नही ? अपने सवधी, गुरुजन, द्विजजन और वृद्धजन, देवता और तापस, चैत्य-वृक्ष और कल्याणसपन्न ब्राह्मण, इनका

तुम विधिपूर्वक अभिवादन तो करते हो ? जिस आचार और वुद्धि का मैंने उल्लेख किया है, वह धर्म, काम और अर्थ की प्रकाशिका है एव आयु और यश का सवर्द्धन करती है। तुमने भली प्रकार उसे ग्रहण तो कर लिया है ? जो राजा इस प्रकार की वुद्धि से युक्त होता है, उसका राष्ट्र कभी दुख नही पाता।

"लोभ के वशीभूत हो तुम्हारे मत्री किसी आर्य, विशुद्धात्मा और सच्चे व्यक्ति को चोरी के झूठ-मूठ अपराध मे पकडवाकर शास्त्रानुसार न्याय के विना ही मृत्युदड तो नही दे देते ? अथवा ऐसा तो नही होता कि रगे हाथ पकडे हुए एव भली प्रकार छानवीन करके न्याय-विशेषज्ञो द्वारा अपराधी ठहराये हुए चोर को भी धन के लोभ से मत्री छोड देते हो ? धनवान् और धनहीनो के वीच में न्याय का निश्चय हो जाने पर भी कहीं मत्री लोग पैसा खाकर किये हुए निश्चयो को उलट-पुलट तो नही कर देते ? हे राजन्, वुद्धिमान व्यक्तियो ने ये चौदह दोष कहे है—नास्तिकता, अनृत, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान लोगो से मिलकर विचार न करना, आलस्य, चित्त की चचलता, केवल एक व्यक्ति के साथ कार्य का प्रारम्भ करना, जो अनभिज्ञ है उनके साथ उस विषय का विचार करना, निश्चित की हुई वात का आरम्भ न करना, मत्र को गुप्त न रखना, मगलात्मक कार्यों का न करना और विषयो में आसक्ति। तुम अपने आपको इन दोषो से युक्तिपूर्वक मुक्त तो रखते हो ? वेद यज्ञ मे सफल होता है, धन दान और भोग से, स्त्रिया रति और सतान से एव पढना-लिखना शील और सदाचार से।"

अन्य कुशल-प्रश्न

यह कहकर नारदजी ने युधिष्ठिर से कुछ और भी कुशल-प्रश्न किये—

"जो व्यापारी लाभ के लिए दूर-दूर से माल लेकर आते हैं, उनसे तुम्हारे चुगी के अधिकारी निर्धारित शुल्क तो वसूल करते है ? वे सव वणिक् तुम्हारे नगर और राज्य में छल-प्रपचो से ठगे न जाकर अपना माल तो ला सकते हैं ? तुम वृद्धो के धर्मानुकूल और अर्थशास्त्रानुकूल वचन तो सुनते हो? राज्य के कृषितत्र, गोधन एवं पुष्प और फलो से उत्पन्न धान्य, घृत और मधु धर्मार्थ द्विजातियो को दिया जाता है या नही ? तुम सव शिल्पियो को चौमासे से

पहले ही पर्याप्त द्रव्य-सामग्री तो दे देते हो, जिससे वे हर्जे के विना अपना काम करते रहे ? शिल्पी जो काम करते हैं, क्या तुम उसकी जानकारी रखते हो ? क्या शिल्पी की प्रशसा करते हो और विशेष व्यक्तियो को सबके बीच मे पूजादिक से सम्मानित करते हो ? हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र आदि शिल्प और कलाओ के सूत्रात्मक सग्रहो का क्या तुम ज्ञान रखते हो ? क्या तुम धनुर्वेद के सूत्र और नागर-यत्रसूत्र का अपने महल में अभ्यास करते हो ? सब अस्त्र, अभिचार और विष-योगो का तुम्हे ज्ञान है ? अग्नि, सर्प, व्याल, रोग, राक्षस, इन भयो से राष्ट्र की रक्षा तो होती है ? अधे, गूगे, लगडे, अनाथ, विकलाग और प्रव्रजित लोगो के पालन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर पिता के समान तुम लेते हो या नही ?"

नारद की यह अमृतोपम वाणी सुनकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने प्रसन्न मन से उन्हें अभिवादन करके कहा—"आपने जैसा कहा है, मैं वैसा ही करूगा। आपके इस उपदेश से मेरी प्रज्ञा में वृद्धि हुई है।"

सभा-पर्व का यह प्रकरण राजाओ के लिए आवश्यक प्रज्ञा या व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का सुन्दर सग्रह है। महाभारत के अन्य अनेक प्रकरणो मे भी धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल जीवन-यापन की निपुणता को प्रज्ञा कहा है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा एक शक्ति मानी जाती थी। क्षत्रियो के लिए प्रज्ञा, गृहस्थो के लिए प्रज्ञा, प्रव्रजित लोगो के जीवन मे प्रज्ञा, स्त्रियो की कर्त्तव्य-निष्ठा में प्रज्ञा, यहातक कि वणिक् और शिल्पी जनो के व्यवहार में भी प्रज्ञा का आवश्यक स्थान था। उस काल में प्रज्ञा एक पारिभाषिक शब्द ही बन गया था। महाभारत में यत्र-तत्र विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रज्ञा की व्याख्या पाई जाती है। लोक, परलोक, धर्म, धन, सुख, कर्त्तव्य, इन सब प्रकार के कर्त्तव्यो का समुचित निर्वाह करने की जो समन्वयात्मक विधि थी, उसका ज्ञान और तदनुसार आचरण प्रज्ञा का लक्षण समझा जाता था। नारद ने प्रश्नमुख से राजाओ के लिए आवश्यक प्रज्ञा या बुद्धि की व्याख्या की है।

यह प्रकरण किसी प्राचीन अर्थशास्त्र पर आश्रित जान पडता है। इसकी कई बातें कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी मिलती हैं। कौटिल्य ने अपने ग्रथ में जिन प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें 'पिशुन' नामक

एक आचार्य भी है। यह पिशुन ही नारद ज्ञात होते है। वस्तुत मन्त्रिपरिषद् के कितने मन्त्रियो के साथ राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए, इस विषय में पिशुन का मत और नारद-राजनीति का मत एक-सा है। पिशुन का कहना था कि न तो केवल प्रधान मन्त्री से और न बहुत से मन्त्रियो मे ही राजा को मन्त्रणा करना उचित है, किन्तु जो मन्त्री जिस कर्म के विषय में मन्त्र देने के योग्य हो, उनसे उस-उस विषय में मन्त्रणा करनी चाहिए। यही मत सभा-पर्व के 'कच्चिन्मन्त्रयने नैक कच्चिन्न बहुभि सह' (५।१९) इस श्लोक मे व्यक्त किया गया है। इस पर्व के अन्त में सन्निविष्ट फलश्रुति इस बात का सकेत है कि किसी प्राचीन अर्थशास्त्र से उठकर यह प्रकरण महाभारत के इस स्थल में सुरक्षित रह गया है।

: १२ :

युधिष्ठिर की सभा

नारद के मुख से प्रश्नो के रूप मे राजधर्मानुशासन सुनकर युधिष्ठिर ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"हे भगवन्, पूर्व राजाओ ने जिस न्यायोचित मार्ग का अनुसरण किया था, मैं भी यथाशक्ति उनके सत्पथ पर चलने की इच्छा रखता हू।" पुन नारद को स्वस्थ देखकर युधिष्ठिर ने मय दानव द्वारा बनाई हुई अपनी उस सभा के विषय में जानना चाहा।

सभा और समिति

वस्तुत इस प्रसग में महाभारतकार ने प्राचीन भारतवर्ष में राजाओ की जो सभा हुआ करती थी, उनके विषय में अच्छा प्रकाश डाला है। वैदिक काल मे ही सभा और समिति ये दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सस्थाए थी। सभा राजा की परिषद् जैसी सस्था थी और समिति समस्त जन की प्रतिनिधि सस्था थी। वैदिक काल में समिति दोनो में अधिक महत्त्वपूर्ण थी। कालान्तर में जब जनता की राजनीतिक चेतना कुछ फीकी पडी, तब समिति का महत्त्व

उतना ही घट गया और सभा क्रमश अधिक महत्त्वपूर्ण होती गई । वैदिक काल में भी सभा के दो अर्थ थे । एक तो सभा सदस्यो की सस्था थी, जिन्हे सभेय कहते थे । सभेय ही आगे चलकर पाणिनीय सस्कृत में सभ्य ('सभाया साधु') कहलाने लगे । सभा का दूसरा अर्थ वह भवन या शाला थी, जिसमें उस सस्था की बैठक होती थी । यह भवन खभो की सहायता से तैयार किया जाता था, जिन्हे वैदिक भाषा में सभा-स्थाणु कहते थे । वैदिक काल की कोई ऐसी इमारत खुदाई में नही मिली, जिसे उस समय की सभा का नमूना कहा जा सके । इसका कारण यह ज्ञात होता है कि उस समय की अधिकाश सभाए लकडी की बनती थी । इन्हे काष्ठ-सभा कहा जाता था । यह शब्द पाणिनि सूत्र २।४।२३ (सभा राजामनुष्यपूर्वा) के प्राचीन उदाहरण के रूप में बच गया है । सभा शब्द के वे दोनो अर्थ पाणिनि के समय और उसके बाद की राजनीतिक शब्दावली में भी चालू रहे ।

पत्थर से बनी पहली सभा

यहा युधिष्ठिर का प्रश्न इसी पृष्ठिभूमि को लेकर पूछा गया है । मय असुर ने युधिष्ठिर के लिए जो सभा बनाई थी, उसे मणिमयी कहा गया है, जिसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि वह पत्थरो की बनी हुई थी । लोक में जिसे सग कहते हैं, उसे ही प्राचीन परिभाषा में मणि कहते थे । इसीलिए यशब, हकीक आदि की बनी हुई गुरिया मनके कहलाती थी । ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर की यह सभा लकडी की न होकर पहले-पहल पत्थर की बनाई गई थी । यह परिमाण में लम्बी-चौडी थी और भीतर से इसके खभे और पत्थर घोटकर चिकने और चमकदार बनाये गए थे । अतएव युधिष्ठिर के पूछने पर नारद ने कहा—"हे तात, जैसी तुम्हारी यह मणिमयी सभा है, वैसी मनुष्यो में न पहले कभी देखी गई और न सुनी गई ।" (६।१०) नारद के इस कथन के मूल में ऐतिहासिक तथ्य है ।

पत्थर की सभा का पहला उदाहरण मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की सभा का मिला है, जिसका उल्लेख पतजलि ने भी अपने महाभाष्य में 'चन्द्रगुप्त-सभा' नाम से किया है । एक पत्थर में तराशे हुए बीस-बीस फुट ऊचे लगभग अस्सी खभो से यह सभा बनी थी, जिसके अवशेष प्राचीन पाटलिपुत्र की खुदाई

में प्राप्त हुए हैं। युधिष्ठिर की मणिमयी सभा का वर्णन उससे मिलता है।

अन्य दिव्य सभाएं

नारद ने इतना और कहा—"यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर और ब्रह्मा इन पाचो की दिव्य सभाओ का परिचय मुझे है। यदि तुम चाहो तो मैं कहू कि वे किस द्रव्य की बनी हुई हैं, विस्तार और आयाम में कितनी लम्बी-चौडी हैं और उनके सभासद कौन-कौन है।"

युधिष्ठिर के इच्छा प्रकट करने पर नारद ने इन पाचो सभाओ का विस्तार से वर्णन किया। ये वर्णन भारत के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्त्व रखते हैं। इनका सार यह है कि यम की सभा में अनेक राजा लोग, वरुण की सभा में नाग और असुर, नदी और समुद्र, कुबेर की सभा में यक्ष, राक्षस, गधर्व, अप्सराए और भगवान शकर, ब्रह्मा की सभा में महर्षि और सब शास्त्र, एव इन्द्र की सभा में देवता और महर्षि सदस्यो के रूप में विराजमान रहते थे। राजाओ में केवल हरिश्चन्द्र ऐसे है, जो इन्द्र की सभा के स्थायी सदस्य है।

युधिष्ठिर द्वारा इसका कारण पूछने पर नारद ने कहा—"हरिश्चन्द्र सब राजाओ में सम्राट थे। उन्होंने जैत्र रथमें बैठकर शस्त्र के प्रताप से सातो द्वीपो को जीत कर राजसूय नामक महाक्रतु का अनुष्ठान किया, जिसके लिए सब राजाओ ने लाकर उन्हें धन दिया। उस यज्ञ के प्रताप से हरिश्चन्द्र उन सब राजाओ से अधिक तेजस्वी हुए और उस महायज्ञ की समाप्ति पर अभिषिक्त होकर साम्राज्य के साथ सुशोभित हुए। अतएव हे युधिष्ठिर, तुम भी सकल्प करो कि हरिश्चन्द्र की भाति राजसूय महायज्ञ का अनुष्ठान करोगे। अपने वशवर्त्ती भाइयो की सहायता से तुम सारी पृथिवी को जीत सकते हो।"

यह सुनकर युधिष्ठिर ने भाइयो के साथ मत्रणा की और राजसूय-यज्ञ करने का सकल्प किया। उन्होंने सर्वप्रथम अपने मन में सोचा कि किस प्रकार सब लोगो का हित किया जाय, क्योकि प्रजाओ के प्रति अनुग्रह उस यज्ञ की पहली सीढी है।

युधिष्ठिर ने जब राजसूय के सकल्प से प्रजाहित का अवलम्बन

किया, तव वह सच्चे अर्थो मे अजातशत्रु वन गए। राज्य में कोई उनका वैरी न रहा। उधर वह अपने भाइयो और मन्त्रियो से वार-वार राजसूय के विषय में सलाह करने लगे। मन्त्रियो ने कहा—"हे महाप्राज्ञ, आपको अवश्य यह यज्ञ करना चाहिए। राजसूय से अभिषिक्त होकर ही राजा सम्राट् वनता है। आपमें सम्राट् वनने के गुण हैं। आपके लिए राजसूय का अनुकूल समय है। हम सव आपके वशवर्ती हैं। अतएव विना विचार किये अब आप राजसूय-यज्ञ का निश्चय कीजिए।"

वस्तुत यहा तक युधिष्ठिर में और दुर्योधन मे राजनीतिक होड या सीधी टक्कर होने का कोई कारण नही वना था। दुर्योधन गगा के किनारे हस्तिनापुर मे और युधिष्ठिर यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ में समान पदवी के राजा थे। युधिष्ठिर के मन में महत्त्वाकाक्षा का यह नया अकुर उत्पन्न हो गया। उन्होने वार-वार अपने पुरोहित धौम्य और कुलवृद्ध द्वैपायन व्यास से परामर्श किया, किन्तु उनके समर्थन से भी वह कार्य के निश्चय पर न पहुच सके। तव उनके मन में यह विचार आया कि अकेले कृष्ण ही इस विषय में पक्की सलाह दे सकते हैं। वह इस समय सव लोगो से वुद्धि में श्रेष्ठ हैं। उनके कर्म देवतुल्य है। कोई विषय ऐसा नही, जो उन्हें न आता हो।

इस प्रकार वुद्धि स्थिर करके उन्होने द्वारावती में अपना दूत भेजा।

: १३ :

जरासन्ध-वध

युधिष्ठिर की इच्छा जानकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ आये। स्वागत-सत्कार करके युधिष्ठिर ने कहा—"हे कृष्ण, मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हू। किन्तु कोरी इच्छा से वह नही होता। वह जिस तरह मिलता है, तुम जानते हो। जो सवका राजा होता है, वही राजसूय का अधिकारी है। मेरे मित्र मुझसे आकर कहते हैं कि मैं राजसूय करू। सो हे कृष्ण, इस विषय में तुम्ही निश्चित परामर्श दो, जिससे मेरा क्षेम हो।"

जरासन्ध का बाधक गुट्ट

कृष्ण ने उत्तर दिया—"हे युधिष्ठिर, तुममें राजसूय-यज्ञ के सव गुण

है, परन्तु मेरी यह सम्मति है कि मगध की राजधानी गिरिव्रज का प्रतापी सम्राट जरासन्ध जबतक जीवित है, तबतक तुम्हारा राजसूय सफल नही हो सकता। उसने देश के अनेक राजाओ को गिरिव्रज की कन्दराओ मे लाकर बन्द कर रखा है, जिसके कारण वह गिरव्रज एक प्रकार मे पुरुषव्रज बन गया है। वह जरासन्ध महादेव का भक्त है। हम लोग भी किसी समय शूरसेन देश में रहते थे, किन्तु कस की मृत्यु होने पर उसकी पत्नी ने अपने पिता जरासन्ध को शूरसेन देश पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। उस समय हमारे उदीच्य भोजो के अठारह कुल भागकर पश्चिम की ओर बिखर गएऔर हमने रैवतक पर्वत के समीप कुशस्थली नामक नई राजधानी बसाई। जरासन्ध की सेना से लडना हमारे लिए असभव था। तीन सौ वर्षोतक उससे जूझने पर भी हम पार नही पा सकते। पहले हम लोग आनन्दित जीवन बिताते हुए मथुरा में रहते थे, किन्तु उसके आक्रमण से अपनी महती श्री को समेटकर धन-सपत्ति और बन्धु-बान्धवो के साथ पश्चिम में जाकर बस रहे। यद्यपि हमारे अठारह कुलो में अठारह हजार जान पर खेलनेवाले व्रात नामक योद्धा है, और भी सात रथी और सात महारथी है, आहुक और अन्धक भोज के पुत्र रण में लोक का सहनन करनेवाले है, फिर भी आजतक मध्यदेश के उस जीवन की टीस हम सबके हृदय से नही मिटती।

"और भी, वह जरासन्ध अकेला नही है, सहायक राजाओ का पूरा समूह उसके पक्ष में है, उसने पृथिवी के मध्य भाग को अपने अधीन करके साम्राज्य स्थापित किया है। चेदि का शिशुपाल शिष्य की भाति उसका अनुगामी है। करूष देश का वक्र उसके साथ है। कुन्ति देश (आधुनिक कोतवार, दतिया, ग्वालियर) का दन्तवक्र, प्राग्ज्योतिष का भगदत्त, वग और पुड्र का पौंड्रक, विदर्भ का भीष्मक—ये सब उसी जरासन्ध के गुट्ट में है। इसे तोडे बिना कोई राजसूय सफल नही हो सकता। हे राजन्, मेरी यह मति है। आगे तुम जैसा उचित समझो, निश्चित स्वय करो।"

कृष्ण की बात युधिष्ठिर ने समझ ली। उस समय की जो राजनीतिक परिस्थिति थी, उसमें जरासन्ध मगध से शूरसेन-मथुरा तक के प्रदेश को दबोच कर चट्टान की तरह दृढ बैठा था। सहायक राजाओ की एक शृखला उसके चारो ओर कसी हुई थी। मगध से जो साम्राज्य उठ रहा था, उसके

साथ टक्कर कौन ले, यही प्रश्न था।

दो प्रकार की शासन-प्रणालिया

इस समय भारत में दो प्रकार की शासन-प्रणालियो से लोग परिचित थे। एक सार्वभौम शासन-प्रणाली थी, जिसमें अनेक जनपदो के बीच कोई एक राजा अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करके ऊपर तैर आता था, किन्तु वह अन्य जनपदीय राजाओ को उखाडता न था। प्रत्येक जनपद की पृथिवी का स्वामी पार्थिव कहलाता था। किन्तु कई जनपदो के प्रदेश को मिला कर महा-पृथिवी या सर्वभूमि कहते थे। उसीका अधिपति सार्वभौम कहलाता था। दौष्यन्ति भरत इसी प्रकार के सार्वभौम थे, जिन्होने अनेक अश्वमेधो द्वारा अन्य जनपदीय राजाओ को अपने वश में किया, किन्तु उन्हे जड से उखाडा नही।

दूसरी शासन-प्रणाली गणराज्यो की थी। अन्धक-वृष्णियो में यही शासन था। इस पद्धति में प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। हरएक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। कुलो के राजा मिलकर अपनेमें से किसी एक को श्रेष्ठ चुन लेते थे। कभी कोई श्रेष्ठ बनता, कभी कोई। इस प्रणाली को पारमेष्ठ्य पद्धति कहा गया है।

साम्राज्य और पारमेष्ठ्य इन दोनो के तारतम्य का विवेचन करते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"हे कृष्ण, आपने जो कहा है, वह ठीक ही है। सम्राट शब्द अन्य सबको हडप लेनेवाला है (सम्राट् शब्दोहि कृत्स्नभाक्, सभा० १४।२)। उसमें और गणराज्य में तीन मुख्य भेद हैं। साम्राज्य का आधार बल है, कुलराज्य का आधार शम या शाति की नीति है। जो लोग केवल मोक्ष में शम की बात कहते हैं, मै उनसे सहमत नही। शम की नीति तो राज्य के लिए भी है। दूसरे, सम्राट सारे जनपद के कल्याण को अपने ही केन्द्र मे समेट लेना चाहता है। किन्तु कुलराज्य में यह विशाल भूमि जहातक देखें, रत्नो से बिछी हुई जान पडेगी। जनपद के भीतर दूर-दूरतक जनता का श्रेय या कल्याण व्यापक रूप में पाया जायगा। तीसरे,सम्राट अपने समक्ष अन्य किसीके अनु-भाव या व्यक्ति-गरिमा को स्वीकार नही करता, किन्तु कुलराज्य में दूसरो से समवेत होकर ही कोई व्यक्ति प्रशस्त और पूज्य बनता है। आरम्भ (सैनिक

पराक्रम) मे पारमेष्ठ्य नही प्राप्त होता। उसमे तो कुल के मनस्वी लोगो की सम्मति से कार्य करना आवश्यक है। मुझे यह निश्चय प्रतीत होता है कि जरासन्ध के चक्र को तोडे विना मै स्वय सम्राट् के गुण नही प्राप्त कर सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि अपने स्वार्थ के लिए भीम और अर्जुन को और आपको कैसे भेज दू ? भीम और अर्जुन मेरी आखें है और आप तो मन के समान हैं। दोनो आखो और मन के विना जीना भी कोई जीवन है ? राजसूय के लिए यह दूसरा झझट खडा करके कही ऐसा न हो कि कोई अनर्थ देखना पडे। अतएव इस कार्य से हाथ खीच लेना ही अच्छा है।"

यह सुनकर अर्जुन और कृष्ण दोनो ने युधिष्ठिर को समझाया। अर्जुन ने कहा—"राजा को पराक्रमयुक्त होना चाहिए। वही पूरा क्षत्रिय है, जो विजय की वृत्ति रखता है। समस्त गुण पराक्रम के साथ है। यदि राजसूय यज्ञ के लिए जरासन्ध का विनाश करके हम राजाओ को छुडा सकें तो इससे वढकर क्या वात है ? शम के इच्छुक मुनियो के लिए कापाय ठीक है। आपके साम्राज्य के लिए हम शत्रुओ से युद्ध करेंगे।"

कृष्ण ने अर्जुन की वात का समर्थन करते हुए कहा—"भारत वश में उत्पन्न कुन्ती के पुत्र के लिए जो विचार उचित है, वह अर्जुन ने कहा है। क्या मृत्यु ने किसीके साथ रात या दिन का समझौता किया है ? अयुद्ध से किसीको अमर होते हुए भी नही सुना। अतएव जो विधिपूर्वक सुविचारित नीति है, उसीके अनुसार हृदय को सतोप देनेवाला कार्य करना चाहिए। हम लोग विना सेना के मगध मे जाकर जरासन्ध के पासतक पहुच जायगे। भीम, अर्जुन और मुझमे एकान्त मे मिलकर वह एक के साथ अवश्य युद्ध के लिए तैयार हो जायगा। यदि तुम्हारा हृदय स्वीकार करे, यदि मुझमें तुम्हारा विश्वास हो तो भीम और अर्जुन को मुझे सौपो, मै सव ठीक कर लूगा।"

कृष्ण की यह वात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—"आपकी आज्ञा से ही मैंने राजसूय का विचार किया है। जिस प्रकार यह कार्य सिद्ध हो, वैसा करिए। मेरा कार्य जगत का कार्य है।"

जरासन्ध की उत्पत्ति

यहा महाभारतकार ने जरा नाम की राक्षसी से जरासन्ध की उत्पत्ति का सवध वताया है। यह मास और शोणित का भोजन करनेवाली नरभक्षिका

कोई देवी थी, जिसकी पूजा मगध की निपाद-जाति के लोग करते थे। अवश्य मगध जनपद की इसी देवी की कहानी बौद्ध साहित्य में भी आ गई। वहा इसे हारीती कहा गया है। वह पहले बच्चो को खानेवाली राक्षसी थी। पीछे बुद्ध ने उसके एक बच्चे को छिपाकर उसमें मातृत्व का प्रेम जाग्रत किया और वह बच्चो की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूजी जाने लगी। यहा भी उसने नवजात शिशु के शरीर के दो टुकडो को अपने मन्त्रबल से एक मे जोडकर उसे राजा को सौंप दिया और स्वय मातृत्व की भावना से भरकर अन्तर्धान हो गई। मगध में उसका महोत्सव मनाया जाने लगा और लोग उसका चित्र अपने घर की दीवारो पर लिखने लगे। हारीती के समान यह भी बहुत पुत्रो की माता मानी जाने लगी। मगध की जरा देवी की भाति गाधार जनपद में भी भीमा नाम की एक भयकर देवी थी। उसकी कहानी भी बौद्ध धर्म के साथ जुड गई और पाच सौ यक्ष पुत्रो की माता हारीती गाधार देश की सबसे बडी देवी बन गई। आगे वन-पर्व में भीमा देवी की यात्रा का उल्लेख आया है। आजतक भीमा-देवी की यात्रा और उसका मदिर सारे पजाव में प्रसिद्ध है।

मगध की ओर प्रयाण

इस प्रकार मत निश्चित करके कृष्ण, भीम और अर्जुन मगध की ओर चले। उन्होने अपने जाने की बात गुप्त रखी और स्नातको का वेश बना लिया जो कि विद्या पढकर गुरुगृह से लौटते हुए इधर-उधर चरक वेश में जाते-आते रहते थे और कोई उन्हे शका की दृष्टि से न देखता था। इस वेश मे फूल-मालाओ का पहनना आवश्यक था।

कृष्ण के सामने दूसरी समस्या यात्रा का मार्ग निश्चित करने की थी। मध्यदेश में से साकेत, वाराणसी होता हुआ जो मार्ग मगध को जाता था, उसे उन्होने छोड दिया। सन्देह के निवारण के लिए पहले वे पश्चिम की ओर कुरु-जागल में घुसे, जो वर्तमान हिसार-सिरसा का इलाका था। वहांसे कुरु-क्षेत्र के पद्मसर नामक स्थान में होते हुए फिर उत्तर-पूर्व की ओर मुडे। वहा कालसी, देहरादून और सुकेत के बीच में कालकूट जनपद था। उसे पार कर पहाड की तराई के किनारे-किनारे आबादी को बचाते हुए और सरयू,

सदानीरा या राप्ती तथा गडकी को पारकर मिथिला में घुसे और वहासे गगा उतरकर पूरब की ओर मुडे। वहा जगल में कुरुवार (कुरवोरश्छद) आदि आदिनिवासियो के इलाके मे होकर गोरथगिरि के पास पहुचे, जहा मगध की राजधानी थी।

गिरिव्रज वैहार, वृषभ, वराह, चैत्यका-गिरि और ऋषि-गिरि, इन पाच पहाडियो के बीच में बसा हुआ था। बौद्ध साहित्य में और पुरातत्त्व की खुदाई से भी इन पाचो पहाडियो के बीच की बस्ती के प्रमाण मिले हैं। पहाडियो के बीच में गिरिव्रज को घेरनेवाला एक बाहरी परकोटा था, जिसके अवशेष पच्चीस-तीस मील की लम्बाई तक पाये गए हैं। यह दीवार पत्थर के बडे-बडे ढोको से बनाई गई थी, जिसकी चौडाई कही कही पर अठारह फुट तक मिली है और ऊचाई भी बारह फुट तक है इसमें स्थान-स्थान पर बुर्ज बने हुए थे पश्चिम की ओर वैहारगिरि की तलहटी में अभी तक रणभूमि नामक स्थान है, जिसे 'जरासन्ध का अखाडा' भी कहते है। वैहार गिरि के पूर्वी छोर पर जरासन्ध की बैठक या मचान है। गिरिव्रज को राजगृह भी कहते थे। इसके बीचोबीच मणिनाग का स्थान था, जो आजकल का मणियार मठ है।

कृष्ण और दोनो पाडव राजगृह के बाहरी परकोटे के पास पहुचकर उसके साधारण द्वार से भीतर नही घुसे। राजगृह में प्रवेश करने के लिए उत्तरी द्वार, जहा तप्तोद कुड है, और दक्षिणी द्वार जहा से बाणगगा निकली है, ये दो द्वार थे। कृष्ण आदि को इसी उत्तरी द्वार से प्रवेश करना चाहिए था, किन्तु वे ऋषभ गिरि की, जिसका दूसरा नाम सभवत चैत्यक-गिरि भी था, ओर बढे। राजमहल के चारो ओर एक अन्दरूनी परकोटा था। उसमें भी प्रवेश कठिन था। किन्तु उस समय ऐसा हुआ कि जरासन्ध के पुरोहित राजा के यहा अग्निहोत्रादि कर्म करने के लिए धूमधाम से जा रहे थे। ये भी उन्हींके साथ मिलकर महल की तीन कक्षाओ को पार करते हुए भीतर जा पहुचे।

जरासन्ध-वध

जरासध का व्रत था कि वह स्नातक ब्राह्मणो का आधी रात को आने पर भी स्वागत किया करता था। अत इन्हें देखकर इनका भी उसने स्वागत किया

और बैठने के लिए कहा। किन्तु इनका अपूर्व वेश देखकर वह विस्मित हुआ और बोला—"स्नातक विप्रो को माल्य और अनुलेपन के साथ मैंने देखा है, किन्तु उनकी भुजाओ में प्रत्यचा के निशान नही देखे। सच बताओ, तुम कौन हो ? सत्य कहने में ही राजाओ की शोभा है। चैत्यक-गिरि की चोटी पर चढकर सीधे मेरे महल में अद्वार से इस प्रकार निर्भय होकर आनेवाले तुम कौन हो और क्यो मेरी दी हुई पूजा को तुम स्वीकार नही करते ?"

यह सुनकर कृष्ण ने कहा—"हे राजन्, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो ही स्नातक व्रती होते हैं, किन्तु उनके नियम अलग है। क्षत्रिय की शक्ति भुजा में रहती है, वाणी मे नही। वह श्री चाहता है। मित्र के घर में द्वार से और शत्रु के घर में अद्वार से घुसना चाहिए। शत्रु होनें के कारण हमने तुम्हारी पूजा नही ली।"

इस प्रसग में यह ध्यान रखने योग्य है कि केवल दो साथियो के साथ जरासध के कोट में और फिर उसके महल के भीतरी भाग में घुसकर कृष्ण ने वडे साहस का काम किया और भारी जोखिम भी उठाई। यदि जरासन्ध एक-एक के साथ युद्ध करने की उनकी चुनौती को स्वीकार न कर लेता तो उन तीनो पर सभी कुछ सकट आ सकता था। यह भी सभव है कि राजगृह में भी कुछ लोग जरासन्ध से असतुष्ट हो, क्योकि इसी प्रसग में कृष्ण ने पहले कहा है कि मागधो में एक सौ एक कुल ऐसे है, जो जरासन्ध से प्रसन्न नही है, अतएव उनपर वह वलपूर्वक शासन करता है (सभा १४।१३)।

कृष्ण की वात सुनकर जरासध ने कहा—"मुझे तो याद नही कि तुम्हारे साथ मेरा वैर हुआ हो। कुछ विगाड न करने पर भी क्यो तुम मुझे अपना वैरी मानते हो ?"

कृष्ण ने उत्तर दिया—"लोक से इतने क्षत्रियो को पकडकर तुम रुद्र के लिए उनकी वलि देना चाहते हो, इससे वढकर क्या पाप होगा ? मनुष्यो का समालम्भ आजतक कभी नही देखा गया। तुम मनुष्य-वलि से देव शकर को पूजना चाहते हो। हम धर्म के रक्षण में समर्थ हैं। तुम्हे युद्ध के लिए चुनौती देते हैं। हमारे साथ लडो या राजाओ को छोड दो।"

यह सुनकर जरासन्ध ने अपने ऐंठू स्वभाव से कहा—"विना जीते हुए किसी राजा को मैं नही लाया। क्षत्रिय के लिए यही धर्म है कि विक्रम से

दूसरे को वश में करके उसके साथ जो चाहे करे। देवता के लिए इनकी मान्यता करके भय से मैं इन्हें आज कैसे छोड दू ? सेना से, या एक-एक से, या दो से या तीन से, जैसे भी चाहो, मैं युद्ध करने को तैयार हू ।"

यह कहकर जरासन्ध ने अपने पीछे अपने पुत्र सहदेव के अभिषेक का आदेश दे दिया और स्वय युद्ध के लिए तैयार हो गया। कृष्ण ने पूछा—"हम तीनो में से तुम किनके साथ लडना चाहते हो ?"

जरासन्ध ने तीनो की ओर देखकर भीम के साथ लडना स्वीकार किया ।

इसके अनन्तर उन दोनो महाबलवीरो का अत्यत भयकर बाहुयुद्ध हुआ। वे दोनो कार्त्तिक मास के पहले दिन अखाडे में उतरे थे। चतुर्दशी की रात को जरासध थककर अलग हो गया । तब कृष्ण ने कहा—"हे भीम, थके हुए शत्रु को और रगडना ठीक नही, नही तो हो सकता है कि उसका दम ही टूट जाय ।"

भीम कृष्ण के इस इशारे को समझ गए । वस्तुत कृष्ण का आशय था कि यही समय है कि इसका दम तोडकर काम तमाम करो।

भीमसेन ने भी ऊपर से दिखावटी रूप में कहा—"हा कृष्ण, मुझे इस दशा मे इसे और न रगडना चाहिए, जबकि इसके प्राण फूल कर छाती में आ गए है।"

इस प्रकार भीम और जरासन्ध फिर एक-दूसरे से भिड गए और अन्त में भीमसेन ने उसे मार डाला।

तुरन्त जरासन्ध का रथ जुडवाकर दोनो भाइयो के साथ कृष्ण उस पर सवार हुए और जहा छियासी राजा बन्द थे, वहा जाकर उन सबका बन्धन मोक्ष किया और सहदेव का राज्याभिषेक कर वह इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

: १४ :

दिग्विजय

जरासन्ध का वध हो जाने पर युधिष्ठिर का राजनीतिक कटक तो मिट गया, किन्तु राजसूय यज्ञ की सफलता के लिए दूसरी आवश्यकता थी कोष का सग्रह । कोष-विवर्द्धन के लिए राजाओ से कर-ग्रहण करना आवश्यक

था और कर के आहरण का मान्य उपाय उस समय की राजनीति में दिग्विजय समझा जाता था। अतएव महाभारत के अग्रिम प्रकरण में चार पाडव भाइयो द्वारा चारो दिशाओ की दिग्विजय का वर्णन किया गया है। अर्जुन ने उत्तर, भीमसेन ने पूर्व, सहदेव ने दक्षिण और नकुल ने पश्चिम दिशा की दिग्विजय की। ज्ञात होता है कि महाभारत के मूल सस्करण में दिशाओ की विजय का केवल सकेत मात्र था। अर्जुन ने विजय-यात्रा के लिए युधिष्ठिर से प्रार्थना की और उन्होने उसका समर्थन किया—"योग्य ब्राह्मणो का स्वस्तिवाचन प्राप्त कर शत्रुओ के क्लेश और मित्रो के आनन्द के लिए, हे अर्जुन, तुम्हारी निश्चय ही विजय होगी।"

यह सुनकर अर्जुन ने दिग्विजय-यात्रा की और उसी प्रकार अन्य भाइयो ने भी धर्मराज की आज्ञा से दिशाओ को जीता। किन्तु इस सक्षिप्त उल्लेख से जनमेजय का मन नही भरा। उन्होने वैशम्पायन ने कहा—"हे ब्रह्मन्, दिशाओ की इस विजय को विस्तार के साथ कहिए, क्योकि पूर्वजो का चरित्र सुनते हुए मुझे सक्षेप से तृप्ति नही होती।" इस पृष्ठभूमि में वैशम्पायन ने दिग्विजय-पर्व के उस बृहत् सस्करण का वर्णन किया, जिसमें देश की चारो दिशाओ के भूगोल और अनेक ऐतिहासिक उल्लेखो का समावेश हो गया है।

खाण्डवप्रस्थ से चलकर अर्जुन ने पहले कुणिन्द और कालकूट प्रदेश को जीता। यमुना के उत्तर में देहरादून से जगाधरी तक फैला हुआ प्रदेश कुणिन्द कहलाता था। यहा से कुणिन्द गणराज्य के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसी प्रदेश में कालकूट था, जहा हिमालय के किसी शिखर में काले अजन की खान थी। हिमालय के इस हिस्से के कुछ उत्तर-पश्चिम में पजाब की पहाडी रियासते सिरमूर, नाहन, बिलासपुर, मडी आदि आज भी इस प्रकार भरी हुई हैं, जैसे कटहल में कोए। शिमला की इन पहाडी रियासतो के लिए ही सम्भवत 'सप्तद्वीप' इस भौगोलिक सज्ञा का प्रयोग हुआ है। इन्हे ही ससप्तक-गण भी कहते थे। इन पहाडी राजाओ के साथ अर्जुन की सेना का तुमुल सग्राम हुआ, किन्तु अन्त में उन्होने अधीनता स्वीकार कर ली और स्वय भी उसकी विजय-यात्रा में सम्मिलित हो गए।

इस भौगोलिक प्रसग में महाभारतकार का ध्यान हिमालय की तराई

में वसी हुई किरात जातियो की ओर गया है। किरात प्रदेश नेपाल से आसाम तक फैला हुआ भूभाग था, जिसके पूर्वी छोर पर प्राग्ज्योतिप देश था। वहा के भगदत्त राजा से तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियो के कछारो में रहनेवाले एव समुद्र की कुक्षि में वसनेवाली जातियो से अर्जुन का युद्ध हुआ। अन्त में भगदत्त नें अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर मित्रता की याचना की। अर्जुन ने उससे प्रीतिपूर्वक कर लेना स्वीकार किया।

इसी प्रसग में और भी अनेक पर्वतीय राजाओ को वश में करने का उल्लेख है। हिमालय के भूगोल के विपय में महाभारतकार ने मूल्यवान् सूचना देते हुए उसके तीन भाग लिखे हैं—अन्तर्गिरि, उपगिरि और वहिर्गिरि। समानान्तर फैली हुई हिमालय की ये तीन वाहिया थी, जो उसके भूगोल की सवसे वडी विशेपता है। अन्तर्गिरि में हिमालय की लगभग वीस हजार फुट से ऊची गौरीशकर, नन्दादेवी, केदारनाथ, वदरीनाथ, त्रिशूल, धवलगिरि आदि चोटिया है, जो सदा वरफ से ढकी रहती हैं। इस हिस्से को पाली में महाहिमवन्त कहा है, जो अग्रेजी में 'ग्रेट सेन्ट्रल हिमालय' का पर्याय है। उससे नीचे की ओर हिमालय की वे चोटिया हैं जो छह हजार से आठ-नौ हजार फुटतक ऊची है। नैनीताल, मसूरी, शिमला आदि स्वास्थ्यप्रद स्थान हिमालय के इसी भाग मे हैं, जिसकी प्राचीन सज्ञा वहिर्गिरि थी। इसे पाली में चुल्लहिमवन्त (अग्रेजी में लैसर हिमालय) कहा जाता था। उपगिरि हिमालय के उस हिस्से का नाम था, जिसे अव तराई कहते हैं। हरद्वार से देहरादून तक हिमालय की जो उठती हुई ऊचाई है वह इसीके अन्तर्गत है। पाणिनि ने भी अन्तर्गिरि और उपगिरि इन दो भागो का उल्लेख अपने एक सूत्र (गिरेश्चसेनकस्य, ५।४।११२) में किया है।

हिमालय के इस भूगोल का प्रासगिक उल्लेख करने के वाद दिग्विजय का यह सिलसिला प्राचीन त्रिगर्त या कुल्लू-कागडा की ओर मुडता है। इस प्रदेश को कुलूत कहा गया है, जो कुल्लू का सस्कृत रूप है। कुलूत के राजा पर्वतेश्वर वृहन्त ने अपने नगर से वाहर आकर वडी सेना के साथ अर्जुन का मार्ग छेका, किन्तु वह उसके विक्रम को न सह सका और उसने रत्न देकर सन्धि कर ली। तव उसे साथ लेकर अर्जुन ने उसी प्रदेश के दूसरे राजा सेनाविन्दु को एव मोदापुर, वामदेव और पहाडी जातियो से भरे हुए सुदामा पर्वत

के प्रदेश को जीतकर उत्तर कुलूत या कागडा के उत्तरी प्रदेश के राजाओ को अपने वश मे करके धर्मराज युधिष्ठिर के शासनान्तर्गत कर लिया। ज्ञात होता है, यह सेनाविन्दु राजा, जिसकी राजधानी का नाम देवप्रस्थ था, उसी पौरव वश की शाखा में था जिसने ऐतिहासिक काल में मद्र देश के अपने राज्य की ओर वढते हुए सिकन्दर से लोहा लिया था। त्रिगर्त के राजा पर्वतीय कहलाते थे। भारत के प्राचीन भूगोल मे दो पर्वतीय प्रदेश प्रसिद्ध थे, जिनमें से एक कुल्लू कागडा की पहाडी रियासतोवाला यही प्राचीन त्रिगर्त देश था, जहा के जनपदो को पुराणो के भुवन कोश में पर्वताश्रयी कहा गया है। यहा अधिकाश गणराज्य थे, जिनके लिए महाभारत मे 'उत्सव-सकेत' शब्द आया है। रघुवश मे भी रघु-द्वारा इसी प्रदेश मे उत्सव-सकेतो की विजय का उल्लेख है। उत्सव-सकेत प्रदेश कागडा और रामपुर वशहर के बीच किन्नरो का प्रदेश जान पडता है। उत्सव-सकेत सज्ञा उस प्रदेश की जातियो के लिए इसलिए प्रयुक्त होती थी, क्योकि उनमें उत्सव या विशेष मेलो के अवसर पर सामूहिक रूप से वर-कन्याओं के विवाह स्थिर किये जाते थे। 'सकेत' का विशेष पारिभाषिक अर्थ विवाह या स्त्री-पुरुष का समागम है। वर्ण रत्नाकर मे मदनगृह को सकेतगृह कहा गया है। कुछ मैथिल ब्राह्मणो में भी इस प्रकार की प्रथा वची रह गई है।

त्रिगर्त-कुलूत के उलझे हुए भौगोलिक वर्णन के अनन्तर महाभारतकार ने पश्चिमोत्तर भारत के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रदेशो की विजय का उल्लेख किया है। इनमें कश्मीर सुविदित है। दार्व, चिनाव और रावी के उपरले प्रदेश के बीच का भूभाग जम्मू का इलाका था, जिसे अव 'डुग्गर' कहते है। अभिसार वर्तमान 'छिभाल' प्रदेश था, जिसमे पुछ, राजौरी और भिम्भर की रियासते हैं। मानचित्र देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चिनाव के पूरव का प्रदेश दार्व, उसके पश्चिम का अभिसार, एव उनके भी पश्चिम मे झेलम और सिन्धु के बीच का प्रदेश उरशा कहलाता था, जिसे अव हजारा कहते है। अभिसार, उरशा और सिंहपुर (नमक के पहाडो के प्रदेश की राजधानी) इन तीनो राजाओ के साथ अर्जुन को भारी युद्ध करना पडा।

इसके वाद का भौगोलिक वर्णन और भी उत्तर-पश्चिम की ओर वढता है। उसमें कश्मीर के उत्तर-पश्चिम दरद् देश का उल्लेख है, जिसे इस समय

दर्दिस्तान कहते हैं और गिलगित तथा यासीन जिसके प्रसिद्ध स्थान हैं। इसके उत्तर मे वक्षु नदी या आमू दरिया के उस पार प्राचीन कम्बोज जनपद था, जिसे इस समय पामीर का ऊंचा पठार कहते हैं। दर्दिस्तान के ठीक पश्चिम मे काफिरस्तान-कोहिस्तान का जो प्रदेश हिन्दूकुश तक फैला हुआ है, वह प्राचीन भारतीय भूगोल की परिभाषा मे लोह या रोह कहलाता था। इसी के नाम से मध्यकाल में अफगानिस्तान के कुछ निवासी रुहेले कहलाए। प्राचीन भुवनकोश में त्रिगर्त के अतिरिक्त यह दूसरा पर्वतीय प्रदेश था। पाणिनि ने अपने भूगोल में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। यही अनेक लडाकू जातियो के कोठार भरे थे। महाभारतकार ने लोहित देश के दश-मण्डल इस नाम से इनका उल्लेख किया है। हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम में वक्षु की शाखा वल्ख नदी के दोनो ओर की भूमि वाल्हीक जनपद थी। यहा के निवासी घोर लडाके थे, जो बडी रगड के बाद ही वश में किये जा सके। वक्षु के दक्षिण और वाल्हीक के पूर्व का रेतीला प्रदेश प्राचीन काल में 'चोल' कहलाता था और आज भी उसे चोलिस्तान कहते हैं।

वाल्हीक तक दखल कर लेने के बाद चुनी हुई सेना लेकर अर्जुन ने उत्तर-पूर्व की राह पकडी और वहा जो दस्यु या ईरानी बसे थे, उनसे लोहा लिया। उसके बाद उसने पामीर के पठार के भी उस पार चीनी तुर्किस्तान की ओर छापा मारा। अवश्य ही इसी प्रदेश में परमकम्बोज और उत्तर ऋषिक इन जातियो का निवास था। ऋषिको के साथ अर्जुन का सबसे भयकर युद्ध हुआ, जिसकी उपमा तारकासुर और कार्तिकेय के युद्ध से दी गई है। ऋषिक लोगो की पहचान निश्चित रूप से यूची जाति से की जाती है, जिनकी भाषा 'आर्पी' कहलाती थी। ऋषिको के ही अन्तर्गत एक उप-जाति तुषार या तुखार कहलाती थी।

महाभारत के इस महत्त्वपूर्ण भौगोलिक प्रकरण के लेखक की पैनी दृष्टि वाल्हीक, वक्षु और कम्बोज से लेकर मध्य एशिया के ऋषिको तक से भली-भांति परिचित थी। ईसवी-पूर्व दूसरी शती में यूची या ऋषिक हूणों के दवाव से चीनी तुर्किस्तान से खदेडे जाकर बल्ख की ओर चले आये थे। महाभारत का यह प्रकरण उससे कुछ पूर्व काल का होना चाहिए। इस विजय से वापस लौटते हुए अर्जुन की विजय-यात्रा मानसरोवर और कैलास के आसपास

के हाटक नामक भू-प्रदेश से गुजरती है। अन्त में वह वीर अपनी चतुरगिणी सेना के साथ विविध रत्न और धन का सग्रह करके इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

भीमसेन की दिग्विजय

भीमसेन ने बडी सेना सजाकर पूर्वी दिशा की विजय के लिए प्रस्थान किया। इन्द्रप्रस्थ से चलकर उसने पहले पाचालो के नगर में पाचाल क्षत्रियो को शान्ति की नीति से अनुकूल बनाया। तब गण्डकी नदी पार करके विदेह जनपद को वश में किया। इस प्रसग में हिमालय से लेकर चेदि तक के भूप्रदेश का वर्णन किया गया है। भीम की यह विजय-यात्रा गोमूत्रकागति से पूर्व दिशा में बढती हुई कभी उत्तर की ओर और कभी दक्षिण के जनपदो और राजाओ पर दो-फकी मार करती हुई चली। उसने दशार्ण जनपद के सुधर्मा राजा को लोमहर्षण युद्ध में जीतकर उसे अपने वश में कर लिया। सुधर्मा के पौरुष से प्रसन्न होकर भीमसेन ने उसे अपने सेनापतियो का अधिपति नियत किया। तब अपने सैन्यदल से पृथिवी को कपाते हुए भीमसेन ने अश्वमेधेश्वर राजा रोचमान को जीता और उसके साथ शम की नीति का पालन किया। अश्वमेधेश्वर की ठीक पहचान नही दी गई, किन्तु सम्भव है कि दशार्ण या धसान नदी के पश्चिम और चम्बल के पूर्व का प्रदेश इस नाम से अभीष्ट हो, जहा अश्व-नदी चर्मण्वती या चम्बल में मिलती है। वन-पर्व में उल्लेख है कि कुन्ती ने नवजात शिशु कर्ण को मजूषा में रखकर अश्वनदी में बहा दिया था, और वह पेटी अश्वनदी में बहती हुई पहले चम्बल में और फिर चम्बल से जमुना में और तब गगा में बहती हुई चम्पानगरी में जा पहुची थी (वन-पर्व, २९२।२५)। जिस प्रकार चर्मण्वती नदी गोमेध यज्ञो के लिए प्रसिद्ध थी, उसी प्रकार उसकी सहायक अश्वनदी का सम्बन्ध अश्वमेध यज्ञो से ज्ञात होता है।

तब कुछ दक्षिण की ओर मुडकर भीमसेन ने पुलिन्दो की बस्ती पर छापा मारा। यह विन्ध्याचल की तलहटी में बसा हुआ वह प्रदेश ज्ञात होता है, जिसे अटवी-राज्य कहते थे और जो बेतवा के दोनों ओर घने जगलो के रूप में फैला हुआ था। इसीको बाण ने विन्ध्याटवी कहा है। वहा रहने

वाले पुलिन्दो का भी उसने वर्णन किया है। इसके वाद भीम ने चेदि के राजा शिशुपाल के देश की ओर मुह मोडा, जिसे वश में लाने के लिए युधिष्ठिर की विशेष आज्ञा थी। चेदि-जनपद नर्मदा के किनारे फैला हुआ था। माहिष्मती उसकी राजधानी थी। इस अवसर पर शिशुपाल ने कोई विरोध नही किया, किन्तु नगर से वाहर आकर भीमसेन का स्वागत किया और परिवार की कुशल पूछी। अपना चेदि राष्ट्र भीमसेन को सौंपते हुए उसने हँसकर पूछा—"यह सव किसलिए कर रहे हो ?" भीम ने युधिष्ठिर का नया सकल्प उसे सुनाया। ज्ञात होता है कि इस सकल्प तक शिशुपाल को युधिष्ठिर की इस नई प्रवृत्ति का पता न था और न वह पक्ष या विपक्ष में अपना मन वना सका था। भीम की वात सुनकर भी शिशुपाल ने उसके साथ वैसा ही सद्व्यवहार किया। वहा तेरह राते सत्कारपूर्वक विता कर भीम ने शिशुपाल से विदा ली। फिर कुमार विषय मे श्रेणिमान् राजा को जीता। यह गाजीपुर का प्रदेश था, जहा कार्तिकेय की पूजा प्रचलित थी। फिर कोशल जनपद में अयोध्या के राजा को और उससे उत्तर के मल्ल क्षत्रियो (गोरखपुर, देवरिया) को जीतकर हिमाचल के पार्श्व (तराई इलाके) में जा निकला।

इस प्रसग में दक्षिण की ओर के दो प्रदेशों का नाम और लिया गया है—गोपाल-कच्छ अर्थात् ग्वालियर या कोतवार प्रदेश के कछारो में रहने वाले लोगो का और शुक्तिमान् पर्वत के निवासियो का। शुक्तिमान् भारतवर्ष के सात कुलपर्वतो में से एक था। ये सातो कुलपर्वत भारत के प्राकृतिक मानचित्र में स्पष्ट सिलसिलेवार दिखाई पडते हैं। महेन्द्र पूर्वीघाट का उत्तर भाग, मलय दक्षिणी भाग और सह्याद्रि पश्चिमी घाट के नाम हैं। इसके वाद सतपुडा और महादेव पहाडिया क्रम से आती हैं, जो शुक्तिमान् ज्ञात होती हैं। इसी पर्वत-शृखला का पूर्वी भाग, जो सोन की उपत्यका में आगे वढा हुआ है, ऋक्षपर्वत होना चाहिए। दोनो के उत्तर में विन्ध्य और उसी का उत्तर दक्षिण का वढाव अडावला पर्वत पारियात्र था। पूर्व के अन्य देशो में काशी, वत्स, भर्ग, मगध और अग जनपदो के नाम हैं जिन्हें भीमसेन ने करद वनाया। गया का भी उल्लेख है, उसीके पास पशुभूमि सम्भवत: गिरिव्रज के आसपास थी, जो गया के उत्तर-पूर्व और राजगृह के पश्चिम में है। जैन आगमो में दी हुई प्राचीन परिभाषाओ के अनुसार दस सहस्र गौवो

की इकाई एक व्रज कहलाती थी। इस प्रकार अनेक व्रजो से भरा हुआ प्रदेश पशु-भूमि रहा होगा। वस्तुत गोरथगिरि के पास पाच पहाडियो से घिरा हुआ प्रदेश गिरिव्रज कहलाता था (जो जरासन्ध की राजधानी थी) और उसके बाहर के मैदानो की व्रज-भूमि पशु-भूमि। इसी प्रसग में मत्स्य और मलय के भी नाम हैं। मत्स्य की पहचान निश्चित नही, किन्तु दोनो के पाठान्तर मल्ल और मलद भी उपलब्ध हैं, जो इस प्रदेश के भूगोल से सगत होते है। शर्मक-वर्मक नामक क्षत्रियो की पहचान लिच्छवियो से की गई है। भीमसेन ने इनके साथ और विदेहराज जनक के साथ शान्तिपूर्वक सन्धि की। मिथिला मे रहते हुए ही उसने इन्द्रपर्वत के समीप रहनेवाले सात किरात राजाओ को भी विजित बनाया। यह कोसी और गण्डकी के वीच नेपाल का भाग होना चाहिए। मगध में जरासन्ध के पुत्र ने कर देना स्वीकार किया, किन्तु अगदेश (मुगेर-भागलपुर) के राजा कर्ण ने उसका मार्ग रोका और युद्ध द्वारा ही वह वश में किया जा सका। पौण्ड्र, वग और सुह्म के राजाओ को जीतकर समुद्र के तटवर्ती म्लेच्छ राजाओ को भी वश में किया और असम में लौहित्य तक बढ गया। इस प्रकार कोटिशत सख्य धन के साथ भीमसेन इन्द्रप्रस्थ लौट आया और उसे धर्मराज के चरणो मे निवेदित किया। पूर्व दिशा के वर्णन में कुछ ही नाम ऐसे रह जाते हैं, जिनकी पक्की पहचान अभी सम्भव नही हुई, अन्यथा महाभारत के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि इन्द्रप्रस्थ से समुद्रतट और लौहित्यतक का ब्यौरेवार भूगोल लेखक को विदित था।

सहदेव की दिग्विजय

युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर सहदेव ने दक्षिण दिशा की ओर कूच किया। पहले शूरसेन-मथुरा और उसके साथ सटे हुए मत्स्य देश (जयपुर-अलवर) को जीतकर अपने वश में कर लिया। इसी यात्रा में उसने अधिराज के स्वामी दन्तवक्र को करद बनाकर छोड दिया तथा अपरमत्स्य, पटच्चर और नवराष्ट्र के राजाओ को जीतकर कुन्ति जनपद (कोतवार, ग्वालियर) के कुन्तिभोज को प्रीतिपूर्वक वश में किया। चर्मण्वती के तटवासी राजाओ को जीतता हुआ वह नर्मदा की ओर बढ गया और वहा विन्द, अनुविन्द राजाओ

को जीतकर माहिष्मतीपुरी पहुचा। वहा के राजा नील ने उसके साथ घोर सग्राम किया। त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) के राजा को जीत कर अश्मक जनपद की राजधानी पोतन (वर्तमान पैठण) को जीता। वहासे सुराष्ट्र की ओर गया। भोजकट या विदर्भ के राजा भीष्मक के पास दूत भेजकर उसने सन्धि की। सुराष्ट्र मे कृष्ण से मिलकर दक्षिण की ओर अनेक स्थानो को जीता। इन स्थानो में से शूर्पारक (वर्तमान सुपारा, बम्बई के उत्तर समुद्र-तट के पास), नासिक के आसपास दण्डकवन, मुरचीपत्तन (वर्तमान ऋगनोर) सजयन्ती (वर्तमान सजन) तथा करहाटक (कर्हाड) सुविदित है। ताम्र-द्वीप सिहल का पुराना नाम था। एकपाद जाति के लोग सम्भवत उत्तरी कनाडा जिले के वनवासी नामक स्थान के रहनेवाले थे।

महाभारत के इस प्रकरण में देश और विदेश के नामो का और भी महत्वपूर्ण गुच्छक पाया जाता है। उस युग में भरकच्छ (वर्तमान भडोच) नर्मदा के मुख पर बहुत बडा समुद्रपत्तन (बन्दरगाह) था। वहा से पश्चिम और दक्षिण की ओर जानेवाले पोत अपनी यात्रा आरम्भ करते थे। आध्र-सात-वाहनो के समय में भारतीय जलयान एक ओर भरुकच्छ से पश्चिमी वेलातट के जलपत्तनो को छूते हुए केरल, चोल, पाण्ड्य, द्रविड, आध्र और कलिंग तक की यात्रा करते थे। इन सबका उल्लेख महाभारतकार ने किया है—

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहिताश्चोडकेरलै ।
आन्ध्रांस्तलवनाश्चैव कलिगानोष्ट्रकर्णिकान् ॥ (सभा २८।४८)

दूसरी ओर पश्चिम में रत्नाकर के उस पार के तीन अतिप्रसिद्ध पोत-पत्तनो का उल्लेख इस प्रकरण में आया है, जिनके साथ रोम-युग में भारतवर्ष का विशेष व्यापार होता था। ये तीन नाम इस प्रकार है—अताखी, रोमा और यवनो की पुरी—

अताखीं चैव रोमा च यवनाना पुरं तथा।
दूतैरेव वशे चक्रे कर चैनानदापयत् ॥ सभा २८।४९

अताखी सीरिया का एन्तीओकस नगर था, जिसे सिकन्दर के उत्तरा-धिकारी राजा एन्तीओकस (प्रा० अतिओक) ने बसाया था। रोमा रोम साम्राज्य की प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसका उच्चारण आज भी रोमा है।

यवनो की पुरी नील नदी के किनारे एलेग्जेंड्रिया थी। सहदेव ने अपने दूत भेजकर इन सबके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हे अपने अनुकूल बनाया। इस प्रकार की कल्पना यहा महाभारतकार ने की है। अवश्य ही यह प्रकरण आघ्र-सातवाहन युग में इस दिग्विजय पर्व के अन्तर्गत लिया गया होगा, जब भरुकच्छ के पोतपत्तन से अताखी, रोमा और यवनपुरी के साथ व्यापार का सीधा सम्बन्ध था। अनेक पार्थिवो को बल और शान्ति से अपने वश में लाकर और उन्हे करद बनाकर सहदेव इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

नकुल की दिग्विजय

पश्चिम दिशा की दिग्विजय के लिए नकुल ने महती सेना के साथ प्रस्थान किया। सर्वप्रथम आरम्भ में ही उसकी मुठभेड रोहीतक के मत्तमयूर क्षत्रियो से हुई। इस देश के लोग कार्त्तिकेय की पूजा करते थे। वर्तमान रोहतक के पास ही खोकराकोट नामक स्थान से यौधेय गण के सिक्के ढालने के मिट्टी के अनेक साचे प्राप्त हुए हैं, जिनमें बहुधान्यक का उल्लेख है। इसका वर्णन महाभारतकार ने भी किया है। उसके बाद रोहतक से आगे शैरीषक (वर्तमान सिरसा) को वश में किया। तदनन्तर पजाब और राजस्थान के अनेक जनपद और क्षत्रिय जातियो को वश में करता हुआ वह पश्चिम की ओर बढा। इनमें शिवि (झगमघियाना के दक्षिण शेरकोट), त्रिगर्त (कागडा), अवष्ठ, मालव (रावी-चिनाब के सगम के पास) और पचकर्पट के नाम उल्लेखनीय हैं। मध्यमिकापुरी में वाटघान नाम के ब्राह्मणो को वश में किया। मध्यमिका चित्तौड के पास प्रसिद्ध पुरी थी, जिसे अब नगरी कहते है। इसके अनन्तर नकुल बीकानेर रियासत के उत्तर-पश्चिम में गया, जहा सरस्वती नदी की प्राचीन धारा किसी समय बहती थी, किन्तु अब बालू में अदृश्य हो गई है। शूद्र और आभीर नामक क्षत्रियो के गण सरस्वती के किनारे बसे हुए थे और उनका प्रदेश जैसलमेर से आगे बढकर उत्तरी सिन्धतक चला गया था। यूनानी भूगोल-लेखको ने सक्खर-रोडी के पूर्व में उनका उल्लेख किया है। ये दोनो पडोसी गणराज्य थे, जिनमें आभीर शूद्रो से किसी समय अधिक बलवान और समृद्ध हो गए थे, जिससे उनके लिए 'महाशूद्र' सज्ञा का प्रचार हुआ।

इसी प्रसग में महाभारतकार ने सिन्धु नदी के किनारे बसनेवाली उन महावली कबाइली जातियो का उल्लेख किया है, जो राजनीतिक परिभाषा में ग्रामणेय कहलाती थी, (सिन्धु कूलाश्रिता ये च ग्रामणेया महावला, सभा० २९।८)। प्राचीन भारत में ग्रामीण दो प्रकार के होते थे—एक ग्राम-ग्रामणी अर्थात गाव का मुखिया जो सब जगह होता है, और दूसरे पूग-ग्रामणी। पूग लूटमार करके जीविका चलानेवाली (उत्सेधजीवी) जातियो के सघ को कहते थे। इस प्रकार की जातिया सिन्धु नदी के किनारे-किनारे आजतक बसी हुई हैं। वे लोग अपने किसी नेता या पूर्व पुरुष के नाम से विख्यात होते है, जैसे युसुफजाई, ईसाखेल आदि। इन्हीके लिए पाणिनि ने 'स एषा ग्रामणी' सूत्र में इनके नाम रखने की विधि का उल्लेख किया है। इस्लाम से पहले हिन्दूकाल में भी इन कबाइली या ग्रामणेय जातियो में नाम रखने की यही प्रथा थी।

समस्त पचनद प्रदेश और सिन्धु तीर के गिरि-गह्वरवासी ग्रामणेय जातियो को जीतने के बाद नकुल ने और भी पश्चिम दिशा के कितने ही स्थानो को वश में किया, जिनमे रमठ (जागुड या गजनी का प्रदेश), हारहूर (दक्षिणी पश्चिमी अफगानिस्तान में अरगन्दाब नदी—प्राचीन ईरानी हरह्वैती, अरख्वैती प्रदेश—के निवासी), उत्तरजोतिक (उत्तर-पश्चिमी पहाडो का जोता), वृन्दाटक (वृन्द अर्थात् बुरिन्दु-बुनेर और अटक) और द्वारपाल का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। यहा यह भी सूचित किया गया है कि नकुल ने इन स्थानो में स्वय न जाकर केवल शासन भेजकर ही उन्हें अधीन किया। वासुदेव नाम के किसी राजा ने दस राज्यो के साथ पाण्डव का शासन मानकर सन्धि कर ली। ये दस राज्य अर्जुन की दिग्विजय में उल्लिखित लोह-मण्डल के दस राज्य ज्ञात होते हैं। उत्तर-पश्चिम की इस यात्रा से वह मद्रो की राजधानी शाकल (स्यालकोट) में लौट आया और वहा अपने मामा शल्य से मिला। यहीसे उसने सागरकुक्षि अर्थात् सिन्धु-सागर-संगम के समीप रहनेवाले पह्लव और बर्बर नामक म्लेच्छ राजाओ को वश मे किया। तदनन्तर दश सहस्र ऊटो पर अपना सचित कोष लदवाकर वह इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

इस प्रकार चारो पाण्डवो द्वारा चारो दिशाओ की विजय समाप्त हुई

और युधिष्ठिर के कोप मे मणि, हिरण्य, वस्त्र, धन और धान्य का अपूर्व अक्षय भण्डार सगृहीत हो गया। किस प्रकार राजसूय यज्ञ के समय चारो दिशाओ के करद नृपति अपनी भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थ मे उपस्थित हुए, इसका अत्यन्त रोचनात्मक वर्णन दुर्योधन ने राजसूय यज्ञ से लौटकर धृतराष्ट्र के सम्मुख किया। उसमें भी भारत के राजनीतिक और आर्थिक वैभव की जो साक्षी मिलती है उसे हम आगे देखेंगे।

: १५ :

युधिष्ठिर का राजसूय-यज्ञ

दिग्विजय होने पर राजसूय यज्ञ का भाव युधिष्ठिर के मन में जोर पकडने लगा। सर्वप्रथम उन्होने अपने राज्य का सुशासन किया। शत्रुओ के शेष हो जाने से आन्तरिक रक्षण द्वारा शान्ति से और राजकाज के सब व्यवहारो मे सचाई वरतने से प्रजाए अपने-अपने काम में लग गई। मेघो ने समय पर जल वरसाया। प्रजाओ से ठीक मात्रा में कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा जनपद जीवन से लहलहा उठा। गोरक्षा, कृषि और वाणिज्य, ये तीनो कार्य भली-भाति चल निकले। विशेषत राज्य के प्रोत्साहन से इनकी अधिक उन्नति हुई—

सर्वारम्भा सुप्रवृता गोरक्ष कर्षण वणिक्।
विशेषात्सर्वमेवैतत् सजज्ञे राजकर्मण ॥
(सभा० ३०।३)

धर्मानुकूल धनागम से युधिष्ठिर के कोषागार और कोष्ठागार में महान् सचय हो गया। यह देखकर राजा ने यज्ञ का विचार मन में किया। मित्रो ने भी यही सुझाव दिया। इसी समय कृष्ण भी द्वारका से वहा आये। उनके आगमन से इन्द्रप्रस्थ हर्ष से भर गया, जैसे सूर्यहीन प्रदेश में सूर्य के आने से और वायुरहित स्थान में वायु के सचार से आनन्द हो जाता है। स्वागत-सत्कार के अनन्तर युधिष्ठिर ने कृष्ण से कहा—"हे कृष्ण, आपकी कृपा से सारी पृथिवी मेरे वश में हो गई है और बहुत-सा धन भी प्राप्त

हो गया है। अव मेरी इच्छा है कि मै आपके साथ विधिवत् यज्ञ करके इसका उपयोग करू, सो आप आज्ञा दें। हे गोविन्द, आप ही दीक्षा ग्रहण करें, क्योकि आपके यज्ञ करने से मैं भी पापरहित हो जाऊगा, अथवा आप मुझे ही आज्ञा करें, जिसमे आपकी अनुज्ञा पाकर मै इस उत्तम ऋतु को करू।" यह सुनकर कृष्ण ने उत्तर दिया—"हे राजन्, तुम्ही राजसूय-जैसे महायज्ञ करने के योग्य सम्राट् हो, तुम्हारे यज्ञ करने से हम लोग भी कृतकृत्य होगे। जो मेरे योग्य कार्य हो बताओ।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—"हे कृष्ण, अव मेरा मकल्प सफल हुआ और अव मुझे अवश्य सिद्धि मिलेगी।" इस प्रकार कृष्ण की अनुमति पाकर युधिष्ठिर ने सहदेव को और मत्रियो को आज्ञा दी कि राजसूय के लिए आवश्यक सामग्री, यज्ञ-पात्र, मगलात्मक वस्तुए और अन्न आदि ममस्त सम्भार का प्रवन्ध किया जाय। उस यज्ञ में व्यास स्वय ब्रह्मा वने। उन्होंने अनेक वेदज्ञ ऋत्विजो को वुलाया। ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और पैल नामक ऋषि धौम्य के साथ होता वने। पुण्याहवाचन के अनन्तर वह देवयजन-कार्य शास्त्रोक्त-विधि से प्रारम्भ हो गया। महदेव को राजा ने आज्ञा दी कि चारो ओर दूत भेजकर सव राज्यो से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रतिष्ठित शूद्रो को आमन्त्रित किया जाय। सवने यथासमय आकर युधिष्ठिर की दीक्षा के उत्सव में भाग लिया और युधिष्ठिर ने अनेक विप्र, भाई-वन्धु, मित्र, सचिव, और अनेक स्थानो से ममागत लोगो के साथ साक्षात् शरीरधारी धर्म के समान यज्ञ-भूमि में प्रवेश किया। यज्ञ के उस आयतन में अनेक आवसथ शिल्पियो द्वारा वनाए गये थे। उनमें सव ऋतुओ के अनुकूल अन्न, शयनादि का प्रवन्ध था, साथ ही अनेक कथा-वार्त्ता और नट, नर्तको के नाट्य कर्म की भी व्यवस्था थी। इस प्रकार राजसूय-यज्ञ में जहा एक ओर वैदिक कर्म-काण्ड के अनुमार अग्निहोत्र और वेद-पाठ होता था वहा दूमरी ओर उसका रूप प्राचीन काल के ममाज नामक उत्सवो-जैसा था। 'दान दीजिए, भोजन कीजिए,' यही ध्वनि वहा सुनाई पडती थी। युधिष्ठिर ने विशेष रूप से नकुल को हस्तिनापुर भेजकर भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य और अपने सव भाइयो को आमन्त्रित किया। मव गुरुजन और दुर्योधन आदि भाई भी वहा पधारे। उनके साथ शकुनि, कर्ण, शल्य, जयद्रथ भी आये। और भी

प्राग्ज्योतिष, पुण्ड्र, वग, कलिग, कुन्तल, अन्ध्र, द्रविड, सिंहल, वाल्हीक, काश्मीर आदि अनेक जनपदो के राजा और राजपुत्र वहा आये। अपने पुत्र के साथ महावली शिशुपाल भी युधिष्ठिर के यज्ञ मे सम्मिलित हुआ। इसी प्रकार और भी मध्यदेश के राजा एव अनेक वृष्णिवीर वहा आये, जिनका युधिष्ठिर ने उचित स्वागत-सत्कार किया। उन्होने समय के अनुसार यह विनीत वचन कहा—"इस यज्ञ में आप सब मुझ पर अनुग्रह करे। मैं और जितना मेरा धन है, वह सब आपका है आप इच्छानुसार उससे प्रसन्न हो।" यह कहकर उसने खाने-पीने का प्रबन्ध दु शासन को सौंपा। ब्राह्मणो की पूजा का अश्वत्थामा को, राजाओ के सत्कार का सजय को, और सुवर्ण, रत्नादि के देखने एव दक्षिणा देने का कार्य कृपाचार्य को सौपा। भूल-चूक की देखरेख (कृताकृत परिज्ञान) के लिए महामति भीष्म और द्रोण से प्रार्थना की। व्यय विदुर के हाथ मे सौंपा और दुर्योधन को यह कार्य नियुक्त किया कि जो लोग भेंट लेकर आयें उन्हे वह स्वीकार करे।

धर्मराज युधिष्ठिर की सभा को देखने के लिए और उनके दर्शन के लिए अनेक लोग एकत्र हुए। हमारे लाये हुए रत्नो से कौरव्य राजा युधिष्ठिर का यज्ञ पूरा हो, इस प्रकार की होड से राजा लोगो ने युधिष्ठिर का कोष भर दिया। कौन्तेय महात्मा युधिष्ठिर का वह सदन अनेक आवसथो से सुशोभित हो उठा और स्वय युधिष्ठिर उस दक्षिणावान् यज्ञ से सुशोभित हुए। न केवल देवता, किन्तु ब्राह्मण और सब वर्णों की प्रजाए उस यज्ञ समागम से तृप्त और प्रसन्न हुई।

कृष्ण की पूजा

जिस दिन अभिषेक का समय आया उस दिन ब्राह्मण और ऋषि लोग यज्ञ की अन्तर्वेदी में प्रविष्ट हुए। उस समय भीष्म ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"हे भारत, आए हुए राजाओ का यथायोग्य सत्कार होना चाहिए। ऐसा प्राचीन नियम है कि आचार्य, ऋत्विज, राजा, स्नातक, अपने भाई-वन्धु और स्त्री-पक्ष के सम्वन्धी—ये छह सवत्सर के अनन्तर जव दर्शन दें तो वे विशेप सम्मानीय अतिथि होते हैं। तुम्हारे यहा तो ये सव लोग एकत्र हुए हैं, अतएव इन सब को अर्घ्य देना चाहिए और इन सबमें भी जो सबसे वरिष्ठ

और श्रेष्ठ हो उसे विशिष्ट रूप में पूजा से सम्मानित करना चाहिए।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा—"हे पितामह, इन सबमें आप किसे सबसे अधिक पूजा के योग्य मानते हैं ?" यह सुनकर भीष्म ने कहा—"हे युधिष्ठिर, जितने लोग आये हैं, उन सबमें तेज, बल और पराक्रम द्वारा कृष्ण परम पूज्य हैं। नक्षत्रो मे सूर्य के समान सबके मध्य में वह तप रहे हैं। उनकी उपस्थिति से हमारी यह यज्ञ-भूमि जगमग हो रही है।"

इस प्रकार भीष्म की सम्मति पाकर सहदेव वार्ष्णेय कृष्ण के लिए तुरन्त अर्घ्य ले आये। कृष्ण ने उसे विधिवत् स्वीकार किया। वासुदेव कृष्ण की यह पूजा शिशुपाल को ठीक न लगी। उसने समद् के बीच में ही भीष्म, युधिष्ठिर और कृष्ण इन तीनो पर आक्षेप किया। चेदिराज शिशुपाल ने कहा—

"ऐसे महात्मा राजाओ के होते हुए कृष्ण को यह सम्मान देना ठीक नही। महात्मा पाण्डवो ने यह उचित शिष्टाचार नही किया। क्या इस विषय में जो सूक्ष्म मर्म है, उसे अनजान की भाति आप नही जानते ? भीष्म की समझ भी थोडी है। कृष्ण राजा नही है। कैसे सब राजाओ के मध्य में यह अर्घ्य के योग्य है, जो आपने इनकी पूजा की, यदि आयु में बडा जानकर यह किया हो, तो वृद्ध वसुदेव के होते हुए उनके पुत्र की पूजा कैसी ? अथवा कृष्ण को आचार्य मानकर पूजा की हो तो द्रोण के होते हुए वह भी अनुचित है। यदि कृष्ण को पूजा के लिए ऋत्विज समझा हो, तो व्यास के होते हुए कृष्ण की अर्चा कैसी ? कृष्ण न राजा है, न ऋत्विज है, न आचार्य, किस नियम से आपने उसको सम्मान दिया ? यदि ऐसा ही करना था तो राजाओ को यहा बुलाकर उनका अपमान करने की क्या आवश्यकता थी ? हमने भय से, लोक से, या चापलूसी से युधिष्ठिर को कर नही दिया, बल्कि यह समझा था कि धर्मके मार्ग से युधिष्ठिर राजा होना चाहते हैं, तभी हमने उसे कर दिया। किन्तु वह हमें कुछ नही मानते। इसे अपमान के सिवा और क्या समझा जाय, जो इस राज्य-ससद् में राज्य-चिह्न प्राप्त न करने पर भी कृष्ण को अर्घ्य दिया गया ? 'युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं' यह बात आज अकस्मात् मिट्टी में मिल गई। कृष्ण तो धर्मच्युत हैं, क्योकि वृष्णि-कुल में जन्म लेकर, जहां राजा नही होते, इन्होने एक राजा (जरासन्ध) का वध किया ? आज युधिष्ठिर का सारा धर्मात्मापन चला गया और उनका हृदय सकीर्ण हो गया ! पर

यदि पाण्डव भयभीत होकर कृपण बन गए तो हे कृष्ण, तुम्हे तो यह समझना था कि पूजा के अधिकारी न होते हुए मै उसे कैसे स्वीकार करू। इस अयुक्त पूजा से तुम्हारे लिए अपना बडप्पन समझना ऐसा ही है, जैसे कोई कुत्ता एकात मे हवि का टुकडा खाकर अकडता है। राजाओ का तो इस अपमान से कुछ बिगडा नही, तुम्हारी ही हे कृष्ण, इससे विडम्बना हुई। जैसे अन्धे को कोई शीशा दिखाए या नपुसक का विवाह करे वैसे ही राजा न होते हुए तुम्हारी यह राजा-जैसी पूजा है। युधिष्ठिर जैसे राजा है, यह देख लिया, भीष्म जैसे राजा हैं, यह भी देख लिया, और जैसे यह कृष्ण है, वह भी देख लिया। सब जैसा तैसा ही है।"

यह कहकर शिशुपाल उठा और अनेक राजाओ के साथ आसन छोड कर ससद् से बाहर चला गया। तब युधिष्ठिर शिशुपाल के पीछे दौडे और मनाते हुए मीठे वचन कहने लगे—"हे राजन्, तुमने जैसा कहा, वह उस प्रकार नही है। ऐसा रूखा व्यवहार अनुचित है। शायद तुम धर्म को नही जानते। यह शान्तनु के पुत्र भीष्म है,इनका अनादर ठीक नही। और भी देखो, तुमसे कही आयु मे बडे राजा यहा है, उन्हे कृष्ण की पूजा पर कोई आपत्ति नही हुई। तुम भी उसे वैसे ही सह लेते। भीष्म कृष्ण को ठीक समझते हैं, तुम उन्हे नही जानते।" यह देखकर भीष्म ने कहा—"इसको मनाना व्यर्थ है। कृष्ण आयु मे या राजपद मे वृद्ध न सही, पर लोक मे वह वृद्धतम है। न केवल जो लोग यहा आये है, उनमे कृष्ण पूज्यतम हैं, अपितु तीनो लोको मे अर्चनीय हैं। अतएव बडे-बूढो के होते हुए भी हमने कृष्ण की पूजा की, दूसरो की नही। मैंने भी बहुत से ज्ञानवृद्धो से भेंट की है, उन सबने कृष्ण के गुणो का मुझसे बखान किया है। जन्म से लेकर आजतक उनके जो कर्म हैं उनकी चर्चा लोक मे मैने मनुष्यो से सुनी है। हे चेदिराज, किसी कामना से या सम्बन्धी जानकर हमने कृष्ण की पूजा नही की। यहा उपस्थित लोगो मे कोई बालक भी ऐसा नही है, जिसे हमने न परख लिया हो। गुणो के कारण ही हमने कृष्ण को सिरमौर समझ कर उनकी पूजा की। ब्राह्मणो मे ज्ञान-वृद्ध और क्षत्रियो मे अधिक बली पूज्य होते हैं। कृष्ण मे दोनो बाते हैं। लोक में, मनुष्यो में, कृष्ण से बढकर कौन है? शिशुपाल यदि इस पूजा को ठीक नहीं समझता, तो जो वह ठीक समझे, करे।" भीष्म के चुप होने पर सहदेव ने भी

अपनी वात कही—"हे राजाओ, मेरे द्वारा कृष्ण की पूजा जिसे न रुची हो, उस वली के सिर पर मेरा पैर है। मै यह कहता हू, किसीके पास अच्छा उत्तर हो तो कहे। राजाओ मे जो बुद्धिमान हो, वे मेरा समर्थन करे।"

सहदेव के इस प्रकार ललकारने पर सभा में खलवली मच गई। सुनीथ ने लाल-लाल आखें दिखाकर क्रोध से कहा—"मै सेनापति हू, सारे वृष्णि और पाण्डवो को अभी युद्ध मे निपट लूगा।" इस प्रकार सवको उभाडकर शिशुपाल यज्ञ विध्वस करने के लिए राजाओ से सलाह करने लगा। तव राजाओ को विचलित देखकर युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा—"हे पितामह, राजाओ के इस समुद्र में क्रोध का ज्वार-भाटा उठ खडा हुआ है। अव मै क्या करू, जिससे यज्ञ में विघ्न न हो और प्रजाओ का हित हो।" यह सुनकर भीष्म ने कहा—"हे राजन्, मत डरो। क्या कुत्ता कभी सिह को पछाड सकता है? जो कल्याण का मार्ग था वह मैने पहले ही चुन लिया। वृष्णि-सिह कृष्ण के सामने ये राजा भौंक रहे हैं। जवतक कृष्ण रूपी शेर सोया है, वे नही समझते। यह अल्पबुद्धि शिशुपाल उन्हे यम के घर भेजना चाहता है।" भीष्म की यह वात सुनकर शिशुपाल ने भी रूखे और कडवे वचन कहे—

"अरे बूढे कुलागार, ऐसी घुडकियो से तू राजाओ को डराना चाहता है! तुझे लज्जा नही आती? हा, तेरे जैसे नपुसक के लिए यही ठीक है। हे भीष्म, तू जिन पाण्डवो का अगुआ है, तेरे पटेले से जिन्होने पनसुइया वाधी है, वे अन्धे पाण्डव अन्धे के पीछे चल रहे है। अरे भीष्म, तू ज्ञानवृद्ध होकर इस ग्वाले की वडाई करता है! तेरी जिह्वा के टुकडे-टुकडे नही हो जाते! वचपन मे एक छोटे शकट को इसने पैर मारकर उलट दिया, इसमें क्या अद्भुत वात हो गई? वावी-सा गोवर्धन सप्ताह भर हाथ पर रख लिया, मै तो इसे अचम्भा नही मानता। हा, अन्न का पहाड वहा यह साफ कर गया, इसका हमे अचरज अवश्य है। जिस राजा का इसने अन्न खाया, उसी कस को इसने मार डाला, यह भी इसके लिए कोई अद्भुत वात नही। जिसका अन्न खाय, उस पर शस्त्र न उठाना चाहिए, धर्म का अनुशासन तो यही है। तू इस स्त्री-हता की चाहे जितनी वडाई करे, तेरे कहने से वह सच्ची नही हो सकती। तू गवैया-सा चाहे जितना भी आलाप ले, तेरे गीत से उसकी प्रशसा नही हो

सकती। वह तो जैसा है, वैसा ही रहेगा। धर्म के जानकार होकर तूने कैसे दूसरे को चाहनेवाली अम्बा का अपहरण किया ? तेरा ब्रह्मचर्य न जाने मोहसे है या क्लीवत्व से। अरे निस्सन्तान बुड्ढे, तेरा धर्मानुशासन मिथ्या है। मैं उस जरासन्ध की प्रशसा करता हू, जिसने इस केशव को दास समझकर इससे युद्ध की इच्छा न की। जरासन्ध-वध के समय इसने जो किया वह भी मुझे ज्ञात है। आचर्श्य है, ये पाडव नही समझते, कैसे उन्हे भी तूने धर्म के मार्ग से घसीट लिया है।"

शिशुपाल-वध

उसके इन रूखे वचनो को सुनकर भीमसेन क्रोध से आगबबूला हो गया। किसी तरह भीष्म ने उसे बलपूर्वक रोका। किन्तु शिशुपाल को अपने बल का गर्व था, वह बिल्कुल भी न डरा और हँसता हुआ कहने लगा—"अरे भीष्म, इसे छोड क्यो नही देते ? अपने प्रताप की अग्नि मे जलते हुए इस पतिंगे को मैं देख लू।" इस प्रकार और भी 'तू-तू, मैं-मैं' उस सभा में हुई और शिशुपाल ने अपनी गालियो की बौछार कृष्ण पर छोड दी और उन्हे युद्ध के लिए ललकारा। अन्त में कृष्ण ने क्रुद्ध होकर अपने चक्र से शिशुपाल का सिर अलग कर दिया। उस समय मानो अनभ्र आकाश से वृष्टि हुई और जलता हुआ वज्र छूटा। उपस्थित राजाओ में सन्नाटा छा गया। कुछ दात पीसने और होठ काटने लगे, कुछ कृष्ण की बडाई करने लगे और कुछ मध्यस्थ हो गए। तब युधिष्ठिर ने शिशुपाल के पुत्र को चेदि देश का राजतिलक कर दिया, और इस प्रकार वह यज्ञ शान्त-विघ्न होकर समाप्त हुआ। युधिष्ठिर ने अवभृथ स्नान किया और समस्त राजमण्डल ने चारो ओर से उन्हे बधाई दी—

"हे अजमीढ के वशज, तुमने आज साम्राज्य पाकर अपने पूर्वजो का यश बढाया है। तुम्हारे इस कर्म से धर्म की वृद्धि हुई है। अब हमें आज्ञा दो, अपने राष्ट्रों को जाय।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने सबको यथोचित रीति से विदा किया। राजाओ के चले जाने पर कृष्ण ने भी युधिष्ठिर से विदा मागी। युधिष्ठिर ने गद्गद कण्ठ से कृष्ण का ऋण स्वीकार किया। चलते हुए कृष्ण ने कहा—"हे युधिष्ठिर, जिस प्रकार मेघ सब भूतो का सवर्धन

करता है, वैसे तुम प्रमाद-रहित होकर प्रजाओ का सदा पालन करना ।" इस प्रकार कहकर कृष्ण अपने रथ पर चढकर द्वारावती चले गए।

: १६ :

दुर्योधन का सन्ताप

पहले बताया जा चुका है कि राजसूय यज्ञ में राजाओ द्वारा लाई गई उपहार-सामग्री को भली प्रकार लेकर रखने का कार्य दुर्योधन को सौंपा गया था। उस वैभव को और मय द्वारा बनाई विलक्षण सभा को देखकर दुर्योधन का हृदय ईर्ष्या से उसे नोचने लगा। इस सभा में अनेक प्रकार के दिव्य अभिप्राय बने हुए थे। यही पर स्फटिक की तरह चमकते हुए फर्श को देखकर उसे थल में जल होने का भ्रम हुआ था और जल को स्थल समझकर वह वापी में गिर कर भीग गया था।

इस सन्ताप से भरा हुआ वह युधिष्ठिर से विदा लेकर हस्तिनापुर लौटा। पाण्डवो के यश और महिमा से सतप्त उसका रग फीका पड गया और वह विक्षिप्त-सा रहने लगा। उसे इस अवस्था में देखकर शकुनि ने उसके दुःख का कारण पूछा। दुर्योधन ने उससे अपने मन की बात कही—"वह युधिष्ठिर सारी पृथिवी का राजा हो गया है, उसके पास कितनी सम्पत्ति आ गई है, उसने इतना बडा यज्ञ कर लिया है, वह देखकर भी मै कैसे सुखी रह सकता हू? मै अशक्त और असहाय हू, इससे सोचता हू कि मृत्यु ही अच्छी। युधिष्ठिर के विनाश के लिए मैंने जितना प्रयत्न किया वह सब व्यर्थ गया। पानी मे कमल की तरह वह दिन-दिन बढता ही जाता है। इसलिए हे मामा, मुझ दुःखी पर तरस खाकर धृतराष्ट्र से यह सब हाल कहो।"

यह सुनकर शकुनि ने उसे समझाना चाहा, किन्तु कोई प्रतिकार न देखकर उसने धृतराष्ट्र से सब हाल कहा—"महाराज, दुर्योधन शोक से पीला पड गया है। क्या आपको इसका कुछ पता नही?"

धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की ओर देखकर पूछा—"हे पुत्र तुम, क्यो दुःखी हो? मुझे तुम्हारे शोक का कारण नही जान पडता। सारा ऐश्वर्य मैंने तुम्हें सौंप रखा है। तुम अच्छा खाते-पहनते हो, फिर क्यो दीन और कृश हो?

भोग के सब पदार्थ देवताओ की तरह तुम्हारी वाणी के अधीन हैं।"

उपायन-पर्व

दुर्योधन ने गहरी सास लेकर कहा—"मेरा खाना-पहनना कायर पुरुषो जैसा है। जब मैं युधिष्ठिर की महती श्री देखता हू तव खाया-पिया मेरी देह को नही लगता।"

इस प्रसग मे आगे दुर्योधन ने युधिष्ठिर की उस अतुल धन-सम्पत्ति का वर्णन किया, जिसे राजाओ से उपहार लेते समय उसने स्वय देखा था। इस प्रकरण को महाभारत में 'दुर्योधन-सताप' या कही 'दुर्योधन-प्रलाप' भी कहा गया है। हमने इसे 'उपायन-पर्व' नाम दिया है, क्योकि इसमें उन उपायनो या भेट के सम्भारो का वर्णन है, जिन्हे चारो दिशाओ के राजा युधिष्ठिर को देने के लिए लाये थे। आर्थिक और भौगोलिक दृष्टि से यह प्रकरण महत्वपूर्ण है। मध्य एशिया से दक्षिणी समुद्रतक और सिन्ध से कलिंग-ताम्रलिप्तितक के अनेक जनपदो और भू-भागो का इसमें उल्लेख है। इस प्रसग के लेखक के मन में देश की भौगोलिक और आर्थिक इकाई का विचार बद्धमूल था। सभा-पर्व के चार अध्यायो (अध्याय ४५-४८) में यह प्रकरण आया है। अध्याय ४५ में इसका सक्षिप्त रूप है, जिसमें बहुत ही थोडे उल्लेख हैं, किन्तु इसके बाद अध्याय ४६ मे जनमेजय ने इसी कथा को पुन विस्तार से सुनने की इच्छा प्रकट की, जिसके फलस्वरूप लगभग सौ श्लोको में इसका पुन वर्णन हुआ है। ज्ञात होता है कि महाभारत के मूल सस्करण मे इस विषय का बीजरूप में उल्लेख किया गया था। वही शक-कुषाण काल के बाद परिवर्द्धित भौगोलिक और आर्थिक पृष्ठभूमि को लेकर वर्तमान रूप में सजा दिया गया है। इस विस्तार का उल्लेख भी विचित्र सचाई के साथ इस ग्रथ में रह गया है। शक, तुषार, कक, वाल्हीक और चीन के नामोल्लेख से इसका काल सूचित होता है।

युधिष्ठिर की अतुल सम्पत्ति

दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से युधिष्ठिर की अतुल सपत्ति का हाल सुनाते हुए कहा—

"वहा इन्द्रप्रस्थ के राजभवन में दस सहस्र स्नातक सोने की थाली में

नित्य भोजन पाते है। कम्बोज देश (वक्षु के उत्तर का पामीर प्रदेश) के राजा ने कीमती कवल, और कदली-मृग के काले, लाल और सावले समूर युधिष्ठिर के लिए उपहार में भेजे। वही के राजा ने भेडो की खाल से वने हुए (ऐड) और वृषदश नामक जगली विलावो के चमडे से वने हुए वस्त्र (वार्षदश चैल) जिनके ऊपर सुनहला काम वना हुआ था (जातरूप-परिष्कृत), और वकरे की खालो से वने हुए प्रावार नामक ओढने के कम्वल भेजे। उसी देश से तित्तिरकल्माष रग के तीन सौ गुल्दार घोडे भी प्राप्त हुए। पील, शमी और इगुदी के पत्ते खाकर तगडे वने तीन सौ ऊट और खच्चर भी लाये गए। गोवासन देश (सभवत शिवि देश जो गोधन के लिए प्रसिद्ध था) के राजा, ब्राह्मण जनपद (सिन्ध में ब्राह्मणावाद) और दास-मीय (सिन्धु पार अफगानिस्तान के व्रात्य लोग) सोने के वने हुए कमण्डलु लेकर उपस्थित हुए, तव उन्हे प्रवेश मिला।

"कार्पासिक (सभवत मध्य एशिया के समीप कारापथ) देश के निवासी स्वर्णालकार से भूषित लम्वे केशवाली छरहरे वदन की युवती दासिया एव रकु नामक वडे वालोवाले वकरो की खालें लेकर आये। भरुकच्छ के निवासी गान्धार देश में उत्पन्न उत्तम घोडे भेंट मे लाये। सिन्धु नदी के मुहाने के इस पार के लोग जहा नदी-मुख की सिचाई से धान्य उत्पन्न होता है, सिन्धु के उस पार के लोग जहा केवल इन्द्र की कृपा पर ही वृष्टि निर्भर है, कच्छ-काठियावाड के प्राय द्वीप के लोग (समुद्र निष्कुट जाता), वलूचिस्तान के पहाडी प्रदेश मे रहने वाले वैराम, पारद (हिंगुल देश के लोग), वग (लग जाति), कितव (केज मकरान के निवासी)—ये सव अनेक प्रकार के रत्न, भेड, वकरी, गो, हिरण्य, ऊट, गवे, अगूरी शराव (फलज मधु) और अनेक प्रकार के कम्वल लेकर उपस्थित हुए तो भी उन्हे मुलाकात के लिए महल के द्वार पर ही रुक जाना पडा।

"प्राग्ज्योतिष देश का राजा भगदत्त यशव के वने हुए कीमती वरतन (अश्मसारमयभाड) और सफेद हाथीदात की मूठोवाली तलवार उपहार में देकर वापस गया। और भी कितने ही राजाओ को मैने वहा देखा। द्व्यक्ष, (वदख्शा), त्र्यक्ष (तर्खान), और ललाटाक्ष (लद्दाख) के पगडवारी राजा वहा आये। विशेषत एकपाद सज्ञक कवीले के लोग वीरवहूटी के और

मुग्गे के रग के अनेक घोडे लेकर उपस्थित हुए। चीन, हूण, शक, ओड्र, पर्वतीय (कोहिस्तान-काफरिस्तान के निवासी), हारहूर (दक्षिणी-पश्चिमी अफगानिस्तान में हरह्वैति या अर्गन्दाव देश के निवासी) और हैमवत (काश्मीर के उत्तर में हिमालयस्थ प्रदेश के निवासी), इन राजाओ का वर्णन मै कहातक करू, जो राजद्वार पर रुके हुए थे और भेंट में देने के लिए अपने साथ काली गरदनवाले, महाकाय, सौ योजन-गामी, कावुली गधे लेकर आये थे ? उनके साथ वाह्लीक (वल्ख) और चीन देश के वने हुए ऊनी (और्ण), रेशमी (कीटज), और पाट (पट्टज) के वहुत प्रकार के मुलायम वस्त्र, कमल के समान ललाई लिये हुए नम्दे (कुट्टीकृत), मध्य एशिया के रकु नामक वकरे के लम्वे वालो के राकव कम्वल, भेड-वकरो की खालो की पोस्तीन (आविक-अजिन), लम्वी तेज तलवारें, भाले, वरछे और तीखे फरसे एव अनेक प्रकार की सुगन्धिया और रत्न उपहार की सामग्री में सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त शक, तुषार (शको की एक शाखा), कक्ष (शको की शाखा-विशेष जिसे चीनी भाषा में ककु या कगु कहा गया है, और जो मध्य एशिया के पश्चिमी भाग सुग्ध-वुखारा के प्रदेश में थे), रोमश (शको की किसी शाखा-विशेष के लोग), और शृंगी (शको की एक शाखा, जिसमें पुरुष सिर पर मेढे के सीग उष्णीष मे लगाते थे, जिनके कुछ मस्तक मथुरा-शिल्प में मिले हैं)—ये सव लोग तेज चालवाले अगणित घोडे और असख्य सुवर्ण लेकर उपस्थित हुए। पूर्व देश का राजा भी मूल्यवान आसन, सवारी और मणि-जटित दात के पलग, भाति-भाति के सुनहले रथ, जिनमें सिखाये हुए घोडे जुते थे और जो व्याघ्र चर्म से मढे हुए थे, एव विचित्र कालीन और नाराच, अर्ध-नाराच आदि शस्त्र लेकर महात्मा युधिष्ठिर के यज्ञ-सदन में प्रविष्ट हुआ।

"मेरु और मदराचल के बीच में (मध्य एशिया में पामीर के समीप) जो शैलोदा नदी है (वर्तमान खोतन नदी, जहा यशव की खानें हैं), उनके दोनो किनारो पर कीचक सज्ञक बास के वन है (कीचक चीनी भाषा का शव्द है) वहा अनेक जातियो के लोग निवास करते है, जैसे खश, एकाशन, जोह, प्रदर, पशुक, कुणिन्द, तगण, परतगण आदि। वे लोग पिपीलिक नामक रवेदार सोना द्रोण से नापकर ले आये। इस सोने को चीटिया खोदकर मानो वरदान

में मुफ्त उन्हे देती थी (पिपीलिक सुवर्ण के बारे में इस किवदती का उल्लेख यूनानियो ने भी किया है, जो प्राचीन व्यापारी जगत में मध्य एशिया और तिब्वती सुवर्ण के विषय में प्रचलित थी)। हिमवान् पर्वत के निवासी राजा काले और श्वेत चवर, हिमालय के फूलो से उत्पन्न स्वादिष्ट मधु, कैलास के उत्तर की वन्य ओपधिया और उत्तर कुरु (मध्य एशिया प्रदेश) की बनी हुई पानी की भाति हरियाले यशव के दानो की मालाए (अम्बुमाल) उपहार में लेकर प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुए।

"हिमवान् के पूरब में उदयाचल पर्वत के राजा एव समुद्र के किनारे वारिपेण (आधुनिक वारीमाल) एव लौहित्य नदी के दोनो किनारो पर रहनेवाले गण तथा फल-मूल खानेवाले किरात, जो चमडे से अपना शरीर ढकते है, वडी अद्भुत भेंट की सामग्री लेकर आये। चदन, अगरु और कालि-यक के मुट्ठे, वढिया चर्म, सुवर्ण, और गन्ध, भाति-भाति के मृग और पक्षी एव किराती दासिया युधिष्ठिर की स्वीकृति के लिए उपायन में लाई गई। उस अजातशत्रु राजा के लिए जिन-जिन जनपदेश्वरो ने वलिआहरण किया, उनके नामो का मै कहातक वर्णन करूँ? कायव्य (खैवर दर्रे के निवासी), दरद् (कश्मीर के उत्तर-पश्चिम में दर्दिस्तान), दार्व (डुग्गर, वर्तमान जम्मू प्रदेश), शूर (प्रसिद्ध अफगान कवीला), वैयमक (अफगानी ऐमक कवीला), पारद, वाह्लीक (वल्ख), कुन्दमान (अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा पर कुन्दुज के निवासी), पौरक (पठानो का पोरे नामक कवीला), हसकायन (कश्मीर की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हुजा प्रदेश), कश्मीर, औदुम्बर, शिवि (झगमघियाना के दक्षिण शोरकोट), त्रिगर्त्त, यौधेय, राजन्य (एक प्राचीन जनपद, जिसके सिक्के होशियारपुर जिले में मिले है), मद्र (पजाव का प्रसिद्ध जनपद जिसकी राजधानी शाकल या स्यालकोट थी,), केकय (शाहपुर, झेलम और गुजरात के जिले), अम्बष्ठ (पजाव का एक जनपद), कौकुर (सभवत पजाव की खोक्खड जाति, जो झेलम और चिनाव के वीच में वसी है), पह्लव, वसाति (मीवी), मौलेय (मूला नदी के आसपास रहने वाले), क्षुद्रक, मालव, शक, अग, वग, पुण्ड्र, कलिंग, ताम्रलिप्ति, शाणवत्य (सयाल), और गया के आसपास के रहनेवाले—इस प्रकार अनेक क्षत्रिय जव द्वार पर उपस्थित हुए, तव द्वारपालो ने राजा की आज्ञा से निवेदन किया—

'आप लोग कर और उपहार लेकर आये हो तो द्वार पर आइएगा।'

"पूर्व मे काम्यकसर (उडीसा में चिल्काझील) के समीप रहनेवाला राजा सोने के साज और जडाऊ झूलो से अलकृत, क्षमावान्, कुलीन और पर्वत-तुल्य हाथी देकर, भीतर प्रवेश पा सका। उडीसा की शूकर जाति और वही के पाशु-राष्ट्र (पास रियासत) के राजाओ ने भी हाथी और घोडे भेट में देकर प्रणाम किया। सिहल के नृपति समुद्र का सारभूत धन शख, मुक्ता और वैदूर्य के रूप में लेकर सैकडो कालीनो के साथ उपस्थित हुए। उनके सावले शरीर पर मोतियो के बने हुए मणि-चीर-वस्त्र सुशोभित थे और उनके नेत्रो के अपाग-भाग तावे से दमकते थे। नाना देश और नाना जातियो के उच्च-नीच वर्णों के मनुष्य और म्लेच्छ देश के निवासी मनुष्य युधिष्ठिर के लिए जो उपहार-सामग्री लाये, उसका स्मरण करके आज मुझे मर जाने की इच्छा होती है। उस राज-भवन में पक्वान्न और सीधा जिस प्रकार ब्राह्मणो, स्नातको, यतियो और भृत्यो में वटता था, उसका कोई अन्त नही। कुब्ज और वामन सदृश छोटे-छोटे नौकरोतक को खिलाकर ही याज्ञसेनी द्रौपदी स्वय भोजन करती थी। केवल दो ने ही युधिष्ठिर को कर नही दिया—एक तो विवाह-सबध के कारण पचाल क्षत्रियो ने और दूसरे सखा होने के नाते अन्धक-वृष्णियो ने। उस राजसूय यज्ञ की श्री पाकर युधिष्ठिर हरिश्चन्द्र के समान सुशोभित हो गए। ऐसी दशा मे मेरा कृश, सशोक और विवर्ण होना स्वाभाविक है। मुझे चैन कहा? क्या तुम समझते हो, मेरे प्राण वचेंगे? तुमने किसी अन्धे सारथी की तरह उलटा जुआ वाघ दिया है। जो छोटे है, वे वढ रहे है, और जो वडे है, वे छीज रहे है।"[१]

शकुनि की योजना

दुर्योधन का यह विलाप सुनकर धृतराष्ट्र ने समझाया—"हे पुत्र, तुम ज्येष्ठ के पुत्र होने से ज्येष्ठ हो, तुम्हे पाडवो से द्वेप न करना चाहिए। द्वेष-

---

१ इस महत्वपूर्ण प्रकरण की भौगोलिक और आर्थिक सामग्री के विषय में जिन्हें अधिक जानने की इच्छा हो वे कृपया श्री मोतीचन्द्र कृत 'उपायन पर्व-एक अध्ययन' अग्रेजी पुस्तक देखें।

कर्त्ता मृत्यु-जैसा दुख पाता है। तुम अपने भाई की सपत्ति पर क्यो आख गडाते हो ? तुम्हे भी वैसी ही यज्ञ-विभूति चाहिए तो तुम भी महायज्ञ करो, जिससे तुम्हारे यहा भी राजा विपुल धन भर दें। जो अपने धर्म में रहकर निज धन मे सतोप पाता है, वही सुखी होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह स्वकर्म में नित्य उद्योग करे, दूसरे के काम मे न उलझे।"

धृतराष्ट्र के इस प्रकार समझाने पर दुर्योधन को तनिक भी शाति न मिली। उलटे उसके मन मे ईर्ष्या और द्वेप की आग और भभक उठी। उसने बहुत कुछ अण्ड-बण्ड बकने के बाद अन्त में कहा—"या तो मुझे वैसी ही लक्ष्मी चाहिए या मै लडकर प्राण दे दूगा। आज जैसी अवस्था में मेरा जीना व्यर्थ है।"

मौका पाकर पास में बैठे हुए शकुनि ने कहा—"युधिष्ठिर के पास तुम जो सपत्ति देखते हो, उसे मै बिना जोखिम के और बिना युद्ध के केवल अपने पासो के बल से तुम्हे दिला सकता हू। दाव मेरा धनुप है, पासे मेरे बाण हैं, द्यूत-कला मेरी प्रत्यचा है और पासो का फलक ही मेरा रथ है।"

शकुनि का इशारा पाकर दुर्योधन ने पिता से फिर बात चलाई—"हे तात, यह शकुनि केवल द्यूत से पाण्डवो की सारी सपत्ति मुझे दिला सकता है। बस आप कह भर दीजिए।"

धृतराष्ट्र यह सुनकर फेर मे पड गए। उन्होने कहा—"मैं विदुर से सलाह कर लू, तो कहू।"

दुर्योधन यह चाल समझता था। उसने कहा—"विदुर तो पाडवो का हितैपी है। वह तो तुम्हारी बुद्धि को गडबडा देगा। दो आदमियो की राय कही मिला करती है ? अपने काम में दूसरो की सहायता कैसी ? मन्दबुद्धि डरकर अपने को बचाता रहता है। बरसात में भीगे हुए भूसे की तरह वह सब तरह बिगड जाता है। रोग और मृत्यु बाट नही देखती कि मनुष्य का काम हुआ या नही। इसलिए जबतक शक्ति है, तभीतक हित कर लेना चाहिए।"

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को फिर बरजते हुए कहा—"हे पुत्र, तुम इस अनर्थ द्वारा घोर कलह का सूत्रपात करने चले हो।"

दुर्योधन ने कहा—"इसमें अनर्थ की क्या बात है ? पुराने लोगो ने ही तो द्यूत का व्यवहार निश्चित कर दिया है। न उसमें किसी धर्म्य मार्ग का

अतिक्रमण है, और न किसी का अहित है। जो अक्षद्यूत में प्रवृत्त होते है, उनके लिए स्वर्ग का द्वार खुला है। अतएव शकुनि की वात मानकर आप शीघ्र सभा-निर्माण करने की आज्ञा दे दीजिए।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"पुत्र, तुमने जो कहा, वह मुझे नही जचता। फिर भी तुम्हारा जो मन हो, करो। वैसा करके पीछे पछताओगे, यह वात कभी धर्मानुकूल नही हो सकती। मुझे क्षत्रियो का वीज नाश करनेवाला वडा भय आया हुआ जान पडता है।" इतना कहकर धृतराष्ट्र ने मन में विचारा- 'देव का विधान दुस्तर है, उसे कौन टाल सकता है!' ऐसा सोचते हुए उनकी वुद्धि पर मानो दैव ने ही परदा डाल दिया और राजा धृतराष्ट्र ने पुत्र की वात मानते हुए अपने राज-पुरुषो को सभा वनाने की आज्ञा दे दी।

पाण्डवो को निमत्रण

तदनुसार सहस्रो शिल्पियो ने मिलकर सहस्र स्तभोवाली, सौ द्वारवाली तोरणो से अलकृत सभा का शीघ्र निर्माण कर दिया और राजा को उसकी सूचना दी।

तव धृतराष्ट्र ने मन्त्र-मुख्य विदुर से कहा—"जाओ, मेरी आज्ञा से राजपुत्र युधिष्ठिर को शीघ्र ही यहा ले आओ। वह भाइयो के साथ यहा आकर इस विचित्र सभा को देखें और मन-वहलाव के लिए कुछ पासो का खेल (सुहृद्-द्यूत) भी खेल लें।"

यह सुनकर विदुर सन्नाटे में आ गए। उन्हे यह सब अच्छा न लगा और भाई से वे वोले—"हे राजन्, मेरी इस कार्य के लिए जाने में रुचि नही है, तुम ऐसा न करो। मैं कुल के नाश से डर रहा हू। मुझे आशका है कि द्यूत के फलस्वरूप तुम्हारे इन पुत्रो में अवश्य झगडा हो जायगा।"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"हे विदुर, यदि दैव प्रतिकूल न होते तो क्या मुझे स्वय इस कलह का सताप न होता? ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् वैसी ही चेष्टा में लगा है, स्वतत्र नही है। इसलिए हे विदुर, मेरी आज्ञा से युधिष्ठिर के पास जाओ और उसे शीघ्र ही ले आओ।"

: १७ :

शकुनि का कपट-द्यूत

राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर युधिष्ठिर के समीप गए। उनका मन कुढ रहा था, क्योकि उनको बलपूर्वक इस काम में नियुक्त किया गया था। युधिष्ठिर ने उचित सत्कारपूर्वक पूछा—"हे विदुर, आपका मन प्रसन्न नहीं जान पडता। सब कुशल से तो है? धृतराष्ट्र के पुत्र तो उनके अनुकूल है? प्रजाए तो वश में है?"

विदुर ने उत्तर दिया—"महात्मा धृतराष्ट्र पुत्रो के साथ कुशल से है। उन्होंने आपकी कुशल पूछी है और कहा है—'तुम्हारी सभा के जैसी ही हमारी सभा तैयार हो गई है। उसे आकर देखो। थोडा सुहृद-द्यूत भी यहा करके मन-बहलाव करो। आपके आने से हम सब प्रसन्न होगे।' इसलिए मैं यहा आया हू। वहा धृतराष्ट्र ने जो पासे बनवाये है और वहा जो कितव (धूर्त जुआरी) आये होगे, उन्हे भी चलकर देखना होगा।"

युधिष्ठिर ने कहा—"मुझे द्यूत में कलह दिखाई पडता है, जानबूझ कर इसके लिए कौन तैयार होगा? आप क्या ठीक समझते है? हम सबके लिए आपका वचन प्रमाण है।"

विदुर ने कहा—"मेरी राय में जुआ अनर्थ की जड है। मैंने इसे रोकने का यत्न किया, फिर भी राजा ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। तुम विद्वान् हो, आज्ञा सुनकर जो ठीक हो, करो।"

युधिष्ठिर ने पूछा—"धृतराष्ट्र के पुत्रो के अतिरिक्त वहा कौन-कौन से कितव आये हैं, जिनसे हमें खेलना होगा?"

विदुर ने कहा—"गाधारराज शकुनि मजे हुए खिलाडी हैं, अक्ष-विद्या के उस्ताद है, सदा जीत का दाव फेंकते है और भी विविंशति, चित्रसेन आदि है।"

ये नाम सुनकर युधिष्ठिर अनिष्ट के भय से काप गए। उन्होंने कहा—"वहा भयकर छलिया और कपटी खिलाडी आये है। विधाता की आज्ञा के वश में सबकुछ है। मेरा मन नही कि उन धूर्तों के साथ द्यूत करू, साथ ही धृतराष्ट्र के शासन से न जाऊ, यह भी नही चाहता। पुत्र को सदा पिता की

मर्यादा रखनी चाहिए। इसलिए हे विदुर, जैसा कहते हो, चलता हू। यदि मुझे सभा में कोई चुनौती न देगा तो शकुनि से खेलने की मेरी इच्छा नही। लेकिन मेरा यह सदा व्रत है कि आहूत होने पर मुह न मोड़ूगा।" यह कहकर धर्मराज अगले दिन भाइयो और द्रौपदी-सहित-विदुर के साथ चल दिये। वे हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र-भवन में पहुचे और वहा सबसे मिलकर गान्धारी से मिले। धृतराष्ट्र की बहुए द्रौपदी की उस दीप्त शोभा को देखकर मन में प्रसन्न नही हुईं।

शकुनि की चुनौती

अगले दिन वे लोग सभा मे गए, जहा खिलाडी जमे थे। बैठने पर पहले शकुनि ने कहा—"हे राजन्, सभा जमी हुई है। सब लोग मन-बहलाव के लिए उत्सव के भाव से आये हैं। हे युधिष्ठिर, पासे फेंककर खेलने का नियम रहे।"

युधिष्ठिर ने कहा—"अक्षद्यूत पाप से भरा हुआ, दूसरो को ठगने का व्यापार है। क्षात्र-पराक्रम के अनुकूल नही है। नीति-धर्म भी द्यूत के पक्ष में नही है। तुम व्यर्थ उसकी बडाई करते हो। परवचकता में जुआरी का जो मानदड होता है, उसे कोई अच्छा नही समझता। हे शकुनि, इस कुमार्ग से हृदयहीन की भाति हमें जीतने की इच्छा न करो।"

शकुनि ने उत्तर दिया—"छल के समय भी जो पासो की ठीक गणना कर ले, वही सच्ची विधि जाननेवाला है। वही खिलाडी है, जो पासो के अनुकूल-प्रतिकूल गिरने पर भी खिन्न न हो। जो द्यूत का जानकार है, वह महामति होता है, वही इसके उतार-चढाव सह सकता है। पर पासो के साथ जो दाव हैं, वे ही घातक हैं, वे ही कालरूप हैं, क्या तुम्हारा यही अभिप्राय है? यदि हा, तो हे युधिष्ठिर, शका मत करो, हम लोग मिलकर खेलेंगे। दाव लगाओ, देरी न हो।"

शकुनि के इस प्रकार वचन सुनकर युधिष्ठिर को फिर धर्म की याद आई और उन्होंने मानो अन्तिम पैतरा चलते हुए कहा—"मुनिसत्तम असित देवल ने कहा है—'धूर्तों के साथ छल से खेलना पाप है। धर्म से ही युद्ध में जय मिलती है। धर्मपरायण होकर खेलना अच्छा है।' स्त्रिया गाली-गलौज

पर उतर आती है, किन्तु छल-छिद्र नही करती। युद्ध भी विना कपट और शठता के ही होना चाहिए। यही सत्पुरुषो का व्रत है। जो धन यथाशक्ति ब्राह्मणो को अर्पित करने के लिए है, उसे हे शकुनि, दाव पर मत रखवाओ।"

जुए के मार्ग में इतनी दूरतक पैर वढाकर युधिष्ठिर ने जो वार-वार छल से वचने की माला जपी, उससे तडपकर शकुनि ने कहा—"हे युधिष्ठिर, जानकार अनजान के साथ लोक मे जो व्यवहार करता है, क्या सर्वत्र उसमें कपट ही भरा रहता है? हम लोगो को तो इन व्यवहारो मे कपट की गन्ध नही आती। यहातक आकर यदि तुम अनजान वनकर कपट की दुहाई देते हो और मन में डरते हो तो खेलना छोड दो।"

शकुनि के ये वचन ठीक निशाने पर लगे। युधिष्ठिर ने कहा—"मैंने व्रत किया है कि जो मुझे चुनौती देगा, उससे मैं मुह न मोडूगा। विधाता वलवान है। मैं भाग्य के हाथो में हू। तो कहो, कौन मेरे साथ खेलेगा और इस द्यूत में दाव का धनी-धोरी कौन वनेगा?"

यह सुनते ही दुर्योधन ने चट कहा—"मेरा मामा शकुनि मेरे लिए खेलेगा, दांव के लिए रत्न और धन मैं दूगा।"

यह सुनकर युधिष्ठिर बोले—"तुम्हारी ओर मे किसी दूसरे का खेलना मझे नियम-विरुद्ध लगता है। पर तुम्हारी इच्छा। ऐसा ही हो।"

द्यूतारम्भ

इस प्रकार यह सुहृद्-द्यूत आरम्भ हो गया। पहले दाव मे युधिष्ठिर ने समुद्र से उत्पन्न अपनी सर्वश्रेष्ठ मणि लगाई। जवाव में दुर्योधन ने भी अपनी मणिया रख दी और 'मुझे धन मे क्या लेना है' यह कहते हुए वह चट वोल पडा—"अव जीता!" अक्ष-विद्या का मर्म जाननेवाले शकुनि ने पासा फेंकते हुए कहा—"वह जीता!" युधिष्ठिर कहते ही रहे—"अरे, यह दाव कपट से जीत लिया, अभी और वहुतेरे दाव चलने हैं। ये सहस्र निष्को मे भरी हुई सौ कुडिया दाव पर लगाता हू।" लेकिन शकुनि पासे फेंककर चट वोला—"यह जीता!"

युधिष्ठिर ने फिर कहा—"यह मेरा व्याघ्र के चमडे से मढा और घटियो से झनझनाता हुआ जैत्ररथ है। सहस्र कार्षापण इसका मूल्य है। अव की

वार इसी धन से खेलता हू।" इतना सुनना था कि शकुनि ने फिर उसी कपट से पासा फेकते हुए आवाज दी—"वह जीता!"

इसके बाद युधिष्ठिर ने सुवर्ण के आभूपणो से सज्जित एक सहस्र हाथी, दस सहस्र निष्क (कण्ठी) से अलकृत दासिया, उतने ही दास, हैमसज्जित रथ, तीतरपखी रग के गाधार देश के घोडे, एव रथ और शकटो मे जुतने वाले ऐसे अनेक अश्व जो दूध-भात का भोजन पाते और खडे रहते थे, दाव पर रखे, पर शकुनि ने उसी प्रकार कूट चाल से पासा जीतकर कहा—"वह जीता!"

इसके बाद युधिष्ठिर ने अपना कोप भी दाव पर लगा दिया। उसमें चार सौ ताबे के कलश थे और एक-एक मे तौल में पाच-पाच द्रोण आहत सुवर्ण-मुद्राए थी। उसे भी शकुनि ने "वह जीता!" कहकर हर लिया।

विदुर का उपदेश

इधर द्यूत का पारा चढता जा रहा था, उधर हाल बिगडता हुआ देखकर विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया—"महाराज, मरनेवाले को जैसे औषध अच्छी नही लगती, वैसे ही मेरा कथन आपको न रुचेगा, फिर भी कहूगा, विचार करें। दुर्योधन भरत-वश के लिए काल जन्मा है। यह राजभवन में ही शृगाल उत्पन्न हो गया है। मधु का लोभी जैसे पहाड की चोटी पर खडा हुआ छत्ते को देखता है, खड्ड को नही देखता, ऐसे ही यह दुर्योधन अक्ष-द्यूत मे मत्त पाडवो से वैर कर अपना नाश नही देखता। आपको ज्ञात है, जितने यादव, भोज और अन्धक कस के सगे-सबधी थे, सबने उसे छोड दिया। ऐसे ही सौ-सौ वर्षों से खाने-पीनेवाले आपके जातिबन्धु भी अलग हो जायगे। आप यदि आज्ञा दें तो अर्जुन दुर्योधन को कैद कर ले, उस पापी के निग्रह से सब कौरव सुखी होगे। हे राजन्, इस कौए को त्यागकर मोरो को और इस शृगाल को त्यागकर शार्दूल पाडवो को अपने पक्ष में करो। क्यो शोक-समुद्र मे डूबते हो? नीति है कि कुल के लिए एक पुरुष को, एक कुल को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए त्याग दे, और आवश्यकता हो तो अपने लिए पथिवी भर को छोड दे। प्राचीन कालमे कवि-पुत्र उशना ने इस नीति का उपदेश असुरो को देकर कहा था कि तुम लोग पापी जम्भासुर का त्याग कर दो।

वन में रहनेवाले कुछ पक्षियों ने, जो सोना उगलते थे, किसीके घर में घोंसला ला रखा। उस अन्धे ने सोने के लोभ से उन्हें मारकर अपने वर्तमान और भावी दोनों लाभों का नाश कर लिया। ऐसे ही राजन्, तुम पाडवों से द्रोह करके पछताओगे। उद्यान में जैसे-जैसे पुष्प फलते है, माली उन्हें चुनता है, किन्तु कोयला फूकनेवाला सारे पेड को ही जड मूल से जला डालता है।

"द्यूत कलह का मूल है। आपस में फूट पैदा करके युद्ध करा देता है। दुर्योधन वैसा ही उग्र वैर करनेवाला है। वह मद से सारे राष्ट्र के क्षेम को मिटा देगा, जैसे बैल स्वय अपने सीग को तोड डालता है,जैसे नौसिखुए कर्णधार की नाव पर चढकर यात्री समुद्र में डूबता है, वैसे ही हे राजन्, तुम भी नष्ट होगे। दुर्योधन पाडवों के साथ द्यूत मे जीतता है, क्या तुम इससे प्रसन्न होते हो ? इस उत्पन्न होती हुई घोर अग्नि को अयुद्ध मे शात करो। द्यूत द्वारा आप जितना धन चाहते है, उससे कही अधिक के लिए पाडवों को अपने पक्ष में क्यों नही करते ?"

दुर्योधन के कटु वचन

विदुर के ये वचन दुर्योधन न सह सका। उसने कहा—"हे विदुर, तुम सदा छिपे हुए पाडवों की प्रशसा और हमारी निन्दा करते हो। जहा तुम्हारा स्नेह है, हम जानते हैं। क्या तुम हमें अबोध समझते हो ? तुम्हारी वाणी बता रही है कि तुम्हारा मन कहा है ? तुम गोद मे बैठे हुए नाग हो। बिलाव की तरह अपने पोषक की ही हिंसा करते हो। स्वामि-द्रोह से बढकर पाप नही। शत्रुओं को जीतकर हमने महाफल प्राप्त किया है। हमसे कडवी बाते मत कहो। हे विदुर, अपने यश की रक्षा करो। हमें छोडकर दूसरे के हित में मत लगो। मैं ही सबकुछ करने वाला हू, क्यों तुम ऐसा समझते हो ? मेरे लिए क्या हित है, यह मैं तुमसे कब पूछता हू ? तुम्हारा भला हो, कृपा करके हम सहिष्णुओं को अपने वाग्बाणों से मत बीधो। मेरा तो एक ही शिक्षक है, दूसरा नही, उसीने गर्भ मे सोते हुए ही मुझे शिक्षा दे दी थी, वही मुझे जैसा चलाता है, वैसा करता हू। पानी जैसे ढाल की ओर बहता है, वैसे ही मैं भी अपने स्वभाव की ओर जाता हू। जो बलपूर्वक किसीको सिखाता है, वह अपना सिर चट्टान से टकराता है या साप को दूध पिलाता है। उसने

केवल मनमुटाव बढता है। हे विदुर, जो भुस में आग लगाकर स्वय वहासे भाग नही जाता, उसकी राख का भी पता नही लगता। कहा है, जो दूसरे का हितू और अपना वैरी है, ऐसे अहितकारी मनुष्य को पास में न रहने दे। इसलिए जहा चाहो, चले जाओ। जो असती स्त्री है, उसे चाहे जितना रिझाओ, वह भाग ही जाती है।"

इन विषबुझे वचनो से विदुर के मन को अत्यधिक सताप हुआ, फिर भी उन्होने अपनेको सम्हालते हुए कहा—"हे धृतराष्ट्र, इन बातो से व्यथित होकर यदि मैं तुम्हे छोड दू, तो मेरी मित्रता हलकी कही जायगी। राजाओ के चित्त तो चचल होते है। वे शाति की बात कहकर मूसलो से मारते हैं। हे दुर्योधन, तुम अपनेको पडित और मुझको मूर्ख समझते हो। मूर्ख वह है जो अपने ही आदमी को मित्र बनाकर पीछे उस पर दोष लगाता है। मन्द बुद्धि व्यक्ति को सुमार्ग पर ले जाना वैसा ही कठिन है जैसा श्रोत्रिय के घर की चचला स्त्री को सयम में रखना। हित और अनहित के कार्यों में यदि चापलूसी की बात ही सुनना चाहते हो, तो किसी मूढ से जाकर सलाह करो। जो पुरुष प्रिय-अप्रिय की भावना छोडकर हितकारी अप्रिय बात भी कह सकता है, वही राजा का सच्चा सहायक है। सज्जनो के लिए एक ऐसा पेय पदार्थ है, जो कडुवा, तीखा, गरम, यशनाशक, रूखा और दुर्गन्धिपूर्ण है। उसका नाम क्रोध है। असज्जन उसे नही पी सकते। हे महाराज, उस क्रोध को पचाकर शात बनो। पडित वह है जो सर्प की तरह नेत्रो से ज्वाला उगलनेवाले क्रोधी व्यक्ति से स्वय कुपित नही होता, इसलिए मैं अपने आपको रोककर यह सब कह रहा हू।"

युधिष्ठिर की हार

धृतराष्ट्र, दुर्योधन और विदुर के इस वार्तालाप की पृष्ठभूमि में युधिष्ठिर और शकुनि का वह द्यूत भी चल रहा था। "हे युधिष्ठिर, पाडवो का बहुत-सा धन हार चुके, अब और कुछ हो तो बोलो।" शकुनि का यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने फिर कहा—"मेरा धन असख्य है। सिधुनद के पूर्व की प्रजाओ का जितना धन है, वह मेरा ही है। उसे मैं दाव पर रखता हू। ब्राह्मण राज्याधिकारी और ब्राह्मणो का धन इन दो के अतिरिक्त जितने पुर और

जनपद है, वह सब मेरा धन है, उसे दाव पर रखता हू।" इतना सुनते ही शकुनि न फिर पासा फेंकते हुए कहा—"वह जीता!" उसे हारकर युधिष्ठिर फिर सब राजपुत्रो को एव नकुल और सहदेव को भी दाव पर हार गए।

तब शकुनि ने चुटकी ली—"तुम्हारे प्रिय माद्री-पुत्रो को तो मैंने जीत लिया। ज्ञात होता है कि भीमसेन और अर्जुन तुम्हें अधिक प्यारे है।" आहत होकर युधिष्ठिर ने कहा—"अरे मूर्ख, तू हम सब भाइयो के मन में फूट डालता है।" शकुनि ने उत्तर दिया—"द्यूत खेलनेवाले जो प्रलाप कर जाते है उनपर स्वप्नो मे भी क्या कोई ध्यान देता है? हे युधिष्ठिर, आप सचमुच जेठे और बडे है। नमस्कार है आपको। जो एक बार नशे में चूर हो गया, वह गड्ढे में गिरता ही है। जो प्रमत्त हो गया, वह नाश को प्राप्त होता ही है।"

अब युधिष्ठिर की विवेक-बुद्धि क्षीण हो चुकी थी। उन्होंने अर्जुन और भीम को भी दाव पर रख दिया और हार गए। शकुनि ने ललकारा—"अब कहो युधिष्ठिर, दाव पर रखने के लिए क्या धन है?" युधिष्ठिर ने निर्बुद्धि होकर कहा—"सब भाइयो का प्यारा मैं ही अब बचा हू। अपनेको ही मैं दाव पर रखता हू।" इतना कहना था कि शकुनि ने पासा फेंका और कहा—वह जीता! और ऊपर से व्यग्य किया—"हे युधिष्ठिर, यह तुमने पाप किया जो धन अवशिष्ट रहने पर भी अपने आपको हार गए! अभी तुम्हारी प्यारी द्रौपदी अपराजित बची है! उसे दाव पर रखकर फिर अपने आपको स्वतत्र करो।"

इस समय तक युधिष्ठिर पक्के जुआरी के समान अपने विवेक को बिल्कुल खो चुके थे। शकुनि की बात सुनकर विचार करना तो दूर, उन्होंने द्रौपदी को भी दाव पर रख दिया। इतना सुनते ही सभा के सब वृद्ध सदस्य उन्हें धिक्कारने लगे। सारी सभा क्षुभित हो गई। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य को पसीना हो आया। विदुर प्राण-शून्य की तरह सिर पकडकर नीचा मुह कर सोचने लगे। केवल धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछने लगे—"क्या जीत लिया? क्या जीत लिया?" वह अपनी मुद्रा छिपा न सके—

धृतराष्ट्रस्तु सहृष्टः पर्यपृच्छत् पुन. पुन।
किञ्जित किञ्जितमिति आकार नाभ्यरक्षत ॥

(सभापर्व ५८।४१)

महाभारत के समस्त कथा-प्रवाह में जिस प्रकार अकेला ही यह श्लोक धृतराष्ट्र के कुटिल चरित्र को तराश कर सामने रखता है, उस प्रकार का और कोई श्लोक ढूढे न मिलेगा। ठीक अवसर पर कहे हुए इस श्लोक मे वेदव्यास की साहित्यिक प्रतिभा की पराकाष्ठा है। चरित्र-चित्रण का इतना सक्षिप्त और चुटीला उदाहरण दूसरा नही मिलता। क्या सचमुच धृतराष्ट्र का भीतरी मन इतनी दूर तक दुर्योधन के षडयन्त्र मे सना हुआ था? हमें स्मरण है कि एक पहले अवसर पर भी जब दुर्योधन ने यह प्रस्ताव किया था कि यदि धृतराष्ट्र किसी मीठे उपाय से पाण्डवो को हस्तिनापुर से बाहर वारणावत नगर भेज दें तो वह राज्य पर पूरा अधिकार कर ले, तब धृतराष्ट्र ने ऐसे ही कहा था—"दुर्योधन, बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में भी चक्कर काट रही है, पर इस पापी विचार को खुलकर कह नही सकता।" धृतराष्ट्र का प्रस्तुत वाक्य तो कही अधिक निष्ठुर है। द्रौपदी के दाव पर रखे जाने से कर्ण, दु शासन आदि की तो बाछें खिल गई। उस सभा मे और जो लोग थे, उनकी आखो से आसुओ की धारा बह निकली। उधर मदोद्धत शकुनि ने बिना विचारे "वह जीती!" की आवाज लगाई।

जब बात बढती हुई इस दु खद स्थिति तक पहुच गई, तब कौरव फूले न समाये। दुर्योधन ने डपटकर कहा—"हे विदुर, जाओ और पाडवो की प्रिय भार्या द्रौपदी को यहा ले आओ। वह जाकर शीघ्र घर का आगन बुहारे और दूसरी दासियो की तरह हमे सुख दे।"

यह सुनकर विदुर ने अपनेको कठिनता से सम्हालते हुए कहा—"हे मूर्ख, तू गड्ढे मे गिरता हुआ अपने आपको नही देखता। हिरण होकर व्याघ्रो को कुपित करना चाहता है। कृष्णा किसी प्रकार भी दासी नही बनी, क्योकि द्रौपदी को दाव पर रखते समय युधिष्ठिर स्वय स्वतन्त्र नही रह गए थे। आज मैं देखता हू कि नरक का घोर द्वार खुल गया है। शिलाए तैर रही है और नाव डूब रही है। राजा धृतराष्ट्र का मूढ पुत्र किसीकी बात नही सुनता, इससे कुरुवश का दारुण विनाश अवश्य होकर रहेगा।"

विदुर के वचन का दुर्योधन पर कोई प्रभाव नही पडा। उसने उलटे एक दूसरे सूत को आज्ञा दी—"तुम जाओ और शीघ्र द्रौपदी को यहा लाओ। विदुर की तरह तुम्हे पाडवो से भय नही है।" राजवचन सुनकर वह सूत गया

और सिंह की माद मे कुत्ते की तरह घुमकर पाडवो की राज-महिषी के पास पहुचा।

: १८ :

द्रौपदी-चीरहरण

परिचारक सूत ने अन्त पुर में जाकर द्रौपदी से कहा—"हे द्रौपदी, युधिष्ठिर मदमत्त होकर द्यूत मे तुम्हे हार चुके। दुर्योधन ने तुम्हे जीत लिया है। अब तुम धृतराष्ट्र के घर में काम करने के लिए मेरे साथ वहा चलो।" द्रौपदी ने कहा—"अरे सूत, यह क्या कहते हो ? कही कोई राजपुत्र अपनी स्त्री को भी जुए मे हारता है ? क्या मूढ राजा के पास और कुछ दाव लगाने के लिए नही रह गया था ?" सेवक ने उत्तर दिया—"हा, जब राजा के पास कुछ और नही रहा, तब उसने तुम्हें दाव पर रख दिया। हे राजपुत्री, तुम्हे दाव पर रखने से पूर्व वह राजा अपने भाइयो और अपने आपको भी दाव पर लगा चुका था।" द्रौपदी ने कहा—"हे सूतपुत्र, जाओ और इस द्यूतकारी राजा से सभा मे पूछो कि पहले उसने अपने आपको हारा या मुझे ? यह जान कर आओ, फिर मुझे ले चलो।"

सूतपुत्र ने सभा मे जाकर द्रौपदी का प्रश्न दोहराया। उसे सुनकर युधिष्ठिर को जैसे काठ मार गया। हा, नही—उनके मुह से कुछ न निकला। इस पर दुर्योधन ने कहा—"द्रौपदी यहा आकर अपना प्रश्न कहे। यही सब लोग उसका प्रश्न और युधिष्ठिर का उत्तर सुने।"

दुर्योधन के वशवर्ती उस सूत ने व्यथित होकर वह बात जाकर कही—"हे राजपुत्री, सभ्य तुम्हे वही बुलाते है। जान पडता है कि कौरवो का नाश आ गया है।"

सुनते ही द्रौपदी सन्नाटे मे आ गई। उसने अपने महान् चरित्र की सारी शक्ति बटोरकर कहा—"विधाता इसी प्रकार पडित और मूर्ख को दु ख-सुख दिया करता है। इस लोक मे धर्म ही महान है। उसीकी रक्षा करने से कल्याण होगा।"

दो कथान्तर

द्रौपदी के कौरवो की सभा मे लाये जाने की घटना महाभारत में दो प्रकार से दी गई हैं। एक तो जब दुर्योधन ने द्रौपदी को लिवा लाने के लिए अपना दूत महल मे भेजा, तब युधिष्ठिर को सभवत मन मे यह आशका हुई कि द्रौपदी को लाने के लिए कही बल-प्रयोग न किया जाय, अथवा द्रौपदी को ही यह सन्देह उत्पन्न हो कि उसके वहा आने के विषय में उसके पति की क्या सम्मति है। अतएव युधिष्ठिर ने अपना विश्वस्त दूत भी महलो मे भेजकर द्रौपदी को सदेश भेजा कि वह वहा आ जाय। फलत मलिनवसना द्रौपदी सभा में आकर अपने ससुर के सामने खडी हो गई। (सभा ६०।१४, १५)

ज्ञात होता है, यही उस घटना का सक्षिप्त और मूल रूप था। घटना का दूसरा बृहत्तर रूप इस प्रकार वर्णित हुआ है। दुर्योधन के दूत ने महल से लौट-कर सभा मे द्रौपदी का प्रश्न युधिष्ठिर से कह सुनाया, किन्तु युधिष्ठिर ने उसका कोई उत्तर न दिया। तब दूत ने स्वभावत सभा की ओर अभिमुख होकर वही प्रश्न दोहराया और आग्रह किया—"आप लोग बतावें, मैं जाकर क्या उत्तर दू ?"

इस पर दुर्योधन तमतमा गया। उसने तमककर दु शासन मे कहा—"ज्ञात होता है कि यह सूतपुत्र कायर है, मन में भीमसेन से डरता है। तुम स्वय जाकर द्रौपदी को पकड कर ले आओ। उसके ये पराधीन पति अब क्या कर सकते है ?"

यह सुनकर दु शासन उठा और द्रौपदी के भवन में जाकर बोला—"अयि पाचाली, तुम द्यूत में जीत ली गई हो। लज्जा त्यागकर दुर्योधन के दर्शन करो। उसनें धर्म से तुम्हे पाया है। सभा में आओ।"

दु शासन की यह निर्लज्ज वाणी सुनकर द्रौपदी अत्यत दुखी हुई। अपने विवर्ण मुख को हाथ में छिपाकर रोती हुई उस ओर दौडी, जहा महल में गान्धारी रहती थी। दु शासन ने क्रोध से झपटकर उसके बाल पकड लिये और वह उसे बलपूर्वक सभा में ले आया।"

द्रौपदी ने कापते हुए कहा—"हे अनार्य, मैं सभा में चलने योग्य नही हू। मैं आज मलिनवसना हू और केवल एक वस्त्र पहने हू।"

उद्धत दुःशासन ने उत्तर दिया—"तुम मलिनवसना हो, एक वस्त्र पहने हो, या वस्त्रविहीना भी हो, तो भी जुए में जीती हुई दासी हो चुकी हो, दासियों के साथ यथाकाम व्यवहार होता है।"

इस प्रकार दुःशासन से पराभव पाकर अमर्ष से जलती हुई द्रौपदी ने लज्जा और शोक से कहा—"अरे मन्दबुद्धि, इस सभा में शास्त्रों का उपदेश देनेवाले क्रियावान गुरुजन सदस्य बैठे हैं। उनके सामने मैं खडी होने योग्य नहीं हूं। तुम्हारा यह व्यवहार अनार्योचित और क्रूर है। हा, आज भारतों का सब धर्म नष्ट हो गया! क्षत्रियों का आचार लुप्त हो गया, जहां भरी सभा में कुरु-धर्म की मर्यादा इस प्रकार रौंदी जाती हुई सब चुपचाप देख रहे हैं! द्रोण और भीष्म में कुछ सत्त्व नहीं बचा, और क्या सचमुच महात्मा राजा धृतराष्ट्र तथा अन्य कुरुवृद्ध इस अधर्म को नहीं देख रहे?"

यों कहते हुए उसने अत्यन्त करुणा से अपने पतियों की ओर देखा। उनके शरीरों में क्रोधाग्नि धधक रही थी। कृष्णा की दृष्टि देखकर वे और दुखी हुए।

इसी अवसर पर दुःशासन ने रूखी हंसी हसकर चिढाते हुए उसे फिर 'दासी' कहा। कर्ण और शकुनि ने उसका अनुमोदन किया। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि को छोडकर जितने सदस्य वहां थे, सभी द्रौपदी को सभा में खींचकर लाई जाती हुई देखकर दुःख और शोक से गड गए।

भीष्म का अस्पष्ट उत्तर

इस अवसर पर भीष्म ने द्रौपदी के महाप्रश्न का मुह खुला हुआ देखकर कहा—"हे सौभाग्यवती, धर्म की गति सूक्ष्म है। मैं तेरे प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकता। एक ओर तो यह सिद्धांत है कि जो स्वयं अधन और अवश है, वह पराये धन को दाव पर नहीं रख सकता। दूसरी ओर यह बात है कि स्त्रियां अपने स्वामी के स्वत्त्व में होती हैं। इस बारीक बात में मेरी बुद्धि काम नहीं करती। युधिष्ठिर सारी पृथिवी को छोडकर भी सत्य को न छोडेंगे। वह कह चुके हैं कि मैं जीत लिया गया, इसलिए मैं तुम्हारे प्रश्न की विवेचना नहीं कर पाता। शकुनि ने युधिष्ठिर को द्यूत में जीता। जब स्वयं युधिष्ठिर ही उसमें छल-कपट नहीं देखते तब मैं तुम्हारे प्रश्न का क्या उत्तर दूं?"

इस प्रकार कानूनी बारीकी की आड लेकर भीष्म ने प्रश्न का उत्तर देने का साहस न किया। तब द्रौपदी ने सभा की ओर देखकर कहा—"और जो कौरव सभा में बैठे हैं, वे मेरे प्रश्न का उत्तर दे।"

भीम का क्रोध

विलाप करती हुई असहाय द्रौपदी से दु शासन ने फिर कुछ अप्रिय और कठोर वचन कहे। इस पर भीम से न रहा गया। उसने क्रोध से युधिष्ठिर की ओर देखते हुए कहा—"हे युधिष्ठिर, कितव लोगो की भी वन्धकी स्त्रिया होती है, उन पर भी दया की जाती है। कोई उन्हे दाव पर नही रख देता। अनेक राजा जो धन-रत्न उपहार मे लाये थे, उन्हे, राज्य और अपने आपको भी तुम दाव पर रख हार गए। इसका मुझे क्रोध नही, क्योंकि तुम सबके मालिक थे, लेकिन द्रौपदी को तुमने दाव पर रखा, यह सचमुच बडी ज्यादती है। हे सहदेव, जल्दी अग्नि ले आओ, मैं इस राजा की दोनो भुजाओ को, जिससे इसने द्रौपदी को दाव पर रखा है, जला डालू।"

इस पर अर्जुन ने कहा—"हे भीम, पहले कभी ऐसे वचन तुम्हारे मुह से नही सुने। क्या तुम्हारी धर्म में पूजा-बुद्धि जाती रही ? बडे भाई का इस प्रकार उल्लघन ठीक नही।"

भीमसेन ने उत्तर दिया—"हे अर्जुन, क्या कहते हो ? मै इसे अपना पुरुषार्थ समझूगा, यदि मैं आज धधकती आग में इसकी दोनो भुजाए जला डालू।"

विकर्ण का साहस

इस स्थिति मे धृतराष्ट्र के पुत्र विकर्ण ने कहा—"हे राजा लोग, द्रौपदी न जो प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर देना चाहिए। इस 'तू-तू मै-मैं' से क्या लाभ ? भीष्म और धृतराष्ट्र दोनो कुरुओ मे वृद्ध है। वे क्यो कुछ नही कहते ? विदुर भी महामति है। द्रोण और कृप दोनो ही ब्राह्मण और आचार्य होकर इस प्रश्न का उत्तर क्यो नही देते ? और भी जो राजा एकत्र है, वे काम-क्रोध को छोडकर बतावें कि कौन-सा पक्ष ठीक है।"

विकर्ण के इस प्रकार कहने पर भी सभासदो में से कोई टस-से-मस न

हुआ। इस पर क्रोध से मुट्ठी भींचते हुए विकर्ण ने स्वयं ही कहा—"आप लोग प्रश्न का उत्तर दें या न दें, मैं जो न्याय्य समझता हूं उसे कहूंगा—राजाओं के चार व्यसन हैं—शिकार, शराब, जूआ और व्यभिचार। जो इनमें आसक्त है, वह धर्म को छोड़कर ही फिर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति जो कार्य करे, उसका प्रमाण नहीं माना जा सकता। (सभा० ६१।२१)

"इस युधिष्ठिर ने जुए के व्यसन में डूबकर द्रौपदी को दांव पर लगाया, अतएव यह मान्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि जब यह स्वयं अपनेको हार चुका था तब इसे द्रौपदी को दांव पर रखने का अधिकार कहां रह गया? इस प्रकार विचार करके मेरा दृढ़ मत है कि द्रौपदी विजित नहीं हुई।"

चीरहरण

इतना सुनना था कि सभा के सदस्यों में हर्ष की लहर दौड़ गई। सब लोग विकर्ण की प्रशंसा और शकुनि की निन्दा करने लगे। किन्तु कर्ण क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने विकर्ण का हाथ पकड़कर कहा—"अरे, तू बड़ा खोटा है। जहांसे जन्म लिया उसीका नाश करता है। द्रौपदी के बार-बार पूछने पर भी उनके पति तो कुछ नहीं कहते। मैं समझता हूं, उनकी राय में भी द्रौपदी धर्म से जीती गई। यह तेरा लड़कपन है, जो सभा के बीच में बूढ़ों की-सी बातें करता है। तू धर्म को ठीक नहीं जानता। द्रौपदी कैसे अविजित रही, जब युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व दांव पर रख दिया था? द्रौपदी भी सर्वस्व के अन्तर्गत है। जब नाम लेकर द्रौपदी को दांव पर रखा तब बता वह अविजित कैसे रही? और यदि उसका सभा में लाया जाना अधर्म हो तो सुन। स्त्रियों का एक पति होता है, यह तो अनेक की है। इसके सभा में ले आने से क्या हो गया? ओ दुःशासन, यह विकर्ण बड़े बोल बोल रहा है। तुम उठो, पाण्डवों के और द्रौपदी के भी वस्त्रों को उतार लो।"

यह सुनकर पांचों भाइयों ने अपनी पगड़ी और उत्तरीय स्वयं उतारकर रख दिये। तब दुःशासन सभा के बीच में बलपूर्वक द्रौपदी का वस्त्र खींचने लगा। चारों ओर से अनाथ हुई द्रौपदी ने मन में भगवान् का स्मरण किया—

मे उपस्थित इन गुरुजनो को प्रणाम करती हू । जो मैंने नही किया, उसका मुझे अपराध न लगे ।" यह कहते हुए वह विलाप करने लगी और फिर बोली—"इससे अधिक दु ख की और क्या बात होगी कि मैं स्त्री होकर आज सभा के बीच मे लाई गई ? धर्म की सनातनी मर्यादाए कौरवो ने आज तोड डाली । यह समय का विपर्यय है कि जिसे पहले स्वयवर में राजाओ ने देखा था, आज उसे वे ही लोग सभा में देख रहे है । अब मैं अधिक यह दु ख न सह सकूगी । मैं दासी हू या अदासी, जीती गई हू या अजित रही, जैसा आप समझते है, उत्तर दे, वैसा मैं करू ।"

द्रौपदी के वचन सुनकर भीष्म का मुह खुला—"हे कल्याणी, मै कह चुका हू, धर्म की चाल महीन है । महात्मा विप्र भी उस पर नही चल सकते । मैं तेरे प्रश्न का निश्चित उत्तर नही दे सकता, क्योकि मामला बडा सूक्ष्म, गहन और गौरव से भरा हुआ है । इस कौरव-कुल का नाश तो निश्चित है । हे पाचाली, इतनी कठिनाई मे पडी हुई भी तुम धर्म की ही बुद्धि रखती हो, यह तुम्हारे अनुरूप है । द्रोण आदिक ये और भी धर्म के जाननेवाले बूढे ऐसे बैठे हैं जैसे इनके शरीर में प्राण ही नही । मेरी तो सम्मति है कि युधिष्ठिर ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे कि तुम अजित हो या जीती गई हो ।"

द्रौपदी की मुक्ति

यह देखकर दुर्योधन ने भी भीष्म की बात का समर्थन किया । इससे सभासद कुछ प्रसन्न हुए और युधिष्ठिर के मुख की ओर देखने लगे कि वह क्या कहेंगे । इसके बाद भीम और कर्ण की फिर कुछ गरमागरमी हुई । विदुर ने बीच-बचाव किया । तब दुर्योधन ने कहा—"यदि भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव का यह कहना है कि द्रौपदी को दाव पर रखते समय युधिष्ठिर स्वतत्र नही रह गए थे, तो हे द्रौपदी, तुम दास्यभाव से मुक्त हुई ।"

इस पर अर्जुन ने कहा—"जब युधिष्ठिर ने हम चारो को दाव पर रखा था, तबतक वे स्वतत्र थे, किन्तु जब वह अपने को हार चुके तब वे स्वतन्त्र कैसे रहे, इसे आप लोग समझ ले ।"

धृतराष्ट्र का वरदान

इसी समय कौरव-राजकुल में बडे-बडे अपशकुन होने लगे । गान्धारी

घबराई हुई सभा में आई और उसने एव विदुर न धृतराष्ट्र को झकझोरा। तब धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को डपटा—"हे मन्द बुद्धि, तेरा नाश हो, जो तू इस प्रकार सभा मे स्त्री और विशेषत द्रौपदी के साथ व्यवहार करता है।" फिर द्रौपदी से कहा—"हे पाचाली, तू मेरी सब बहुओ में श्रेष्ठ है, जो चाहे वर माग।"

द्रौपदी ने कहा—"मैं मागती हू कि मेरे धर्मानुगामी पति युधिष्ठिर दासभाव से मुक्त हो।' कही मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्य को खेलनेवाले साथी दास-पुत्र कहकर न पुकारे। वह पहले की ही तरह राजपुत्र रहे।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"हे भद्रे, दूसरा वर और माग।"

द्रौपदी ने कहा—"भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव ये भी स्वतत्र हो, यह दूसरा वर मागती हू।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"दो वरदानो से तेरा पर्याप्त आदर नही हुआ, तीसरा वर और माग।"

द्रौपदी ने उत्तर दिया—"लोभ से धर्म का नाश होता है। मैं अब तीसरा वर मागने के अयोग्य हू। मेरे ये पति गड्ढे में गिरकर उसके पार हो गए है, यदि इनका कर्म पवित्र होगा, तो इन्हे पुन कल्याणो की प्राप्ति होगी।"

द्रौपदी के ऐसे नैतिक और तेजस्वी वचन सुनकर कर्ण भी, जो पहले उसके सम्बन्ध मे निष्ठुर बात कह चुका था, चकित हो गया और बोला—"मनुष्यो में जो स्त्रिया आजतक सुनी गई है, किसीका ऐसा उदात्त कर्म नही सुना। जब पाडव और धृतराष्ट्र के पुत्र दोनो क्रोध से भर गए तब भी द्रौपदी शान्तमूर्ति बनी रही। अगाध जल मे डूबते हुए पाण्डुपुत्रो के लिए तुम पारगामी नाव बन गई।"

भीम ने कर्ण की इस बात को भी ताना समझा और क्रोध से उबल पडा। तब युधिष्ठिर ने उन्हे रोककर पिता धृतराष्ट्र के सामने हाथ जोडकर कहा—"हे तात, आप हम सबके नाथ है। सदा हम आपकी आज्ञा में रहना चाहते है। कहिए, हम क्या करे?"

धृतराष्ट्र ने कहा—"हे अजातशत्रु, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपने राज्य का अनुशासन करो। मुझ बूढे का यही कहना है कि तुम शान्ति का अवलम्बन रखना। जहा बुद्धि है वही शान्ति का आश्रय लिया जाता है

हे तात, दुर्योधन की इस निष्ठुरता को हृदय में मत लाना। माता गान्धारी और मेरे वुढापे की ओर देखना। मैंने इस द्यूत को तमाशे की तरह उपेक्षा भाव से लिया था, जिससे यहा एकत्र अनेक मित्रो को देख पाऊ और पुत्रो के बलावल को भी जान लू। अव तुम खाण्डवप्रस्थ जाओ।" यह सुनकर युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ लौट गए।

पुन द्यूत-क्रीडा

यह समाचार जानकर तुरन्त दु शासन दुर्योधन के पास दौडा गया और खीझकर वोला—"वडे कष्ट से यह सव हुआ था, पर वुड्ढे ने सव चौपट कर डाला (स्थविरो नाशयत्यसौ)। सारा जीता हुआ धन फिर शत्रुओ को दे दिया।"

सुनते ही दुर्योधन, कर्ण और शकुनि धृतराष्ट्र के पास दौडे गए और दुर्योधन ने मृदुवाणी से कहा—"सव उपायो से शत्रु को मारना चाहिए, बृहस्पति की यह नीति क्या आपने नही सुनी ? पाण्डव काले नाग थे, उन्हें कण्ठ में लटकाना कहातक उचित है ? अव वे हमें नि शेष किये विना न मानेगे। द्रौपदी का क्लेश वे कहा भूल सकते हैं ? इसलिए पाण्डवो के साथ हम फिर द्यूत खेलकर उन्हे वश मे करे। जो हारेगा वह वारह वर्ष वन में रहेगा और तेहरवें वर्ष अज्ञातवास करेगा। हम राज्य में जमे हैं, सेना भी वहुत है, तेरह वर्ष का व्रत पार करके यदि वे लौट आये तो युद्ध में उन्हें जीत लेगे। आप आज्ञा दे दें।"

यह प्रस्ताव सुनकर निर्वुद्धि धृतराष्ट्र ने कुटिल भाव से चट कहा—"हा, हा, अभी वे रास्ते में होगे। जल्दी उन्हे लौटा लाओ। पाण्डव यहा आकर फिर द्यूत खेले।"

द्रोण, विदुर, अश्वत्थामा, भीष्म और विकर्ण न बहुत समझाया। गाधारी भी शोक से डूब गई और कहने लगी–"इन अशिष्ट पुत्रो की बात तुम मत मानो। कुल के घोर नाश का कारण मत वनो।" किन्तु धर्म-दर्शिनी गाधारी की वात भी धृतराष्ट्र ने अनसुनी कर दी और कहा—"जैसा तुम चाहते हो, करो। पाण्डव लौट आवें और द्यूत खेले।"

तुरन्त दूत दौडाया गया। मार्ग में से ही युधिष्ठिर धृतराष्ट्र का वचन

सुनकर फिर लौट आये। अबतक की दारुण विपत्ति पर उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। फिर वही अपनी टेक की दुहाई देने लगे। उनके आते ही शकुनि ने जुए की नई शर्त सुनाई। पासा फेंका गया और चट शकुनि ने कहा—"मैंने जीत लिया। अब तुम लोग वनवास करो।"

पाण्डव सब प्रकार से हीन होकर वन की ओर चल दिये, द्रौपदी भी उनके साथ चली। केवल, कुंती को विदुर ने अपने यहां रख लिया। पाण्डवों के पुरोहित धौम्य भी उनके साथ हो लिये।

(सभा पर्व समाप्त)

: १९ :

विदुर पर धृतराष्ट्र का कोप

महाभारत के तीसरे पर्व—आरण्यक पर्व या वन पर्व में पाण्डवों के वनवास की कथा है। यद्यपि इस बृहत् पर्व में लगभग ३०० अध्याय और १२,००० श्लोक हैं, किन्तु कथा-प्रवाह की दृष्टि से इसकी सामग्री परिमित है। इस कमी की पूर्ति इस पर्व के अनेक उपाख्यान, चरित, नीति और धर्म के प्रसंगों एवं तीर्थयात्रा-सम्बन्धी वर्णनों से भली-भांति हो जाती है। ऐसे स्थल इस पर्व में कटहल में कोयों की भांति भरे हुए हैं, मानो बारह वर्ष के लम्बे वनवास-काल को सतुलित करने या समय काटने के लिए वे प्रसंग यहां आवश्यक समझकर रखे गए हों।

वनवास में पांडवों का दुःख हल्का करने के लिए यहां नलोपाख्यान की सुन्दर कथा है, जो उत्कृष्ट साहित्यिक रस से युक्त है और अब तो संसार की विविध भाषाओं में अनुवाद के रूप में विश्व-साहित्य का अंग बन चुकी है। ऋष्यशृंग उपाख्यान, रामायण का रामोपाख्यान और भारत के साहित्यिक जगत की अमर कृति सावित्री-सत्यवान उपाख्यान भी इसी पर्व में है। इस पर्व के अन्य विषय ये हैं —

पाण्डव-प्रव्राजन, पौराभिगमन, शौनक-वाक्य, आदित्य के १०८ नामों का स्तोत्र, विदुर-निवासन, धृतराष्ट्र-संताप, सुरभि-इन्द्र-संवाद, मैत्रेय-धृतराष्ट्र-भेंट, किर्मीर-वध, कृष्ण-पाण्डव-समागम, शाल्व-वध-कथा, द्वैतवन-

प्रवेश, द्रौपदी-वाक्य, शस्त्र-प्राप्ति, इद्रकीलाभिगमन, किरात-युद्ध, नलोपाख्यान, कार्तवीर्य-वव-उपाख्यान, पुलस्त्य-तीर्थयात्रा, लोमशागमन, लोमश तीर्थयात्रा-प्रस्थान, ऋष्यशृग-उपाख्यान, च्यवन-सुकन्या-उपाख्यान, माधाता-उपाख्यान, श्येनकपोतीय, अष्टावक्रीय उपाख्यान, यावक्रीत-उपाख्यान, गन्धमादन-प्रवेश, हनुमद्‌भीम-समागम, पुष्पाभिहरण, जटासुर-वध, मणिमद्-वध, अर्जुनाभिगमन, निवातकवचवध, आजगर-पर्व, मार्कण्डेय-समास्या ब्राह्मण-माहात्म्य, धुन्धुमारोपाख्यान, सरस्वती-तार्क्ष्य-सवाद, मत्स्योपाख्यान, मण्डूकोपाख्यान, द्रौपदी-प्रमाथ, रामोपाख्यान, सावित्री-उपाख्यान, कुण्डलाहरण, आरणेय और यक्षप्रश्न। इन उपाख्यानो के हृदयग्राही अशो को अव हम क्रमश देखेंगे।

हस्तिनापुर के नगर-द्वार से वाहर निकलकर पाण्डव द्रौपदी के साथ उत्तर की ओर चले। जैसे ही यह समाचार नगर में फैला, शोकसतप्त पुरवासी कौरव, भीष्म, द्रोण, विदुरादिक को वुरा-भला कहने लगे और वाहर निकलकर युधिष्ठिर से वोले—"जहा आप जायगे वही हम भी चलेगे, हमारा यहा रहना व्यर्थ है।"

तृष्णा का रोग

युधिष्ठिर ने उनके स्नेह से व्यथित हो उन्हें समझा-वुझाकर वापस भेजा और स्वय रथ पर वैठकर गगा के किनारे हो लिये। फिर भी कुछ व्राह्मण उनके साथ रह गए। युधिष्ठिर ने कहा—"स्वय अपने लिए भोजन का प्रवन्ध करते हुए और मेरे लिए क्लेश पाते हुए आपको मैं कैसे देख सकूगा?"

इसपर विद्वान शौनक उन्हे समझाने लगे—"आपके सदृश जन शरीर और मन के कष्टो से दु खित नही होते। जनक का अनुभव-वाक्य है कि सव ससार मन और दु खो के कष्ट से पीडित है। शारीरिक व्याधि का उपाय चिकित्सा से और मानस दु खो की शाति ज्ञान से होती है। मन के दु खो का मूल स्नेह है। कोटर में रखी हुई अग्नि जैसे समूल वृक्ष को जला देती है, वैसे ही थोडा-सा राग भी धर्मार्थी को नष्ट कर डालता है। जो ज्ञानी हैं वे राग से अभिभूत नही होते। राग के कारण तृष्णा वढती है और वह वढती हुई मनुष्य को सदा चिंताओ मे डाल देती है। तृष्णा प्राणान्तक रोग है। तृष्णा का आदि-अन्त नही। निर्वुद्धि मनुष्य अपने भीतर उत्पन्न हुए लोभ से नाश को प्राप्त

हो जाता है। हे युधिष्ठिर, संतोष ही परम सुख है, और सब अस्थिर है, इसलिए तुम तृष्णा को वश में रखना।"

सूर्य का वरदान

इस उपदेश में युधिष्ठिर का मन इस समय क्या लगता! उन्हें तो यही चिन्ता सता रही थी कि साथ में चलते हुए इन ब्राह्मणों के भोजन आदि का प्रबन्ध कैसे हो। युधिष्ठिर ने अपने पुरोहित धौम्य से पूछा—"महाराज, मैं ऐसी स्थिति में क्या करूं?"

धौम्य ने सूर्य के १०८ नाम बताते हुए उसकी आराधना करने का परामर्श दिया। युधिष्ठिर ने तप द्वारा सूर्य को प्रसन्न किया और सूर्य ने प्रसन्न होकर वरदान दिया—"तुम्हारे चौके में अक्षय अन्न रहेगा।" युधिष्ठिर ने नियम लिया कि ब्राह्मणों को और अपने भाइयों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करेंगे। इसी प्रकार द्रौपदी ने नियम किया कि युधिष्ठिर को भोजन कराने के बाद वह स्वयं भोजन करेगी।

सूर्य के वरदान में द्रौपदी को एक तांबे की अक्षय बटलोई मिलने का उल्लेख नीलकंठ के संस्करण में पाया जाता है, किन्तु पूना के संस्करण में वह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है।

विदुर पर क्रोध

उधर पाण्डवों के चले जाने पर धृतराष्ट्र का मन कुछ सोचकर बेचैन हो गया। उन्होंने विदुर से कहा—"हे विदुर, कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवों के प्रति हमारे व्यवहार से क्रुद्ध पुरवासी हमें जड़ से उखाड़ दें। इसलिए बताओ हम क्या करें।"

इस प्रश्न में धृतराष्ट्र के मन में छिपा हुआ खुटका साफ दिखाई पड़ता है। प्रश्न सुनकर विदुर भी पहले तो ठिठके, पर फिर कहने लगे—"हे राजन्, धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का मूल धर्म है, राज्य का मूल भी धर्म है। वह धर्म तो सभा में अक्षद्यूत के समय लुप्त हो गया। तुम्हारी उस करतूत का अब एक ही उपाय मेरी समझ में आता है, जिससे तुम्हारे उस पापी पुत्र को लोग पुनः साधु समझने लगें। तुमने पाण्डवों को जो राज्य और भूमि पहले दी थी वह उन्हें फिर प्राप्त हो, यही तुम्हें करना चाहिए। मैंने पहले ही तुमसे

दुर्योधन का त्याग करने के लिए कहा था, किन्तु तुमने माना नही। अव इम हित-वचन को न मानोगे तो पीछे पछताओगे। तुम युधिष्ठिर को पुन उनका राज्य दे दो। तुमने पूछा, इमलिए मैंने यह कहा है।"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"हे विदुर, तुम्हारा यह कहना मेरे चित्त में नही गडता। इससे पाडवो का हित होगा और मेरे पुत्रो का अहित। मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम अब हमारे हितू नही रहे। मैं पाडवो के लिए अपने पुत्रो को कैसे छोड दू? हे विदुर, मैं तो तुम्हारा इतना आदर करता हू, पर तुम टेढी बात ही करते हो। तुम्हारा जहा मन हो चले जाओ या यहा रहो। असती स्त्री को जितना भी मनाओ वह अन्त मे छोड ही जाती है। यही तुम्हारी दशा है।" इतना कहकर धृतराष्ट्र क्रोध से कापते हुए एकाएक उठे और अन्त पुर में चले गए। इधर विदुर भी "बात ऐमी नही है" कहते हुए पाडवो के पास चल दिये।

उधर पाडव बनवास के विचार से गगा के किनारे बढते हुए कुरुक्षेत्र की ओर अभिमुख होकर यमुना और दृपद्वती पार करते हुए सरस्वती के पाम जा निकले। यह इलाका जगलो से भरा हुआ था, इसे ही कुरु-जागल कहते थे। सरस्वती का किनारा दक्षिण की ओर जहा रेगिस्तान को छूता है, वही काम्यक वन था, जो अब कामा कहलाता है। विदुर उसी काम्यक वन में पाडवो के पास जा पहुचे। उन्हे देखकर पहले तो युधिष्ठिर डरे—"कही फिर यह कोई अक्ष-द्यूत जैसी उपाधि का सदेश लेकर तो नही आया? कही क्षुद्र शकुनि ने कपट से हमारे हथियार हर लेने का ब्योंत तो नही बाधा? भीमसेन, यदि ऐसा हुआ तो क्या होगा? द्यूत की चुनौती पाकर मैं फिर उससे मुह न मोड सकूगा। कही यदि गाडीव चला गया तो सदा के लिए राज्यप्राप्ति से हाथ धोना पडेगा।"

कुछ देर वाद आश्वस्त होकर बैठने पर उन्होने विदुर से आने का कारण पूछा। विदुर ने बताया —"तुम्हारे चले आने पर धृतराष्ट्र ने मुझसे अपने लिए हितकर बात पूछी। मैंने कहा—'पाडवो का हित करने से ही तुम्हारा हित होगा।' किन्तु रोगी को पथ्य अन्न की तरह मेरा यह कहना उसे अच्छा न लगा। कौरवो का नाश निश्चित है। क्रोध से बौखला-कर धृतराष्ट्र ने मुझसे कह दिया—'जहा मन की साध हो वहा चले

जाओ। मुझे अब तुम्हारी सहायता नही चाहिए।' यो धृतराष्ट्र से छुटकारा हुआ तो मै तुरन्त तुम्हारे पास आया हू। मैने जो सभा में कहा था वही फिर कहता हू। शत्रुओ से सताये जाकर जो क्षमावृत्ति से समय की प्रतीक्षा करता है वही पृथिवी का राज्य भोगता है।"

युधिष्ठिर ने कहा—"हे विदुर, जैसा कहते हो मै वैसा ही करूगा।"

: २० :

मैत्रेय ऋषि का शाप

इधर विदुर के चले जाने के बाद धृतराष्ट्र उन्हे याद करके छटपटाने लगे। दौडकर सभा के द्वारतक आये और विदुर को न पाकर लडखडा कर गिर गए। उठाये जाने पर सजय से बोले—"हाय, मेरा भाई सुहृत, साक्षात धर्म, वह विदुर कहा गया? सजय, जाओ और उसका पता लगाओ। कही मुझसे अपमानित होकर वह अपना प्राण न त्याग दे। उसे मनाकर शीघ्र यहा ले आओ।

"अच्छा", कहकर सजय भागे हुए काम्यक वन पहुचे और वहा उन्होने विदुर को पाडवो के साथ बैठे हुए देखा। पूछे जाने पर सजय ने कहा—"विदुर, धृतराष्ट्र तुम्हारे लिए व्याकुल है। उन्हे चलकर देखो और होश मे लाओ।"

यह सुनकर विदुर युधिष्ठिर की अनुमति से पुन हस्तिनापुर लौट आये। मिलने पर धृतराष्ट्र आनन्द-विभोर होकर लिपट गए और बोले—"हे विदुर, तुम सचमुच आ गए! मैने रोष से जो कहा उसे क्षमा करो।"

इस प्रकार के पिलपिले व्यक्ति से विदुर क्या कहते! बोले—"हे राजन्, मैने क्षमा किया। आप हमसे बडे है। इसीसे मै आपके दर्शन के लिए जल्दी लौट आया। धर्मचेता पुरुष दीनो की ओर झुकते है। पाडु के पुत्र और तुम्हारे पुत्र दोनो मुझे एक-समान है। किन्तु पाडव दीन है, अतएव मेरा मन उनकी ओर झुकता है।"

कर्ण की सलाह

विदुर को लौटा हुआ जानकर और धृतराष्ट्र के साथ फिर मेल की बात सुनकर दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण और दु शासन से कहा—"धृतराष्ट्र का यह खोटा मत्री फिर आगया है। राजा की वुद्धि उसके कारण कही फिर न चकरा जाय और वह पाडवो को वुला भेजें। तवतक कोई हितकारी युक्ति निकालो। पाडव फिर लौटे नही कि मैं सूखकर काटा हो जाऊगा या जान खो दूगा।"

शकुनि ने कहा—"क्यो बच्चो की-सी वाते करते हो ? पाण्डव सत्य-वादी हैं, शर्तों का पालन करेंगे। तुम्हारे पिता के बुलाने पर भी वे न आयगे, और यदि आ भी गए तो मेरा पासा तो कही चला नही गया।"

दु शासन ने मामा शकुनि के वचन का समर्थन किया। कर्ण ने कहा—"मेरा भी इसमें एकमत है।" पर दुर्योधन का मन इन सूखी बातो से खिला नही। उसने मुह फेर लिया। कर्ण ने उसकी नब्ज पहचान ली और क्रोध से प्रचण्ड होकर कहा—"हम लोग राजा दुर्योधन के हाथ-बाधे गुलाम हैं। जब तक हाथ-पैर न हिलायगे, उनको प्रसन्नता न होगी। मेरा मत है हम सब हथियार लेकर चले और वन में पाडवो को ठिकाने लगा दें। उनके ठडे हो जाने पर सब झगडा निपट जायगा।"

कर्ण की यह बात सुनते ही उनके मुख से 'वाह-वाह' निकल पडी और तीनो गुट बनाकर पाडवो का नाश करने के लिए निकले।

वेदव्यास का आगमन

इधर व्यासजी को उनके इस षड्यन्त्र का पता लगा। उन्होने धृतराष्ट्र से आकर कहा—"हे राजन्, मैं जो सबके हित की बात कहता हू उसे सुनो। पाडवो का वन में जाना अच्छा नही हुआ। छल से उन्हें जीता गया। तेरह वर्ष पूरे होने पर उनके क्रोध की फुफकारे कौरवो पर छूटेंगी। तुम्हारा यह पापी पुत्र उन्हे मरवाना चाहता है। इसे बरज लो, अथवा इसे अकेले वन में निकाल दो, वहा भटकेगा, तो सम्भव है, इसके मन में पाडवो के लिए प्रेम का अकुर फूट निकले।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"भगवन्, मुझे भी वह जुए का काड अच्छा नही

लगा। मैं समझता हू कि ब्रह्मा ने हठात् वह सब करा लिया। भीष्म, द्रोण, विदुर, गाधारी, कोई भी उसे अच्छा नही समझता था। यह सब जानकर भी पुत्र-स्नेह से मैं दुर्योधन को नही छोड सकता।"

व्यास ने गम्भीर होकर कहा—"हे विचित्रवीर्य के पुत्र, तुम सत्य ही कहते हो। पुत्र बडी चीज है, उससे बढकर कुछ नही। इस विषय मे मुझे एक पुरानी बात याद आती है। एक समय स्वर्ग की सुरभि गौ के नेत्रो से आसुओ की धारा बहने लगी। इन्द्र ने उससे कारण पूछा तब उसने कहा—'हे देवेन्द्र, आपकी कोई त्रुटि नही है। पृथिवी पर फैले हुए अपने पुत्रो के शोक से मैं रो रही हू। इस निष्ठुर किसान को देखो—मेरे दुर्बल पुत्र को, जो हलके-भारी बोझ से पिसा जाता है, किस प्रकार नुकीली आर चुभा-चुभाकर मार रहा है। एक तो थके हुए, दूसरे इस प्रकार मार खाते इसे देखकर मेरा मन घबडा गया है। हे इन्द्र, देखो बोझे से लदे हुए उस छकडे को मेरे दो पुत्र खीच रहे है। एक बली है, कितने भारी बोझ को ढो रहा है। दूसरा निर्बल ठठरीमात्र है, वह बोझ के भार से घिसट रहा है, उसे चाबुक की मार और आर की कोच सहते हुए देखकर मेरा हृदय टुकडे-टुकडे हुआ जाता है। उसीके दुख से दुखी मैं करुणा से आसू बहा रही हू।' इन्द्र ने कहा—'हे गौ, तेरे हजारो पुत्रो को इसी प्रकार पीडा सहनी पडती है। इस एक पुत्र के लिए तू इतना दुख क्यो करती है?' गौ ने कहा—'यदि मेरे सहस्र पुत्र भी हो तो मेरे लिए सब बराबर है, किन्तु जो दीन है, मेरे हृदय में उसीकी अधिक चोट है।' गौ की बात सुनकर इन्द्र का हृदय पिघल गया और उसने समझ लिया कि पुत्र प्राण से अधिक प्रिय होता है। इन्द्र ने चट मूसला-धार मेघ बरसाया और किसान की मार से बैल को छुटकारा मिला। इसलिए हे धृतराष्ट्र, मैं कहता हू कि अपने सब पुत्रो पर समान भाव रखो। उनमे जो दीन है, उनपर अधिक कृपा करो। यदि चाहते हो कि सब कौरव-पाडव फूले-फले तो दुर्योधन से कहो कि पाडवो से मेल कर ले।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"हे महाप्राज्ञ, आप जैसा कहते है, उसे मैं भी ठीक समझता हू। विदुर, भीष्म, द्रोण ने भी ऐसा ही कहा था। यदि आपकी मुझ-पर कृपा है तो आप ही दुर्योधन को क्यो न समझा दें?"

व्यास ने मन मे सोचा होगा कि यह अच्छी बला गले पडी। उस दुष्ट को

मुह कौन लगे ! पर ऊपर से बोले—"हे राजन्, देखो, यह मैत्रेय ऋषि पाडवो से मिलकर हम लोगो से मिलने आ रहे है। यह दुर्योधन को समझा सकेगे। जो यह कहे, वही करना। यदि वैसा न हुआ तो यह तुम्हारे पुत्र को शाप भी दे सकते हैं।"

मैत्रेय का शाप

व्यास यह कहकर चले गए और मैत्रेय आ गए। धृतराष्ट्र ने उनसे बात चलाकर पाडवो की कुशल पूछी। मैत्रेय ने कहा—"मैं तीर्थ-यात्रा के प्रसग मे कुरु-जागल गया था, वहा काम्यक वन मे युधिष्ठिर से मिला। वहा मुझे जुए के अनर्थ की बात ज्ञात हुई। तुम्हारे और भीष्म के रहते हुए पुत्रो का यह विरोध उचित नही। सभा में जो कुछ हुआ वह दस्युओ का आचरण था, उससे तुम्हारी शोभा नही बढी। निग्रह और दड की थूनी तुम्ही हो, क्यो घोर अनर्थ की उपेक्षा करते हो ?"

तब मैत्रेय ऋषि कोमल वाणी से दुर्योधन को भी समझाने लगे—"हे महाबाहु, तुम्हारे हित के लिए जो कहता हू, सुनो। पाडवो से द्रोह मत करो। वे बडे शूर और विकराल युद्ध करनेवाले है। कृष्ण उनके सम्बन्धी हैं। युद्ध में कौन उनके सामने ठहर सकता है ? मेरा कहा मानो, मौत के मुह मे मत कूदो।

मैत्रेय के इस प्रकार समझाने से दुर्योधन पर क्या असर होता! वह अपनी जाघ ठोककर मुसकराने लगा। इसपर मैत्रेय आग-बबूला हो गए और उन्होने अजलि में जल उठाकर दुर्योधन को शाप दे डाला—"तुम इस अभिमान का फल जल्दी ही भोगोगे, युद्ध में बली भीम गदा से तुम्हारी इस जघा को तोड डालेगा।" फिर कुछ झेपकर धृतराष्ट्र की ओर देखकर बोले—"यदि तुम्हारा पुत्र मेल कर लेगा तो मेरा शाप सच्चा न होगा।"

किर्मीर-वध

मैत्रेय ने भीम के बल का बखान करते हुए उसे हिडिम्ब, बक और किर्मीर का मारनेवाला बताया। इसपर धृतराष्ट्र ने किर्मीर के विषय में जानना चाहा। मैत्रेय रूखे भाव से यह कहकर चल दिये कि तुम लोग हमसे प्रीति नही करते। तब धृतराष्ट्र ने विदुर से वह कथा पूछी।

किर्मीर कोई जगली जाति का प्राणी था। उसे राक्षस कहा गया है। वह

वक का भाई और हिडिम्ब का मित्र था। उसकी वस्ती काम्यक वन में वच गई थी। उसके पास धनुष-वाण आदि लड़ने के साधन न थे। अतएव जलती हुई लकड़ी या डडे से ही उसने युद्ध किया। घोर बाहु-युद्ध में भीम ने उसे रगडकर मार डाला। उसके वाद पाडव द्वैत वन में चले गए। द्वैत वन काम्यक वन का ही एक भाग था। कामा-डीग के इलाके मे यह पुराना वन होना चाहिए।

पाडवो की इस विपत्ति का समाचार उनके मित्र वाधवो में फैल गया। वृष्णियो के साथ कृष्ण भी क्रोध मे उत्तप्त हो वहा पहुचे। उन्होंने अपनी घोर वाणी को गुजाते हुए कहा—"दु शासन, कर्ण, शकुनि और दुर्योधन के रक्त की प्यासी यह भूमि अव अवश्य तृप्त होकर रहेगी। तव हम धर्मराज का अभिषेक करेंगे। जो कपट और दुष्टता का व्यवहार करे, वह वध्य है। यही सनातन नियम है।"

श्रीकृष्ण के पराक्रमो की सूची

अर्जुन ने कृष्ण को इस प्रकार विचलित देखकर उन्हे शान्त करना चाहा और वह उनके पराक्रमो का वखान करने लगा।

कृष्ण के पराक्रमो की सूची यहा (१३।१०–३६) और दो वार उद्योग पर्व में आई है। वहा एक वार तो विदुर ने ही दुर्योधन से (उद्योग १२८।४१-५०) और दूसरी वार सजय ने अर्जुन के शब्दो को उद्धृत करते हुए उनका उल्लेख किया है (उद्योग ४७।६८–८०)। अर्जुन के कहे हुए दोनो वर्णन पचरात्र भागवतो के प्रभाव के अन्तर्गत निर्मित हुए। इनमें नर-नारायण का एकसाथ उल्लेख है और स्पष्ट रूप से कृष्ण को विष्णु का अवतार और विराट पुरुष कहा गया है।

इन तीनो सूचियो को मिलाकर देखने से कृष्ण के जीवन की लीलाए कुछ इस प्रकार सामने आती है —वचपन में उन्होंने पूतना का वध किया, गौओ की रक्षा के लिए गोवर्द्धन धारण किया और अरिष्ट, धेनुक, अश्वराज केशी, महावल चाणूर और कंस का वध किया। वडे होने पर उन्होंने जरासंध, दतवक्र, शिशुपाल, वाणासुर-जैसे वली राजाओ को मारा। इसी प्रकार प्राग्ज्योतिषदुर्ग में भौम नरकासुर का नाश किया और निर्मोचन में मुर का वध किया। एक ओर गन्धार देश में राजा नग्नजित के पुत्रो को मथ डाला, दूसरी ओर

दक्षिण दिशा में पाड्यकवाट नगर के अधिपति पाड्य राजा को एव कलिंग की राजधानी दन्तकूर में वहाके राजा को मर्दित किया। निषादराज एकलव्य का वध किया एव शाल्वराज से युद्ध करके उसकी शतघ्नी छीन ली। जारूथी नगरी में आहुति को मारा तथा क्राथ, भीमसेन, शैव्य, शतधन्वा इन्द्रद्युम्न और कशेरुमान यवन का वध किया। दूसरे पराक्रमो में भोज्या रुक्मिणी का अपहरण किया, स्वर्ग से पारिजात-हरण करके इन्द्र को जीता (उद्योग १२८।४८) और विनाथा वाराणसी का वर्षोतक दहन किया।

श्रीकृष्ण की तपश्चर्याए

इनके अतिरिक्त विदुर ने कृष्ण की तपश्चर्याओ का जो उल्लेख किया वह अभूतपूर्व है—"हे कृष्ण, तुमने पूर्व समय में गधमादन पर्वत पर अनिकेत रूप में विचरण किया। जहा सध्या होती वही तुम टिक रहते, यही तुम्हारा नियम था। पुष्कर-तीर्थ में केवल जल पीते हुए तुमने बहुत समयतक तप किया। विशाला बदरी मे एक पैर से खडे होकर और केवल वायु पीकर तुम तप करते रहे। सरस्वती के तट पर बारह वर्षों तक तुमने ऐसा किया कि उत्तरासग छूट गया और शरीर की कृशता से एक-एक धमनी दिखाई देने लगी। प्रभास क्षेत्र मे जाकर नियम धारणकर एक पैर से खडे हुए तुम तप करते रहे। कृष्ण, तुम तप के निधान, सनातन यज्ञ, क्षेत्रज्ञ और सब भूतो के आदि-अन्त हो।" और भी कृष्ण की महिमा में अनेक अतिमानवी विशेषण दिये गए हैं। वरुण और अग्नि को जीतने एव मधु-कैटभ और हयग्रीव के वध का उल्लेख भी उद्योग पर्व (अ० १२८) मे है।

हम देखते हैं कि कृष्ण-चरित के कई पहलू इन सूचियो मे उभर आए हैं। एक ओर उनकी बाल-लीलाओ का और दूसरी ओर बडे होने पर अनेक अत्याचारी राजाओ से भिडन्त करते हुए उनके राजनीतिक जीवन की घटनाओ का उल्लेख है। तीसरी ओर उनके ईश्वरीय रूप का उपबृहण है। इस वर्णन में पचरात्र भागवत धर्म की छाप स्पष्ट है—"हे कृष्ण, तुम अदिति के पुत्र हो, इन्द्र के छोटे भाई हो, तुम विष्णु हो। बालपन में ही तुम ने द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवी को तीन पैरो से नाप लिया। युगान्त मे सब भूतो का सहार करके

आत्मा में जगत् को आत्मसात् करके तुम स्थित होते हो। तुम्हारे जैसे कर्म पूर्व या अपर काल मे कोई नही कर सका। तुम ब्रह्म के साथ वैराज लोक में निवास करते हो।"

अर्जुन के इस अतिमानवी वर्णन पर भागवत धर्म की दुहरी छाप लगाने के लिए स्वय कृष्ण के मुह मे यहा कुछ विशिष्ट वाक्य कहलाये गए हैं—"हे पार्थ, तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हू। जो मेरे हैं वे ही तुम्हारे हैं। जो तुम्हारा द्वेपी है वही मेरा द्वेपी है। जो तुम्हारा अनुगत है वही मेरा अनुगत है। तुम नर हो, मैं नारायण हू। उस लोक से हम दोनो नर-नारायण ऋपियो के रूप में इस लोक में आये हैं। मैं तुमसे और तुम मुझमे अभिन्न हो। हम दोनो में कोई भेद नही जाना जा सकता।"

उद्योग पर्व मे भागवतो के इस दार्शनिक तत्त्व को और भी शक्तिशाली सूत्र में कहा गया है—

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।
(उद्योग ४८।२०)

अर्थात् 'एक ही सत्त्व या चैतन्य नारायण और नर इन दो रूपों में प्रकट हुआ है।' गुप्त काल में और उससे पूर्व सात्वत, भागवत, नारायणीय, एकान्तिन् इत्यादि भागवतो के अनेक भेद थे। इनकी दार्शनिक और धार्मिक विशेषताओ और पारस्परिक विभिन्नताओ का अभीतक कोई अध्ययन नहीं हुआ। महाभारत और गुप्त युग के वैष्णव आगमग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन से इस विषय पर प्रकाश पडने की आशा है। भारत के धार्मिक इतिहास की कितनी ही कडिया महाभारत के कथा-प्रवाह और वर्णनो के पीछे छिपी हुई है। उनका उद्घाटन ही महाभारत का सच्चा सांस्कृतिक अध्ययन हो सकता है।

मोटे तौर पर ऐसा विदित होता है कि भगवान् वासुदेव एव सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की व्यूहात्मक उपासना प्राचीन सात्वतधर्म की विशेषता थी। तूसम से प्राप्त गुप्तकालीन शिलालेख में सात्वत सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है। बाण ने भागवत और पाचरात्रिक इन दो सम्प्रदायो का अलग-अलग वर्णन किया है। उनमें से पहले के सात्वत ही बाण के समय मे भागवत कहलाये।

वे कृष्ण की बाल-लीलाओ पर अधिक बल देते थे। दूसरे पाचरात्रिको का सम्बन्ध नर-नारायण की उपासना से अधिक था। शेषशायी विष्णु एव नृसिंह-वराह की कल्पना के साथ उनका विशेष सम्बन्ध था। आगे चलकर ये दोनो एव और भी वैखानस, एकान्ती, शिखी आदि वैष्णव सब भागवत इस एक शब्द के भीतर विलीन हो गए। उन्हीका सामूहिक धर्म-ग्रथ वर्तमान भागवत है।

मूल महाभारत का एक सस्करण पचरात्रो के प्रभाव के अन्तर्गत भी तैयार किया गया। कृष्ण के पराक्रमो का प्रकरण उसी समय मूल ग्रथ में सम्मिलित किया गया।

: २१ :

श्रीकृष्ण का आश्वासन

जब अर्जुन और कृष्ण नर-नारायण के रूप में अपने प्राचीन सम्बन्धो का स्मरण कर रहे थे, तब दुखियारी द्रौपदी शरणार्थिनी हो कृष्ण के पास आई। अपने लम्बे कथन में द्रौपदी ने पहले तो अर्जुन के स्वर में स्वर मिलाते हुए कृष्ण के उस स्वरूप का वर्णन किया जहा मानव के दु ख-सुख का स्पर्श नही है—

"हे दुर्धर्ष, तुम विष्णु हो, तुम्ही यज्ञ हो, तुम्ही यष्टा और यष्टव्य हो। यह जामदग्न्य का मत है। असित-देवल तुम्हे ही सब भूतो के स्रष्टा प्रजापति कहते है। ऋषियो के अनुसार तुम सत्य और क्षमा हो। नारद तुम्हे ही सर्वेश्वर कहते है। तुमने सिर से द्युलोक को और पैरो से पृथिवी को व्याप्त कर रखा है। तुम्ही प्रभु, विभु और स्वयभू हो। सूर्य, चन्द्र, आकाश, नक्षत्र, लोक, लोकपाल सब तुममे प्रतिष्ठित हैं।"

इसके अनन्तर द्रौपदी मानवी धरातल पर उतरकर अपने सिमटे हुए शोक को प्रकट करने लगी—"हे कृष्ण, तुम मुझे अपना समझते हो, इसलिए तुम्हें अपना दु खडा सुनाऊगी। पाडवो की पत्नी, कृष्ण की सखी, धृष्टद्युम्न

की बहन सभा में घसीटकर लाई गई—यह क्या हुआ ? एक वस्त्र पहने हुए स्त्रीधर्मिणी मुझ दुखिया को राजसभा में देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्र हँसे—कहो कृष्ण यह क्या हुआ ? पांडु के पांचों पुत्र, पांचाल क्षत्रिय और वृष्णि लोग क्या उस समय जीवित थे, जब कौरवों ने दासी भाव से मुझपर दृष्टि डाली ? हे कृष्ण क्या यह सच है कि मैं भीष्म और धृतराष्ट्र की धर्मशीला पुत्रवधू हूं ? युद्ध में भुजाएं फटकानेवाले उन महाबली पांडवों को मेरी ओर से धिक्कार है जो क्लेश पाती हुई अपनी धर्मपत्नी को टुकुर-टुकुर देखते रहे। धिक्कार है भीमसेन के बल को और धनुर्धर अर्जुन के पौरुष को, जिन्होंने नीचों से मुझे अपमानित होते देखकर भी चूं न की ! सदा-सदा से यही धर्मपथ रहा है कि जो अल्पबल हैं वे भी भार्या की रक्षा करते हैं। मैं पांडवों की शरण में गई, किन्तु उन्होंने मेरी रक्षा न की ! क्या उन पुत्रों के लिए भी, जो मेरी कोख से जन्मे हैं, मैं उन पतियों के द्वारा रक्षा के योग्य न थी ? हे कृष्ण, इतना सब करके भी यदि दुर्योधन मुहूर्त भर जीवित रहे तो धिक्कार है भीमसेन के बल को और धिक्कार है अर्जुन के गांडीव को ! इस दुर्योधन ने हमारे साथ क्या-क्या करतूतें नहीं की ! महाकुल में जन्म लेकर मैं पांडवों की स्त्री हुई और पांडु की पुत्रवधू, फिर भी कृष्ण, मेरे केश खींचे गए और ये पांचों पति बैठे हुए देखते रहे !"

श्रीकृष्ण का आश्वासन

इतना कहकर हाथों से मुंह ढककर द्रौपदी रोने लगी। उसके दुःख और शोक से उत्पन्न आंसू मेंह की तरह बरसने लगे। क्रोध और रुदन से उसका कण्ठ रुंध गया। फिर उसने और भी प्रचंड भाव से कहा—"हे कृष्ण, न मेरे कोई पति हैं, न कोई पुत्र है, न कोई भाई है, न पिता या बंधु है, तुम भी नहीं हो, जो उन क्षुद्रों से इस प्रकार मुझे इतना अपमानित देख सके। मेरे दुःख की यह अग्नि जबतक सबको न जला डालेगी, किसी प्रकार शांत न होगी। कर्ण की वह हँसी मैं कभी नहीं भूल सकती।"

द्रौपदी के ये दुःखभरे वचन सुनकर कृष्ण ने वीरों से उस समाज में कहा—"हे द्रौपदी, जिन्होंने तुम्हारा अपमान किया है, जिनपर तुम क्रुद्ध हो, शीघ्र ही उनकी स्त्रियां भी इसी प्रकार रोयगी। अर्जुन के बाणों से निकली

हुई रक्त की धाराओ में वे अवश्य डूबेंगी। पाडवो के लिए जो आवश्यक है मैं करूगा, तुम शोक मत करो। मैं प्रतिज्ञा करता हू, तुम फिर पटरानी बनोगी। आकाश चाहे गिर जाय, हिमालय चाहे टूट जाय, पृथिवी चाहे फट जाय, समुद्र चाहे सूख जाय, किंतु मेरा वचन मिथ्या न होगा।"

कृष्ण द्यूत के समय क्यो नही पहुचे ?

इतना कहकर कृष्ण पाडवो की ओर अभिमुख हुए—"हे युधिष्ठिर, यदि मैं उस समय द्वारका में होता तो विना बुलाये भी द्यूत-सभा में पहुच जाता और तुम्हे यह कष्ट न देखना पडता। सब लोगो को द्यूत के दोप समझाकर मैं उसे रोक देता। मेरे समझाने से यदि धृतराष्ट्र मान जाते तो कौरवो का हित और धर्म की रक्षा होती। यदि न मानते तो मैं उन सबको बल-पूर्वक मनाता और पासो को तोडकर फेंक देता। किंतु मैं उस समय द्वारका से आनर्त (उत्तरी गुजरात) की ओर गया हुआ था। मुझे तो द्वारका में लौटने पर तुम्हारी विपत्ति का हाल पीछे मालूम हुआ। सुनते ही मैं उद्विग्न मन से शीघ्र ही यहा चला आया। सचमुच आप सबपर बडी विपत्ति पडी।"

युधिष्ठिर के पूछने पर, कि आप उस समय द्वारका में क्यो नहीं थे, कृष्ण ने बताया कि वह शाल्वराज से युद्ध करने के लिए आनर्त देश में स्थित उसकी राजधानी सौभनगर चले गए थे। बात यह हुई कि जब कृष्ण ने शिशुपाल का वध किया और वह इन्द्रप्रस्थ से लौटकर घर भी न पहुच पाये थे, तभी शाल्व ने अपने बंधु शिशुपाल की मृत्यु का बदला लेने के लिए द्वारका पर चढाई कर दी और वहाके नागरिक जीवन को अस्तव्यस्त करके एक विध्वस मचा दिया। लौटने पर कृष्ण को सब हाल मालूम हुआ और उन्होने सौभ पर चढाई करके शाल्व को उसके सहायको के साथ परास्त कर दिया।

द्वारका की सैनिक तैयारी

द्वारका की जो सैनिक तैयारी थी, उसका इस प्रसग में अच्छा वर्णन किया गया है। जो द्वारका का हाल था वही प्रत्येक जनपद की राजधानी का था। ये राजधानिया अपने-अपने यहा दुर्ग के रूप में भी प्रतिष्ठित थी। यूनान के पुर-राज्यो में दुर्गरूपी नगर (एक्रोपोलिस) की रक्षा के लिए नागरिक अपने प्राणो की बाजी लगा देते थे। हेरोक्लाइत का कहना था कि जनता

को अपने कानून और अपने नगर की दीवारो के लिए ममान भाव मे लडना चाहिए। यूनान के पुर-राज्यो मे कही अधिक विस्तृत शक्तिशाली तथा देश और काल में दीर्घजीवी भारत के जनपद-राज्य थे, जिनका ताता कम्वोज से कलिंग तक फैला हुआ था। यहा भी जनपद की रक्षा का नागरिको की दृष्टि में अत्यधिक महत्व था। इसे जनपद-गुप्ति कहा जाता था।

'कथ रक्ष्यो जनपद ?' (शाति० ६९।१) यह प्रश्न जनपद की भक्ति रखने वाले नागरिको के सम्मुख सदा रहता था एव रक्षा के लिए दुर्ग, गुल्म, सक्रम (पुल), द्वार, परिखा, प्राकार, आयुधागार, धान्यागार, भाण्डागार, अश्वागार, गजागार आदि अनेक साधन तैयार रखे जाते थे। नगर को ऐसा सुगुप्त बनाया जाता था कि समय पडने पर स्त्रिया भी पुरुषो की भाति मोर्चा ले सकें। गधार प्रदेश में वीर आश्वकायनो के सुवास्तु क्षेत्र में यूनानियो ने जैसे ही पैर रखा, उन्हें मशकावती और वरणा इन दो दुर्गों की अभेद्य गुप्ति का परिचय मिल गया, जहा स्त्रियो ने भी डटकर लोहा लिया।

युद्ध के समय जब शाल्व ने द्वारावती का घेरा डालकर (अरुन्धन्) उसको चारो ओर से छेक लिया (व्यूह्य विष्ठित), तब द्वारका के तत्कालीन रक्षक ने 'सर्वाभिसार' युद्ध की घोषणा कर दी। नगर के चारो ओर कोस भर भूमि खोदकर ऊची-नीची कर दी गई (समन्तात्क्रोशमात्र च कारिता विषमा च भू. १६।१६), पुल (सक्रम) तोड दिये गए, नावो का चलना बन्द कर दिया गया, विना आज्ञापत्र के न कोई भीतर से वाहर जा सकता था और न किसीको वाहर से भीतर प्रवेश करने दिया जाता था (न चामुद्रोभिनिर्याति न चामुद्र प्रवेश्यते)। नगर में घोषणा हुई कि कोई सुरापान न करे, क्योंकि प्रमादग्रस्त नागरिको पर शत्रु के आक्रमण का भय था। सेना को पिछला वेतन और भोजन दे दिया गया, सबको हथियार और सैनिक वेश से सज्जित कर दिया गया। सेना में घोषणा हो गई कि वीरता के कार्य करनेवाले पुरस्कृत होंगे। नगर के गोपुर, उनमें वने हुए अट्ट और अट्टालक, आने-जाने की पौरें (प्रतोली), उनके साथ बने हुए मच (उपतल्प) बडे फाटको में लगे हुए भुइंनाली ताले (यन्त्र-खनक), हुडके (हुड) और गरारिया (चक्र) जिनपर किवाटें दौडती थीं—इन सबका पक्का प्रबध करके नगर की रक्षा की गई। इसके अतिरिक्त शतघ्नी

लाङ्गल (हल नामक लोहे का हथियार), भुशुण्डि, पत्थर के गोले (अश्म-गुडक), कचग्रहणी (बाल पकडकर खीच लेन वाले यत्र), जलते हुए लुआठे और शोले फेंककर शत्रु-सेना में प्रलय मचाने वाले (उल्कालातावपोथिका), उष्ट्रिका, हुडश्रृङगी इत्यादि अनेक आयुधो से दुर्ग को सुगुप्त कर दिया गया। वृष्णि सैनिको की चुनी हुई टुकडी (मध्यम-गुल्म) ने, जिसमें प्रसिद्ध कुलो के वीर थे, मुख्य रक्षा का भार अपने हाथो में लिया। आवश्यकतानुसार मोर्चों पर पहुचकर मार करनेवाली टुकडिया (उत्क्षिप्त गुल्म), सवार और पैदल अपने-अपने स्थानो पर सावधान होकर डट गए। युद्ध के समय वन की अधिक-से-अधिक बचत की जाय, इस दृष्टि से नट, नर्त्तक और गवैयो को दुर्ग से बाहर भेज दिया गया। द्वारका की रक्षा का यह प्रबध शास्त्रदृष्ट विधि से किया गया। ज्ञात होता है कि महाजनपद युग में दुर्ग-गुप्ति के विषय पर विशेष ग्रन्थो की रचना हुई थी। उनका कुछ आभास कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी मिलता है।

शाल्व की चढाई

उधर सौभपति शाल्व ने अपनी चतुरगिणी सेना से द्वारका का वेग-पूर्वक घेरा डाला। उस अभियान को न सह सकनेवाले वृष्णिकुमार नगर से बाहर निकल-निकल कर युद्ध करने लगे। युद्ध के प्रसग में कई बार कहा गया है कि शाल्व ने माया से युद्ध किया। दारुण आसुरी माया शाल्वराज की विशेषता थी। सभवत यह दुर्गयुद्ध की रीति थी जो असुर-जातियो की विशेष विधि थी। अनुमान होता है कि शाल्वजाति का सम्बध भारत के बाहर के किसी ऐसे देशसे था जहा माया-युद्ध का प्रचार था। शा वो के सबध मे प्राप्त कुछ अन्य सकेतो से ज्ञात होता है कि वे प्राचीन ईरान से सबधित थे, जो सिध-राजस्थान के मार्ग से भारत में आये और राजस्थान के मध्य और उत्तरी प्रदेश में बस गए। यहीसे वे पूर्व में मथुरा की ओर और दक्षिण मे द्वारका की ओर अभियान करते रहते थे। कृष्ण ने उनके इस गुट्ट को तोडा। उनके मायायुद्ध के कारण ही सस्कृत साहित्य में सौभनगर और सौभिक इन दोनो का सम्बध माया या इन्द्रजाल के साथ जुड गया। कृष्ण ने आगे बताया कि द्वारका के उस युद्ध में प्रद्युम्न ने इतनी वीरता से लोहा लिया कि शाल्व के पैर उखड गए और वह घेरा उठाकर उलटे पाव सौभ को लौट गया।

राजसूय-यज्ञ से वापस आकर कृष्ण ने द्वारका को क्षत-विक्षत पाया। स्त्री-पुरुष घबराये हुए थे। स्वाध्याय और यज्ञ बन्द हो गए थे। उपवन उजड गए थे। नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। यह देखकर कृष्ण उत्तप्त हो गए और कृतवर्मा से द्वारका के रोध और मोक्ष का विस्तृत हाल जानकर शाल्व के विनाश का सकल्प करके मृत्तिकावती पर चढ दौडे। वहा घोर युद्ध के बाद शाल्वराज मारा गया। यही कारण था कि अन्यत्र युद्ध में फसे हुए कृष्ण द्यूत के समय हस्तिनापुर न पहुच सके थे।

इतना वृत्तान्त सुनाकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से विदा ली। सुभद्रा और अभिमन्यु को भी उन्होने अपने साथ रथ पर बैठाया और द्वारका की ओर चल दिये। धृष्टद्युम्न अपने भानजो को साथ ले गया। शिशुपाल का पुत्र धृष्टकेतु अपनी बहन करेणुमती के साथ, जो नकुल की पत्नी थी, चेदि की राजधानी शुक्तिमती को लौट गया। सबसे अन्त मे युधिष्ठिर ने ब्राह्मणो को समझा-बुझाकर कठिनता से विदा किया।

: २२ :

धर्म और कर्म की गहन गति

इसके अनन्तर पाण्डव उस महाअरण्य के एक भाग मे स्थित द्वैतवन नामक स्थान में पहुचे। वहा एक बडा सरोवर था। वहीपर मार्कण्डेय उनसे मिलने के लिए आये। पाडवो को उस अवस्था मे देखकर मार्कण्डेय के मुख पर किसी विचार की रेखा दौड गई और दूसरे ही क्षण उनका चेहरा मुसकराहट से खिल गया। यह देखकर युधिष्ठिर ने पूछा—"भगवन्, अन्य सब तपस्वी हमारी इस दशा से खिन्न है, आपके हँसने का क्या कारण है?"

मार्कण्डेय ने कहा—"हे तात, न मैं प्रसन्न हू, न मैं हँसता हू। आपकी इस आपदा को देखकर मुझे उन सत्यव्रती दाशरथि राम का स्मरण हो आया जिन्होने पिता की आज्ञा से भोगो को त्यागकर अपने भाई लक्ष्मण के साथ वन में निवास किया था। मैने अनेक महानुभाव राजाओ को राज्य करते और कष्ट पाते हुए देखा है। अपनी दीर्घ आयु के अनुभव से मै इस परिणाम पर पहुचा हू कि मनुष्य अपनेको बली समझकर कभी अधर्म न करे (जैसे

बलस्येति चरेदधर्मम्) । नाभाग, भगीरथ आदि राजाओ ने सागरान्त पृथिवी को जीतकर केवल सत्य के बल से ही लोको को वश में किया। कहते है, काशी और करूप के राजा अलर्क ने सारी पृथिवी को वश में कर लिया था, किन्तु उन बाणो से वे अपने मन को न वेध सके। तव मन ने उनसे कहा—'हे अलर्क, मुझे वश में करने के लए अन्य बाणो को खोजो।' अलर्क ने बात समझी और योगरूपी बाण से मन को वश में किया एव अपना राष्ट्र और धन, दोनो त्यागकर तपस्वी बन गए। इसीलिए मेरा अनुभव है कि ससार में बल तुच्छ है। देखिए, विधाता ने इस विश्व मे जो पुराना विधान चलाया है, उसे मानकर ही सप्तर्षि द्युलोक मे चमकते है। मनुष्य भी उसी विधान की पूजा से प्रकाशित हो सकता है। बडे मत्त, दन्तावल हाथी भी विधाता के उस निदेश को मानते है। जगत् में बल ही सब कुछ नही है। आपने भी सत्य और धर्म से दीप्त तेज और यश प्राप्त किया था। हे महानुभाव, वनवास के इस कष्ट को भोगकर आप पुन अपनी उस दीप्त लक्ष्मी को प्राप्त करेंगे। बल और अधर्म सदा नही टिक सकेंगे।" यह कहकर मार्कण्डेय विदा हुए।

उनके चले जाने पर द्वैतवन में रहनेवाले एक दूसरे तपस्वी मुनि बक दाल्भ्य ने युधिष्ठिर को ब्रह्म और क्षत्र के परस्पर मेल का महत्व समझाया।

तदनन्तर कृष्णा के साथ बैठे हुए पाडव दु ख और शोक से भरे हुए आपस में बातचीत करने लगे। उनमें सबसे अधिक व्यथित द्रौपदी थी। कौरव-सभा में अपमानित होने के बाद ज्योही पहला अवसर मिला, उसने अपने मन का दु ख उडेलते हुए युधिष्ठिर से कहा—

"वह दुर्योधन अत्यन्त निष्ठुर है, उसका हृदय लोहे का बना है जो आप जैसे व्यक्ति को मृगचर्म पहनाकर वन में भेज दिया और उसके हृदय में तनिक भी सताप न हुआ। कर्ण, शकुनि, दुर्योधन, दु शासन इन चारो पापियो की आखो से एक भी बूद आसू न निकला। अन्य सब कौरवो के नेत्र उस समय दु ख के आसुओ से भीग गए थे। महाराज, किसी समय मैंने आपको सभा के बीच में हाथी दात के बने रत्न-भूषित आसन पर बैठे हुए देखा था। आज कुशा की चटाई पर बैठे हुए देखकर मेरा हृदय शोक से रुध जाता है। उस हृदय को शाति कहा ! भीमसेन को और अर्जुन को इस

दशा में देखकर भी आपके हृदय मे मन्यु क्यो नही उत्पन्न होता ? द्रुपद की पुत्री, महात्मा पाडु की पुत्र-वधू, मुझे इस स्थिति मे देखकर आपका क्रोध कहा चला गया ? यह बात मेरी समझ से बाहर है। लोक कहता है कि बिना रोष का क्षत्रिय नही होता। आपको तो मै विपरीत देखती हू। समय आने पर भी जो क्षत्रिय तेज नही दिखलाता, वह सर्वत्र अनादर पाता है। शत्रुओ के प्रति क्षमा उचित नही। पहले कभी राजा बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद से प्रश्न किया था—"हे तात, क्षमा श्रेयस्कर है या तेज ? सत्य कहिए।" तब प्रह्लाद ने यही उत्तर दिया था कि न सदा तेज अच्छा है, न सदा क्षमा। जो नित्य क्षमा ही जानता है, उसके भृत्य भी उसका सम्मान नही करते। और तो और, वह अपनी स्त्रियो की भी रक्षा नही कर सकता। इसी प्रकार जो सदा क्रोधी बनकर दड का प्रयोग करता है, उसके मित्र और स्वजन भी विरोधी बन जाते है। इसलिए न सदा मृदु होना चाहिए और न सदा तेज ही दिखाना चाहिए। समय पर मृदु और समय पर दारुण होना ठीक है। मै समझती हू, यह आपके तेज का समय है। कौरवो के प्रति आपका क्षमा-काल बीत गया।"

युधिष्ठिर का क्षमा और अक्रोध पर प्रवचन

द्रौपदी के ये नीतियुक्त वचन सुनकर भी धर्मराज पर कोई प्रभाव नही हुआ। उन्होने क्रोध के दुष्परिणाम और उसे वश मे करने के गुणो पर उल्टे द्रौपदी को उपदेश दे डाला—

"क्रोध मे बहुत दोष है। जो प्रज्ञा से क्रोध को वश में रखता है, वही सच्चा तेजस्वी है। तेजपूर्वक बर्तने के लिए भी क्रोध का त्याग आवश्यक है। काश्यप ने क्षमा के विषय मे इस प्रकार की गाथाए कही है। क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है, क्षमा ही वेदो का ज्ञान है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा तप है। जो क्षमावादी है, वे ब्रह्मविद्, यज्ञवित् और तपस्वियो मे भी ऊचा लोक पाते है। यह लोक और वह लोक दोनो क्षमावान के लिए है। जिसने क्षमा से क्रोध को जीत लिया है, उसका स्थान सबसे उच्च है, इसलिए शाति सर्वोपरि है। अतएव, हे द्रौपदी, काश्यप की इन शान्तिवादी गाथाओ को सुनकर तुम क्रोध न करो। हे प्रिये! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, विदुर और व्यास ये क्षमा के पक्ष में है। वे धृतराष्ट्र

को समझायगे और वे हमे हमारा राज्य लौटा देगे। यदि नही, तो लोभ से उन्हीका नाश हो जायगा। मैंने पहले ही समझ लिया था कि क्षमा-सवधी विचारो की योग्यता दुर्योधन मे नही है। मैं ही उनके योग्य हू। अतएव मेरे ही पास क्षमा आती है।"

धर्म ने रक्षा क्यो नही की ?

युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर द्रौपदी हतप्रभ होगई। उसने पहले तो ब्रह्मा को प्रणाम किया—"हा विधाता ! तुम्हारे पैर छूती हू। तुमने इनकी बुद्धि पर कैसा परदा डाल दिया है !" फिर साहस वटोरकर वह बोली—"मैं जानती हू, आप भीमसेन और अर्जुन को, माद्रीपुत्रो को और मुझे भी एक बार छोड देंगे, पर धर्म को न छोडेगे। मैंने आर्यों से सुना है—'जो धर्म की रक्षा करता है,धर्म उसकी रक्षा करता है'—पर मै देखती हू कि आपकी रक्षा धर्म भी नही करता। छाया जैसे पुरुप के पीछे चलती है, आपकी बुद्धि सदा धर्म के पीछे चली है। देव, पितर, अतिथि, ब्राह्मण इन सवके प्रति आपने धर्म से व्यवहार किया है। राज्य छोडकर वन में आगये, पर धर्म नही छूटा। कैसे यह हुआ कि आपकी वह धर्मिष्ठ बुद्धि द्यूत के व्यसन में फस गई ? सोचती हू, लोक ईश्वर के वश में है। विधाता जैसा घुमाता है, वैसा ही होता है। वह मनुष्यो को कठपुतली की तरह चलाता है। धागे से वधा हुआ पक्षी जैसे परवश है, नाथा हुआ बैल जैसे लाचार है, वैसे ही मनुष्य आत्माधीन नही। धार के वीच में पडा हुआ वृक्ष जैसे उखड जाता है, वैसे ही दुख-सुख के फेर में पडा हुआ अज्ञ मनुष्य भी। यह शरीर ब्रह्मा के हाथ का खिलौना है, मनुष्य अपने मन से क्या-क्या समझते हैं, और विधि क्या-क्या कर डालता है? बालक जैसे खिलौनो से खेलता है, ऐसे ही यह सब भगवान का खेल है। माता-पिता की भाति दयार्द्र हृदय से ब्रह्मा व्यवहार नही करता। उसके हाथ में सवके लिए कडा चाबुक है। मुझे तो उस ब्रह्मा पर तरस आता है, जिसने आपको आपत्ति और दुर्योधन को सम्पत्ति दी।"

युधिष्ठिर का धर्म-पालन का आग्रह

द्रौपदी के ये वचन सुनकर युधिष्ठिर ने अपनी ही वात पर आरूढ रहते हुए कहा—"हे याज्ञसेनि, तुम्हारा कथन कितना सुन्दर है, किन्तु इसके मूल

में नास्तिक्य भाव भरा है। हे राजपुत्रि, क्या मैं इसलिए धर्माचरण करता हूं कि मुझे उसका फल चाहिए ? देना ठीक है, इसलिए मैं देता हूं, यजन करना चाहिए, इसलिए मैं यजन करता हूं। यह तो पुरुष का कर्त्तव्य है, फल यहां मिले या न मिले। शास्त्रों को देखकर और सद्वृत्त को समझकर मेरा मन धर्म में है। स्वभाव से ही मैंने उसे पकड़ा है। जो धर्म को दुहकर उसका फल चाहता है, या धर्म का आचरण करके फिर उसे शंका की दृष्टि से देखता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता, वह दुर्बलात्मा है। क्या तुमने नहीं देखा कि मार्कण्डेय, व्यास, वसिष्ठ, नारद, लोमश और शुक ये धर्म का पालन करने से ही गौरव को प्राप्त हुए ? इन्हें तो वेद-शास्त्र प्रत्यक्ष थे, इन्होंने धर्म को ही सबसे आगे माना। इसलिए हे कल्याणि, ब्रह्मा और धर्म पर रजोगुण के कारण आक्षेप मत करो। जो धर्म पर कुतर्क करता है, वह किस अन्य वस्तु का प्रमाण मानेगा ? इंद्रियों की प्रीति से सबद्ध जो यह प्रत्यक्ष लोक-व्यवहार है, बस इतने को ही ऐसा मूर्ख सच्चा समझता है। उसके लिए और सब झूठा है। हे द्रौपदी, जैसे नाव व्यापारी को समुद्र के पार ले जाती है, वैसे ही स्वर्ग के लिए धर्म के अतिरिक्त दूसरी नाव नहीं है। यदि धर्म निष्फल हुआ करता तो यह सारा जगत अथाह अन्धकार में डूब जाता। इसलिए धर्म सफल है। हम विद्याभ्यास और तप का फल अपनी आंखों से देखते हैं। कर्मों का फल अवश्य है। धर्म शाश्वत है। इसलिए हे द्रौपदी, मन से नास्तिक्य भाव दूर करो और संशय के इस कुहरे से अपना उद्धार करो। ईश्वर और ब्रह्मा पर आक्षेप मत करो। उसे समझो और प्रणाम करो।"

द्रौपदी का वीरोचित कर्म के लिए आग्रह

द्रौपदी युधिष्ठिर के इस उत्तर से ठिठकी नहीं। उसने साहस करके फिर मुंह खोला—"हे पार्थ, मैं धर्म को बुरा भला नहीं कहती। ईश्वर और ब्रह्मा का निरादर कैसे कर सकती हूं ? मैं दुखिया हूं, इसीसे कुछ प्रलाप करती हूं। फिर भी कुछ कहूंगी। आप मन से मेरी बात सुन लें। मैं तो इतना जानती हूं—जिसने जन्म लेकर मातृ-स्तन का पान किया है, उसे कर्म करना चाहिए। ईंट-पत्थरों का काम बिना कर्म के भले ही चल जाय, चेतन प्राणी का नहीं चल सकता। सब प्राणी कर्मों का प्रत्यक्ष फल पाते हैं, लोक इसका साक्षी है।

समुत्थान सब जन्तुओ के लिए आवश्यक है। जल में खडा हुआ यह बगुला कितना ही शात जान पडे, वह भी उत्थान करता है। आपको भी स्वकर्म करना चाहिए। हिमालय को भी यदि खाते रहे और उसमें जोडें नही तो वह क्षीण हो जायेगा। प्रजाए यदि कर्म नही करेगी तो चौपट हो जायगी। लोक में जो भाग्यवादी हैं, अथवा जो हठवादी बनकर अपनी मनमानी करता है, दोनो लोक के शत्रु है। कर्मबुद्धि मनुष्य ही सराहनीय है। जो भाग्य का भरोसा करके निश्चेष्ट बन सुख से सोता है, वह दुर्बुद्धि जल में कच्चे घडे की भाति दुख पाता है। ऐसे ही जो हठबुद्धि है, कर्म में शक्त होने पर भी कर्म नही करता, उसकी जीवन-यात्रा अधिक दिन नही चलती। हठ से, दैव से और स्वभाव से जो फल मनुष्य को मिल जाता है, उसमें उसकी अपनी कुछ वाहवाही नही। स्वय अपने कर्म से जो फल मिले, वही सच्चा पौरुष है। उसे ही चक्षुदृष्ट प्रत्यक्ष कह सकते हैं —

यत्स्वय कर्मणा किञ्चित्फलमाप्नोति पूरुष ।
प्रत्यक्ष चक्षुषा दृष्ट तत्पौरुषमिति स्मृतम् ॥ (३३।१६)

"मन से कार्य का विनिश्चय करके धीर व्यक्ति कर्म से जो प्राप्त करता है, वही पुरुष का अपना लाभ है। कर्मों की गिनती नही की जा सकती। भवन और नगरो का निर्माण पुरुष के कर्म का प्रत्यक्ष फल है। तिलो मे तेल, गौ में दुग्ध, और काष्ठ में अग्नि होते हुए भी उनकी सिद्धि के लिए उपाय करना ही पडता है। कुशल और अकुशल दो प्रकार के व्यक्ति काम करते हैं। उनके किये हुए कर्म को देखकर तुरन्त उनकी पहचान हो जाती है। कुशल व्यक्ति विनिश्चय के साथ ही ठीक काम करता है। यदि कर्मों के मूल में पुरुष को कारण न माना जाय तो न तो कोई शिष्य विद्याभ्यास से गुरु बन सके और न इष्टापूर्त कर्म ही पूरे हो। कर्म करना ही चाहिए, मनु ने यह सिद्धात पहले ही निश्चय कर दिया था (कर्त्तव्य त्वेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चय आर० ३३।३६)। प्राय जो कर्म करता है वही फल पाता है, आलसी कभी कुछ नही पाता। कर्म करके ही मनुष्य अपने दायित्व से मुक्त होता है। जो आलस्य में पडा रहता है, उसे अलक्ष्मी घर दबाती है। कर्म-रत धीर नर बिगडे हुए काम को भी जब उठा लेते हैं, तब अपने मुक्तसशय मन और कर्म से उसे पार लगा देते हैं।

"इस समय हम लोगों का काम चारो ओर से बिगडा हुआ है। आप यदि कर्म में मन लगायगे, तो अवश्य ही इस अनर्थ को भी संशयरहित बना सकेंगे। आपकी और आपके भाइयो की महिमा ऐसी है कि उससे सिद्धि अवश्य मिलेगी। औरो का काम सफल होता है, हमारा भी क्यो न होगा? जो कर्म कर चुकता है, उसका पता देर से फल प्राप्त होने पर लगता है। किसान हल से धरती को उखाडकर बीज बो देता है और चुप बैठा रहता है। फल वृष्टि के अधीन है। मेघ यदि कृपा न करे तो किसान का दोष नहीं, क्योंकि पुरुष को जो करना चाहिए वह कर चुका। ऐसे ही हमारा कर्म भी अफल रहा, तो हमारा अपराध नही कहा जायगा। कर्म करने पर दो ही बातें हो सकती हैं—सिद्धि या असिद्धि; किन्तु कर्म में प्रवृत्ति ही न होना इन दोनो से अलग है। मनुष्य को उचित है कि वह कभी निर्वेद को न प्राप्त हो, और न हिम्मत हारकर स्वय अपनी अवमानना करे। जिसकी आत्मा बुझ गई उसका वैभव भी रुक गया। हे भारत, लोक-सस्थिति का हेतु यही है। पहले मेरे पिता ने किसी विद्वान् ब्राह्मण को अपने यहा आश्रय दिया था, तब उसने मेरे भाइयो को शिक्षा देते हुए बृहस्पति-प्रोक्त इस नीति की शिक्षा दी थी। मैंने भी अपने पिता की गोद में बैठे हुए उनका यह सवाद सुना था। वही आपसे कह रही हू।"

चार प्रकार के मतवाद

इस प्रसग में महाभारतकार ने कर्म के पक्ष में प्रबल युक्तिया देते हुए जीवन में समुत्थान का प्रतिपादन किया है। यह दार्शनिक मत नियतिवादी या भाग्यवादी लोगो के उत्तर में कहा हुआ सिद्धात था। ऊपर से सरल ज्ञान पडनेवाले इस प्रकरण के मूल में प्राचीन दार्शनिको के विचारों की नोंक-झोंक स्पष्ट दिखाई पडती है। दिष्टवाद, हठवाद, स्वभाववाद और कर्मवाद इन चार मतवादो का यहा उल्लेख किया गया है। इनमें दिष्टवाद या भाग्य या नियति के माननेवाले मक्खलि गोसाल थे। बौद्ध और जैन साहित्य में विस्तार से उनके मत का वर्णन आया है। महाभारत में भी अनेक स्थानो पर उनके मत का उल्लेख किया गया है। राजा ययाति दिष्ट-वादी थे (आदि० ८४।६,७)। धृतराष्ट्र का झुकाव भी कुछ इसी मत की

ओर था । शान्तिपर्व (१७१।२-३) मे और भी विस्तार से नियतिवाद का विवेचन किया गया है । ऐसे लोग अनायास और निर्वेद के माननेवाले थे जिनका उल्लेख द्रौपदी ने किया है । साथ ही सब प्राणियो मे साम्यभाव और सत्यवाक्य, यह भी मक्खलि गोसाल के दर्शन की विशेपता थी । स्वभाववाद अजितकेश कम्बली नामक दार्शनिक का मत था । हठवाद या यदृच्छावाद सम्भवत पूरण कस्सप का मत रहा हो । ये तीनो ही और पकुध कच्चायन भी अक्रियावादी थे ।

द्रौपदी ने बृहस्पति के नाम से जिस कर्मवाद का वर्णन किया, वह बृहस्पति कौन थे, इस जिज्ञासा का सम्भावित उत्तर यह ज्ञात होता है कि लोकायत या चार्वाक दर्शन के सस्थापक बृहस्पति ही कर्मवाद के उपदेशक थे । पीछे चलकर यह दर्शन बहुत बदनाम हुआ और 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' के अत्यन्त विकृत रूप में चार्वाक-दर्शन की स्मृति बची रह गई । वस्तुत मूल मे यह दर्शन अत्यन्त लोकप्रिय था और अक्रियावादी दार्शनिको के मुकाबले में यही दर्शन ऐसा था, जो समुत्थान, प्रयत्न एव पुरुषार्थ के द्वारा लोक-सस्थिति और कर्मवती सिद्धि का प्रतिपादन करता था । इसी कारण यह लोकायत के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसका प्रतिपादन जिस हृदय-ग्राही शैली से किया जाता था, उसके कारण इसके अनुयायी चार्वी या चार्वाक भी कहे जाते थे । अपने मूल रूप में लोकायत दर्शन और अन्य अक्रियावादी दर्शन भी उन तत्त्वो पर आश्रित थे, जो लोकहित के लिए आवश्यक थे । जैसे मक्खलि गोसाल के दर्शन में कर्म के निराकरण (निर्वेद और अनायास), की शिक्षा होने पर भी सर्वसाम्य और सत्यवाक्य, ये दो सशक्त लोकोपकारी तत्त्व थे, वैसे ही बृहस्पति के दर्शन में चक्षु से दृष्ट प्रत्यक्ष फल के साथ-साथ कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन था । आगे चलकर इसके बिगडे हुए रूप में प्रत्यक्षवाद तो रह गया, कर्मवाद लुप्त हो गया ।

महाभारत के इन सवादो में यथावसर प्राचीन दार्शनिको के अभिमतो का सन्निवेश पाया जाता है । जिस प्रकार दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त एव जैनो के उत्तराध्ययनसूत्र और सूत्रकृताग आगमो मे प्राचीन विचारको के मतो या दिट्ठियो का सग्रह है, वैसे ही ब्राह्मण-साहित्य में महाभारत में भी उस प्रकार के मतो का सग्रह है । युक्तिपूर्वक उनके दोहन से प्राचीन

भारतीय दर्शन के उस युग पर बहुत प्रकाश पड सकेगा, जबकि उपनिषदो के उतरते हुए युग मे सैकडो नए-नए दार्शनिक मतवादो का जन्म हुआ था और यूनान के आरम्भकालीन दर्शन की भाति भारतीय दर्शन भी नई कल्पनाओ के उन्मेष से समृद्ध बन रहा था। सौभाग्य से महाभारत के शत-साहस्र-विस्तार में ज्ञान की वे चमकती हुई मणिया यत्र-तत्र सुरक्षित रह गई हैं।

: २३ :

अर्जुन की शस्त्रास्त्र-प्राप्ति

द्यूत-सभा में युधिष्ठिर ने जिस प्रकार मूढ बनकर विपत्ति को न्योता दिया, उससे शेष चारो भाइयो और द्रौपदी को क्षोभ होना स्वाभाविक था। द्रौपदी ने उस समय असाधारण धैर्य दिखलाया। उसको युधिष्ठिर की दुर्बुद्धि और दुर्योधन की कुटिलता का सबसे अधिक मूल्य चुकाना पडा था। उसके जीवन की सारी आस्था हिल गई। वह इस विषय में स्तम्भित हो गई कि पुरुष-समाज सदाचार-सम्बन्धी मर्यादाओ के विषय मे कहातक पतन की ओर जा सकता है। सम्भव है, यदि कृष्ण के धर्म-परायण व्यक्तित्व पर उसके मन में उस समय आस्था न रह गई होती तो उसके अपने व्यक्तित्व का सूत छिन्न-भिन्न होकर टूट गया होता। उसकी व्यथा, आक्रोश, करुणा और रोष का सचमुच वारापार नही था। उसके मन के अगाध शोक को प्रकट होने के लिए अवसर चाहिए था। वनवास के इस आरम्भिक काल मे जब उसे अवसर मिला, तब उसके दुःख का बाध टूटकर वह निकला। किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि द्रौपदी के मन की सारी पीडा को शब्दो मे व्यक्त करने की शक्ति ग्रन्थकार के पास न थी। द्रौपदी के अनकहे दुःख में और भी अगाध व्यथा भरी रह जाती है। द्रौपदी ने युधिष्ठिर से जो कहा, उसे भीमसेन ने भी सुना। भीमसेन की प्रकृति दूसरे प्रकार की थी। भरी सभा मे ही वह युधिष्ठिर की भुजाओ

को आग से जला देने की वात कह चुका था। तव अर्जुन ने किसी प्रकार उसे शान्त किया था। द्रौपदी के कथन ने उसकी उस प्रसुप्त क्रोधाग्नि को फिर भड़का दिया। वह क्रोध से फुफकारता हुआ युधिष्ठिर से वोला—

धर्म-अर्थ का आपेक्षिक महत्व

"सत्पुरुष जिस तरह राज्य किया करते हैं, वैसे धर्मपूर्वक करो। धर्म, काम और अर्थ तीनो को गवाकर यहा जगत् मे पडे रहने मे क्या लाभ ? दुर्योधन ने धर्म या वल से राज्य न लेकर पासो से हमे छला है। सियार जैसे वली सिहो का जूठा मास खाता है, वैसे ही उसने हमारा राज्य लिया है। इन्द्र भी जिसे नही ले सकते थे, उस राज्य को हमारे देखते हुए तुम्हारी करतूतो ने खो दिया। तुम्हारे कारण हमारा सव ऐश्वर्य चला गया, जैसे लगडे ग्वाले के कारण जगल में गायें खो जाती हैं। आपका जो अनोखा शास्त्र है, उसकी अड़चन से हम इन दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्रो के टुकडे-टुकडे नही कर पाते। मृगो की भाति अपने इस वनवास पर विचार करो। कृष्ण, अभिमन्यु, अर्जुन और हममें से कोई भी इसे अच्छा नही समझता। आप सदा धर्म-धर्म रटकर दुवले हुए जाते हैं। उसीके कारण तो कही नपुसको की-सी इस जीविका को प्राप्त नही हो गए ? आपका यह झूठा वैराग्य सर्वघाती है। आपके हृदय में चक्षुष्मत्ता है, वाहुओ में वल है, फिर भी क्यो इसे नही देखते ? हम युद्ध में मारे जाय तो इसका दुख न होगा। किन्तु हम सहते चले जाय और ये धार्त्तराष्ट्र हमें असत् समझें, यह बड़ा दुख है। जो धर्म मित्रों के और अपने दुख का कारण हो वह व्यसन है, धर्म नही, उसे कुधर्म कहा जायगा। धर्म में शक्ति होनी चाहिए। जिसका धर्म दुर्वल है और फिर भी सदा धर्म की रट लगाता है, उसे धर्म और अर्थ दोनो छोड देते हैं, जैसे मृत व्यक्ति को सुख-दुख छोड देते हैं। कोरे धर्म के लिए धर्म को पकडे रहना क्लेश का कारण है, वुद्धिमानी नही। ऐसा मूढ धर्म के अर्थ को नही जानता, जैसे अन्धा सूर्य के प्रकाश को। जो केवल धन के लिए धन को चाहता है, वह धन के मर्म को नही जानता। वह तो ऐसा है जैसे नौकर दूसरे के खेत की रखवाली करता है। कोई व्यक्ति अन्धाधुन्ध अर्थ

के पीछे पड़कर धर्म और काम को भुला दे तो उसे सब लोग निन्दित ब्रह्मघाती के समान वध्य समझते हैं। ऐसे ही जो केवल काम के पीछे धर्म-अर्थ को भुला देता है उसके मित्र भी छूट जाते हैं, धर्म और अर्थ तो रहते ही नहीं, जल के क्षीण होने पर मछली के समान उसका निधन निश्चित है।

पौरुष का आग्रह

"इसलिए बुद्धिमान को धर्म और अर्थ की ओर से प्रमाद न करना चाहिए। उनके होने से ही काम की पूर्ति होती है। मेघ और समुद्र जैसे एक-दूसरे के जनक हैं, ऐसे ही धर्म से अर्थ और अर्थ से धर्म होता है। जैसे बहेलिया पक्षियों को मारता है, वैसे ही अधर्म इन तीनों का नाश करता है। आपने तो धर्म को बहुत-कुछ जानाबूझा है। अर्थ से ही धर्म की सेवा हो सकती है, किन्तु अर्थ भिक्षा या नपुंसकता से प्राप्त नहीं हो सकता। आप तो स्वयं याचना का निषेध किया करते थे। क्षत्रिय के लिए भिक्षा का विधान नहीं, तेज से ही अर्थ-सिद्धि के लिए आप यत्न करें। हे राजन्, उठिए, सोचिए-समझिए और सनातन काल से प्राप्त धर्मों का पालन कीजिए। प्रजा-पालन ही आपके लिए ब्रह्मा का बनाया हुआ सनातन धर्म है। उससे विचलित होकर आपकी लोक में हँसी होगी। स्वधर्म से चलित होना मनुष्य के लिए श्लाघनीय नहीं। किस क्रूर कर्म के चक्कर में आप पड़ गए हैं?

"मेरा मन बड़ा दुखी है। क्षत्रिय के बलवान हृदय की उपासना करो। इस ढीले मन का परित्याग करो। पौरुष का आश्रय लेकर वृषभ के समान धुरे का वहन करो। जो कोरा धर्मवादी है, वह कभी पृथिवी, सम्पत्ति या राज्यश्री को नहीं पा सकता। शत्रु के विनाश के लिए कपट का आश्रय भी लेना पड़ता तो भी कर्तव्य है। कहा जाता है कि देवताओं ने असुरों को युद्ध में छल-छन्द से ही पछाड़ा था। युद्ध में अर्जुन के समान योद्धा कौन है? और मेरे समान गदाधारी कौन है? हे राजन्, युद्ध के लिए सत्त्व चाहिए, बहुत साज-समान नहीं। अधिक ऊँचे अर्थ के लिए पहले उपार्जित अर्थ का त्याग करना उचित है। क्या खेती के लिए बीज को भूमि में नहीं डालते? जिससे उदय का लाभ न हो, वह अर्थ अनर्थ के समान है। बड़े धर्म की प्राप्ति

के लिए छोटे धर्म का त्यागना बुद्धिमानी है। हे राजन्, विधिपूर्वक पृथिवी का पालन पुराणतप है, ऐसा मैंने सुना है। लोग कह सकते हैं कि यदि धर्मराज युधिष्ठिर पर भी ऐसी विपत पड सकती है, तो प्रभा सूर्य को और कान्ति चन्द्रमा को भी छोड जा सकती है। भूमिपालन में राजा को पाप भी करना पड़े, तो वह उस रक्षा के पुण्य से मिट जाता है।

"यह सब सोचकर मेरा तो यही विचार है कि आप शीघ्र ही सब सामग्री के साथ रथ सजाकर हस्तिनापुर पर चढाई कर दें, और अपने तेज से शत्रुओ का मर्दन करके राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर लें। कौन है जो गाण्डीव से छूटे हुए फुकारते बाणो के सामने ठहर सकेगा ? युद्ध में लपलपाती हुई मेरी गदा के सामने रुकनेवाला योद्धा, हाथी या घोडा अभी तक नही जन्मा।"

युधिष्ठर की धर्म पर अडिग आस्था

भीम के ऐसे तीखे वचन सुनकर युधिष्ठिर विचलित न हुए। वस्तुत महाभारत के इस प्रकरण मे वेदव्यास ने अर्थ, धर्म और काम इस त्रिवर्ग के आपेक्षिक महत्व का मूल्याकन किया है। इसमें उस दृष्टिकोण का प्रतिपादन है जिसके अनुसार अर्थशास्त्रो के प्राचीन आचार्य अर्थ को ही त्रिवर्ग का सार मानते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के आरम्भ मे भी यही दृष्टिकोण पाया जाता है। अर्वाचीन अर्थशास्त्रियो की विचारधारा भी अर्थ की महत्ता के विषय मे इसी दृष्टिकोण के समानान्तर चलती है।

युधिष्ठिर ने कहा—"हे भीम, तुम्हारा कहना सच है। तुमने अपने वाग्बाणो से जो मुझे बीधा है, उसका मैं कुछ बुरा नही मानता। मेरी ही अनीति से यह व्यसन तुम लोगो पर पडा है। मैंने सोचा था, पासो के बल से धृतराष्ट्र के पुत्रो का राष्ट्र और राज्य हर लूगा। उलटे मुझे ही शकुनि ने मात दे दी। उसने माया का आश्रय लिया और मैं अमायिक बना रहा। हे भीमसेन, ऐसी भवितव्यता थी। हम लोग जिस गड्ढे में गिर गए थे, उससे द्रौपदी ने हमारी रक्षा की। तुम्हे ज्ञात है कि उसके बाद भी दुर्योधन ने एक दाव खेलने के लिए मुझे फिर ललकारा। उसके फलस्वरूप हमें बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना

हम सब उस शर्त से बधे है। राज्य के लिए उसका त्याग उचित नही

अतएव सुखोदय के लिए काल की प्रतीक्षा करो, जैसे बीज बोनेवाला फसल पकने की बाट देखता है। मेरी प्रतिज्ञा को तुम अविचल और सत्य जानो। अमृत और जीवन से भी बढ़कर मैं धर्म को मानता हूं। राज्य, पुत्र, यश और धन सत्य के एक अंश के बराबर भी नहीं है।"

भीमसेन का पुनः आग्रह

युधिष्ठिर की यह बात सुनकर भीमसेन का क्या समाधान होना था! उसने कहा—"जिसके पास अनन्त आयु हो, अथवा जो यह जानता हो कि कितने दिन जीना है, ऐसा कोई प्रत्यक्षदर्शी महात्मा ही समय की बाट देख सकता है। प्रतीक्षा करते-करते हमें तो ये तेरह वर्ष मार ही डालेंगे। इस जीवन से नरक में जाना भी मुझे रुचेगा। मुझे न रात को नींद है न दिन को। यह अर्जुन, यह नकुल, यह सहदेव और हमारी बूढ़ी मां, सब जड़-मूक बने बैठे हैं। हे दयालु ब्राह्मण-रूपी बन्धु, तुमने क्षत्रिय-कुल में जन्म क्यों लिया? तुमने तो मनु द्वारा राजाओं के लिए निर्दिष्ट धर्मों को सुना है, फिर क्यों गड़गड्डे में बैठे अपाहिज की भांति कर्महीन बने बैठे हो? हम सबको वर्ष भर छिपाकर रखने की तुम्हारी इच्छा ऐसे ही निष्फल है, जैसे कोई मुट्ठी भर फूस से हिमालय को ढकना चाहे। जैसे नदी के कछार में ऊंचा शाल-वृक्ष नहीं छिपता, और जैसे वन में श्वेत हाथी नहीं छिपता, वैसे ही तुम अज्ञात कैसे रह सकोगे? बचपन से ही लोग हमको पहचानते हैं। तुम्हारी अज्ञानचर्या मेरु को छिपाने के समान है। हम लोग तेरह महीने वन में रह चुके हैं। जैसे विद्वान प्रतीक धान को सोम का प्रतिनिधि मानते हैं वैसे ही महीना भी संवत्सर का प्रतिनिधि है। इसलिए तेरह वर्ष का वनवास पूरा हुआ समझो, और यदि तेरह वर्ष की मर्यादा तोड़ने का यह पाप लग भी गया तो किसी एक साण्ड को छककर खिलाने के पुण्य से उसे धो डालना। इसलिए आज ही शत्रु-वध का निश्चय कर डालो।"

भीमसेन के वचन सुनकर युधिष्ठिर गहरी सांस छोड़ने लगे। कुछ सोच-कर उन्होंने उसे समझाने का एक पैंतरा और बदला। वह कौरव-पक्ष के सुभटों के नाम गिनाकर उनके बल का बखान करने लगे और कहने लगे कि दुर्योधन का जीतना मुझ असहाय के लिए अशक्य है। उसे सुनकर

भीमसेन ने क्रोध से जलते हुए अपना माथा ठोक लिया और चुप हो रहे।

व्यासजी का परामर्श

उसी समय महायोगी व्यास वहा आगए और बोले—"हे युधिष्ठिर मैंने तुम्हारे मन की बात जान ली, और तुम्हे समझाने के लिए शीघ्र यहा आगया। भीष्म, द्रोण, कृप और कर्ण के कारण उत्पन्न तुम्हारा भय मैं दूर करूगा।" इतना कह व्यासजी ने युधिष्ठिर को एकान्त में ले जाकर 'प्रतिस्मृति' नाम की विद्या दी और कहा—"इसे लेकर अर्जुन इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर, और यम के पास जाकर अस्त्र प्राप्त करे। अर्जुन ऋषि है। वह विष्णु का सनातन अश है। नारायण की सहायता से वह सब कार्य सिद्ध करेगा और तुम भी अब यहासे दूसरे वन में चले जाओ।"

व्यास की बात सुनकर युधिष्ठिर द्वैतवन से सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन के दूसरे भाग मे चले गए। वहा उन्होंने अर्जुन से एकान्त मे कहा—"हे तात, कृष्ण द्वैपायन से मुझे यह मत्र मिला है, तुम इसे लेकर उन-उन देवताओ के पास जाओ और अस्त्रो को प्राप्त करो। पहले इन्द्र के पास जाना, वह तुम्हे अस्त्र प्रदान करेगा।"

अर्जुन को इन्द्र के दर्शन

बडे भाई की बात मानकर अर्जुन ने उसी समय दीक्षा ली और सब भाइयो और धौम्य की प्रदक्षिणा कर वह इन्द्र के पास चले। वह पहले हिमालय पर पहुचे और उसके एकदेश गन्धमादन पर्वत (बदरीनाथ के पास हिमालय की एक चोटी जो अभी तक इसी नाम से प्रख्यात है) से आगे बढकर इन्द्रकील चोटी पर पहुचे। वहा उन्होंने वृक्ष के नीचे खडे हुए एक तपस्वी को देखा। उसने पूछा—"तुम कौन हो? यहा क्यो आये हो? यहा शस्त्र का क्या काम? यह धनुष फेक दो। यह शान्त आश्रम है।"

ब्राह्मण ने बार-बार ऐसा कहा, किन्तु अर्जुन अपने दृढ निश्चय से न डिगा। तब उस ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर कहा—"मै ही इन्द्र हू। तुमसे प्रसन्न हुआ। मुझसे वर मागो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्, यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे अस्त्र-विद्या का ज्ञान कराइए।"

इन्द्र ने अर्जुन को उस व्रत से हटाना चाहा, किन्तु उनका निश्चय देखकर कहा—"तुम पहले त्रिशूलधारी भूतेश भगवान् शिव का दर्शन करो, तब तुम्हें दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति होगी।" यह कहकर इन्द्र चले गए और अर्जुन वहीं योग-साधना करते हुए रहने लगे।

किरातवेषधारी शिव

इसके बाद महाभारत में कैरातपर्व संज्ञक प्रकरण है। जनमेजय ने विस्तार से अर्जुन की अस्त्र-प्राप्ति की कथा जाननी चाही। उसीके फलस्वरूप यह बड़ा प्रकरण मूल ठाट के बाद किसी समय जोड़ा गया।

वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा—यह महती कथा मैं तुम्हें सुनाता हूं—

युधिष्ठिर की आज्ञा से जब अर्जुन हिमालय पर पहुंचे और वहांपर तप करने लगे तब उनके घोर तप से प्रभावित होकर ऋषियों ने शंकर को सूचना दी—"हे देव, यह पार्थ क्यों उग्र तप कर रहा है? हम उसके तप से जलने लगे हैं। उसे कृपया निवृत्त कीजिए।"

शिवजी ने उत्तर दिया—"तुम जाओ, मैं उसके मन का पता लगाता हूं। जो उसकी इच्छा होगी, पूरी करूंगा।" यह कह शिवजी किरात के वेश में अर्जुन के समीप आये। उन्होंने देखा कि एक दितिपुत्र मूक वराह-रूप में अर्जुन की ओर ताक रहा है और उसे मारना चाहता है। अर्जुन ने उसे देखकर कहा—"रे दुष्ट, तू मुझ निष्पाप को मारना चाहता है, मैं तुझे ही यमलोक भेजता हूं।"

अर्जुन को प्रहार करने देख किरात ने उसे रोका, पर अर्जुन ने उसकी बात अनसुनी करके निशाने पर अपना बाण चला दिया। इधर किरात ने भी अपने बाण से उस वराह को बींध डाला। अर्जुन ने डपटकर किरात से कहा—"एक ही निशाने पर दूसरे का बाण चलाना शिकार का नियम नहीं। मैं तुझे अभी यमलोक भेजता हूं।"

किरात ने मृदुता से उत्तर दिया—"यह तो मेरा ही लक्ष्य था और मेरे ही प्रहार से मरा है। यदि तुझमें इतना दर्प है, तो तू भी बाण चला।"

इस प्रकार बात बढ गई और वे दोनो एक-दूसरे से गुथ गए। अन्त में अर्जुन की शक्ति से प्रसन्न होकर शिव ने वर मागने के लिए कहा। अर्जुन ने कहा—"भगवन्, यदि आप प्रसन्न है तो मुझे दिव्य प शुपत-अस्त्र दीजिए, जो अत्यन्त घोर है और जिसे ब्रह्मशिर कहते है।"

शिव वह पाशुपत-अस्त्र एव उसके धारण, मोक्ष और सहार का सब रहस्य अर्जुन को सिखाकर चले गए।

अर्जुन का स्वर्ग-गमन

अर्जुन अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए कि मैंने साक्षात् महादेव का दर्शन पा लिया। तदनन्तर उन्होंने और भी लोकपालो को प्रसन्न किया। फलस्वरूप यम से उन्हे दण्ड, वरुण से पाश तथा कुबेर से अन्तर्धान और प्रस्वापन करानेवाला दिव्य अस्त्र प्राप्त हुआ। इन्द्र ने भी मातलि के साथ अपना रथ भेजकर अनेक प्रकार के दिव्य प्रभाववाले वज्र, चक्र, प्रास, हुडके और वायु से फटनेवाले गोले प्रदान किये (गुड वायुस्फोट)।

मातलि ने अर्जुन से निवेदन किया—"आप कृपया इस रथ पर बैठकर स्वर्ग चले। इन्द्र ने आपको अमरावती में बुलाया है।"

अर्जुन गए और उन्होने दिव्य इन्द्रपुरी का दर्शन किया। इद्र ने पुत्र-वात्सल्य से अर्जुन का मस्तक सूघा और हाथ पकडकर अपने पास बैठाया। अर्जुन ने अपने पिता के भवन मे रहते हुए अनेक दिव्य महास्त्रो को उनके सहार-मत्रो के साथ सीखा। वह वहा पाच वर्ष सुख से रहे। तब इन्द्र के कहने से अर्जुन ने चित्रसेन गन्धर्व से नृत्य गीत-वादित्र की भी शिक्षा ली।

इसी समय लोमश ऋषि वहा आ पहुचे। उन्होने अर्जुन को इन्द्र के साथ ही अर्धासन पर बैठे देखकर शका की —"हे शक्र, क्षत्रिय अर्जुन को इन्द्रासन कैसे मिला? इसका ऐसा क्या पुण्य है?"

इन्द्र ने कहा—"हे ब्रह्मर्षि, यह केवल क्षत्रिय नही, मेरा पुत्र है। नर-नारायण नाम के जो दो पुराण-ऋषि है उनमें से यह एक है। बदरी नामक पुण्य आश्रम में विष्णु और जिष्णु नाम के ऋषि रहते है। वे ही इस समय भूमि का भार उतारने के लिए उत्पन्न हुए हैं। आप मेरे कहने से काम्यक वन में जाकर युधिष्ठिर को सूचित कर दे, वे अर्जुन के लिए उत्कण्ठित न हो।

वह अस्त्र-विद्या सीखकर शीघ्र ही उनसे मिलेगा। उस बीच वे भी तीर्थाटन करके अपने चित्त को सुखी करें। हे द्विजवर, मेरी इच्छा है कि आप इन तीर्थ-यात्रा में उनके साथ रहें।" तपस्वी लोमश ऋषि इन्द्र की बात मानकर काम्यक वन में चले आये।

स्पष्ट ही अर्जुन के विषय में यह कथानक पचरात्र भागवतों के प्रभाव से निर्मित हुआ है। इसी आरण्यक पर्व के ४९वें अध्याय में पच्चीस श्लोकों का अति संक्षिप्त एक कथानक है जिसमें कहा गया है कि काम्यक वन में पाण्डव कृष्णा के साथ रहते थे। कभी एकान्त में भीम ने युधिष्ठिर से पूछा कि अर्जुन कहां गए हैं, और द्रौपदी के दुःख की ओर ध्यान दिलाते हुए क्षात्र धर्म की आवश्यकता पर जोर दिया गया और लड़कर दुर्योधन को मारने का वही प्रस्ताव किया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, और युधिष्ठिर ने भी केवल तीन श्लोकों में वही ठंडा उत्तर दिया कि तेरह वर्ष बाद समय आने पर हम अवश्य दुर्योधन को मारेंगे। इसीके बाद वहां बृहदश्व ऋषि आगए।

ज्ञात होता है कि मूल कथा का सूत्र इतना ही था। उसीका साहित्यिक विस्तार ऊपर किया गया। किस प्रकार बृहदश्व ऋषि ने युधिष्ठिर से नलोपाख्यान का वर्णन किया।

: २४ :

नलोपाख्यान

बृहदश्व ऋषि का स्वागत-सत्कार करके युधिष्ठिर ने उनसे अपना सब दुखड़ा सुनाया—"भगवन्, अक्षद्यूत में मेरा राज्य और धन चला गया। बेईमान जुआरियों ने मुझे बुलाकर ठग लिया। मेरी प्यारी भार्या को वे सभा में खींच लाये। मेरे-जैसा भाग्य का पोच और कोई राजा आपने देखा या सुना है? मैं तो समझता हूं कि मुझसे बढ़कर दुखियारा और कोई नहीं है।"

यह सुनकर बृहदश्व ऋषि ने कहा—"महाराज, आपसे भी अधिक दुखिया एक राजा था। निषध देश में वीरसेन राजा के नल नाम का पुत्र

था। वह बडा धर्मात्मा था, किन्तु सुना है कि उसको भी पुष्कर ने छल से ठग लिया था। वह भी अपनी पत्नी के साथ दुःख सहता हुआ वन में रहा। हाथी, घोडे, भाई-बन्धु, कोई भी उसके साथ नही रहा। आपके पास तो आपके देवकल्प वीर भाई है और अनेक ब्रह्मकल्प ब्राह्मण है। अतएव आपका शोक करना उचित नही।"

सक्षेप मे नल की कथा इतनी ही थी, किन्तु महाभारत के शतसाहस्री सहितावाले अन्तिम सस्करण मे कथा का वह मूल बीज नलोपाख्यान नामक सुन्दर काव्य के रूप में विकसित हुआ। भाषा और कथा-प्रवाह दोनो की दृष्टि से नलोपाख्यान महाभारत का अत्यन्त उत्कृष्ट अश है। यूरोप की अनेक भाषाओ में पृथक् रूप से इसके अनुवाद हो चुके है। मानवीय दुःख-सुख के मार्मिक स्थलो से भरे हुए कितने ही स्थल इस कथा में आते है। ज्ञात होता है, प्राचीन नियतिवादी दार्शनिको के तरकश का एक अचूक बाण यह नलोपाख्यान था, जिसमें बडे-बडो को चक्कर में डाल देनेवाले भाग्य की करतूत का प्रभावशाली दृष्टात पाया जाता है।

युधिष्ठिर ने कहा—"भगवन्! मैं महात्मा नल के चरित्र को विस्तार से सुनना चाहता हू। कृपा कर कहिए।" बृहदश्व ऋषि बोले—

वीरसेन राजा का पुत्र नल अत्यन्त बलवान, रूपवान, गुणवान और अश्वविद्या में चतुर था। वह निषध देश का राजा था। उसे पासो से खेलने का शौक था। उसी प्रकार विदर्भ जनपद में भीम नाम का राजा था। उसके दमयन्ती नाम की कन्या तथा दम, दान्त और दमन नाम के तीन पुत्र थे। दमयन्ती रूप, तेज, श्री और सौभाग्य के कारण लोक में यशस्विनी हुई। देव, यक्ष, और मनुष्यो में ऐसी सुन्दरी कोई न थी। नल भी रूप में अद्वितीय था। वह साक्षात् कामदेव के समान था। लोगो ने कुतूहलवश दमयन्ती के समीप नल के रूप की प्रशसा की और नल के समीप दमयन्ती की।

पारस्परिक आकर्षण

उन दोनो ने एक-दूसरे को कभी देखा न था, फिर भी बार-बार गुण सुनने से परस्पर प्रेम उत्पन्न होगया। एक बार नल उसी प्रेम से आकुल होकर

अपने अन्तःपुर के उद्यान में अकेला बैठा था। उसने सुनहले पखोंवाले कुछ हंसों को वन में विचरते देखा और उनमें से एक पक्षी को पकड़ लिया। उस पक्षी ने नल से कहा—"मुझे मत मारिये, मैं तुम्हारा हित करूंगा। दमयन्ती के समीप जाकर मैं तुम्हारा ऐसा गुणगान करूंगा कि वह किसी दूसरे को न चाहेगी।"

यह सुनकर नल ने हंस को छोड़ दिया। वे हंस उड़कर विदर्भ नगरी में पहुचे और दमयन्ती के पास जाकर उतरे। उसने भी अद्भुत सुनहले हंसों को देखकर उन्हें पकड़ने की इच्छा की और सखियों के साथ उनका पीछा किया। हंस प्रमदवन में फैल गए। तब दमयन्ती ने जिस हंस का पीछा किया था, उसने मनुष्य की वाणी में कहा—"हे दमयन्ती, निषध देश में नल नाम का राजा रूप में अश्विनीकुमार जैसा है। यदि तू उसकी पत्नी होजाय तो तेरा यह जन्म और रूप सफल हो। तू स्त्रियों में रत्न है, और वह पुरुषों में। योग्य का योग्य से संगम ही गुणवान् होता है।"

यह सुनकर दमयन्ती ने हंस से कहा—"अच्छा, तू जा और नल से भी यही कह।" हंस ने निषध देश में आकर नल से यह समाचार कहा।

नल का दौत्य कर्म

उस दिन से दमयन्ती नल के लिए अस्वस्थ रहने लगी। सखियों ने भीम से सब हाल बताया। राजा ने आकर देखा और समझ लिया कि इसका स्वयंवर करना चाहिए। उन्होंने सब राजाओं को स्वयंवर का समाचार भेज दिया। उसे सुनकर अनेक राजा स्वयंवर के लिए आये। उसी समय नारद और पर्वत नाम के ऋषि घूमते हुए स्वर्गलोक में आये। नारद ने इन्द्र को दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार कहा। उसी समय अग्नि, यम और वरुण ये लोक-पाल भी वहा आगए। नारद के वचन सुनकर सबने कहा—"हम भी उस स्वयंवर में चलेंगे।" यह कह वे सब विदर्भ की ओर चले।

इधर नल भी स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए चला। देवता मार्ग में नल को साक्षात् कामदेव के समान देखकर ठक रह गए। उन्होंने पास आकर कहा—"हे नैषध, तुम बड़े सत्यव्रती हो। हमारी सहायता करो और हमारी ओर से दूत बनकर जाओ।"

नल ने कहा—"अच्छा करूगा", और पूछा, "आप कौन हैं, और वह कौन है जिसके पास मुझे दूत बनकर जाना है और मुझे वहा क्या काम करना है ?"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"हम देवता है, दमयन्ती के लिए आये हैं। मैं इन्द्र हू, यह अग्नि हैं, यह वरुण है और यह यम हैं। तुम दमयन्ती के पास जाकर कहो कि वह हममें से किसी एक को अपना पति चुन ले।"

यह सुनते ही नल सन्नाटे में आगया और बोला—"मै भी उसी काम से आया हू। मुझे वहा न भेजिए।"

देवताओ ने घुडककर कहा—"तुम्हारा काम करूगा, यह तुम कह चुके हो। फिर कैसे न करोगे ? जल्दी जाओ, देर मत करो।"

लाचार नल ने फिर कहा—"उसके महलो में वडा पहरा है। मै कैसे वहा जा पाऊगा ?"

इन्द्र ने भरोसा दिया कि तुम जा सकोगे।

"अच्छा जाता हू" कहकर नल दमयन्ती के महल में पहुचा और वहा सखियो के बीच में अत्यन्त रूपवती दमयन्ती को देखते ही उसके हृदय में कामाग्नि जल उठी। पर वह सच्चा था। उसने अपने काम-भाव को रोक लिया। नल को देखकर उन स्त्रियो में खलबली मच गई। सब उसके रूप से मोहित हो गई। दमयन्ती ने हँसते हुए उससे पूछा—"तुम कौन हो और यहा तक कैसे चले आये ?"

नल ने कहा—"हे कल्याणि, मैं नल हू। देवो का दूत होकर यहा आया हू। देवता तुम्हें चाहते हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम इनमें से किसी एक को अपना पति चुनो। उन्हीके प्रभाव मे मै यहातक आगया, किसीने देखा नही।"

यह सुनकर दमयन्ती ने देवताओ को तो प्रणाम किया और नल से बोली—"हे राजन् ! मेरे ऊपर अनुग्रह करो। मैं, और जो मेरा धन है, सब तुम्हारा हैं। हसो ने जो बात मुझसे कही थी, उसीसे मै सतप्त हू। तुम्हारे लिए ही मैंने राजाओ को एकत्र किया है। यदि मुझे स्वीकार न करोगे तो विष, अग्नि, जल या रस्सी से प्राण-त्याग कर दूगी।"

नल ने उत्तर दिया—"लोकपालो के होते हुए मनुष्यो को तुम क्यों

चाहती हो ? मैं तो उनके पैरो की धूलि भी नही हू । देवताओ के विपरीत व्यवहार करने मे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। तुम मेरी रक्षा करो और देवताओ को वरो ।"

दमयन्ती ने नल की यह गद्गद वाणी सुनी और बोली—"मैं उपाय बताती हू, जिससे तुम्हें कुछ हानि या दोष न होगा । तुम और चारो लोक-पाल स्वयवर मे आओ । वहा देवताओ के सामने ही मैं तुम्हे वर लूगी ।"

यह सुनकर नल देवो के पास लौट आया और सब हाल बताकर बोला—"मैंने आप सबका वर्णन उससे किया, किन्तु उसने कहा कि मैं तुम्हे ही चाहती हू । देवता और तुम स्वयवर में आओ । वही लोकपालो के सामने तुम्हे वरूगी । तब तुम्हे दोष न होगा । यही सच्ची घटना है। आगे आप जैसा चाहे करे ।"

दमयन्ती का नल-वरण

शुभ तिथि-मुहूर्त मे राजा भीम ने स्वयवर रचाया । सुनहले खम्भो पर बने हुए तोरणो से युक्त उस महारग मे बिछे हुए आसनो पर राजा बैठ गए । दमयन्ती भी रगभूमि मे आई । जब राजाओ के नामो का कीर्तन होने लगा तब दमयन्ती ने एक-सी आकृतिवाले पाच पुरुषो को बैठे देखा। वह न समझ सकी कि नल कौन है । उसने सोचा बडे-बूढो से देवताओ के जो चिह्न सुने है, वे तो इनमें से एक में भी नही है। ये सभी पृथिवी पर बैठे है । वह जब निश्चय न कर सकी तो उसने मन-ही-मन देवो को प्रणाम कर कहा—"हंसो का वचन सुनकर यदि नल को मैं अपना पति मान चुकी होऊ तो उस सत्य के बल से देवता ही मुझे बतायें कि नल कौन-सा है । वे लोकपाल अपना रूप प्रकट करे जिससे मैं नल को पहचान लू ।"

उनके मन की विशुद्धि, बुद्धिमत्ता, भक्ति और प्रेम देखकर देवो ने अपने चिह्न प्रकट कर दिये । दमयन्ती ने देवो को देखा । उनके शरीर पर स्वेद न था । उनके नेत्र एकटक थे । उनकी मालाओ के फूल खिले हुए थे और वे पृथिवी से कुछ अगुल ऊपर बैठे थे । वह तुरन्त नल को पहचान गई । उसके शरीर की छाया पडती थी । उसकी माला के फूल कुछ कुम्हला गए थे । उसके

नल ने कहा—"अच्छा करूगा", और पूछा, "आप कौन हैं, और व कौन है जिसके पास मुझे दूत बनकर जाना है और मुझे वहा क्या का करना है ?"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"हम देवता है, दमयन्ती के लिए आये हैं मैं इन्द्र हू, यह अग्नि हैं, यह वरुण है और यह यम हैं। तुम दमयन्ती के पा जाकर कहो कि वह हममें से किसी एक को अपना पति चुन ले।"

यह सुनते ही नल सन्नाटे में आगया और बोला—"मैं भी उसी काम आया हू। मुझे वहा न भेजिए।"

देवताओ ने घुडककर कहा—"तुम्हारा काम करूगा, यह तुम कह चु हो। फिर कैसे न करोगे ? जल्दी जाओ, देर मत करो।"

लाचार नल ने फिर कहा—"उसके महलो में बडा पहरा है। मैं कै वहा जा पाऊगा ?"

इन्द्र ने भरोसा दिया कि तुम जा सकोगे।

"अच्छा जाता हू" कहकर नल दमयन्ती के महल में पहुचा और व सखियो के बीच में अत्यन्त रूपवती दमयन्ती को देखते ही उसके हृदय कामाग्नि जल उठी। पर वह सच्चा था। उसने अपने काम-भाव को रो लिया। नल को देखकर उन स्त्रियो में खलबली मच गई। सब उसके रूप मोहित हो गई। दमयन्ती ने हँसते हुए उससे पूछा—"तुम कौन हो और य तक कैसे चले आये ?"

नल ने कहा—"हे कल्याणि, मैं नल हू। देवो का दूत होकर यहा आ हू। देवता तुम्हे चाहते है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम इनमें से किसी एक अपना पति चुनो। उन्हीके प्रभाव से मैं यहातक आगया, किसीने दे नहीं।"

यह सुनकर दमयन्ती ने देवताओ को तो प्रणाम किया और नर बोली—"हे राजन् ! मेरे ऊपर अनुग्रह करो। मै, और जो मेरा धन है, तुम्हारा हैं। हसो ने जो बात मुझसे कही थी, उसीसे मैं सतप्त हू। तु लिए ही मैंने राजाओ को एकत्र किया है। यदि मुझे स्वीकार न करो विष, अग्नि, जल या रस्सी से प्राण-त्याग कर दूगी।"

नल ने उत्तर दिया—"लोकपालो के होते हुए मनुष्यो को तुम

तब एक बार पैर धोये बिना नल सन्ध्योपासन के लिए बैठ गया। तुरन्त कलि उसमें प्रविष्ट हो गया और पुष्कर ने जाकर बोला—"तू नल के साथ अक्षद्यूत कर और उसे जीतकर निषध का राजा बन। मैं तेरी सहायता करूंगा।" यह सुनकर पुष्कर ने नल को द्यूत के लिए ललकारा। नल उस चुनौती को न सह सका और दमयन्ती के सामने ही जुआ खेलने लगा। वह अपने सब रत्न, सुवर्ण और धन, यान, वाहन और वस्त्र हार गया। अक्ष-मद में मत्त हुए उसे कोई न रोक सका।

तब पौर-जनो ने मन्त्रियो के साथ आकर सूत द्वारा निवेदन किया कि हम नल के दर्शन करना चाहते है। दमयन्ती ने आखो में आसू भरकर नल को सूचित किया, किन्तु वह कुछ न बोला। मन्त्री और पुरवासी निराश हो अपने-अपने घरो को लौट गए एव नल और पुष्कर का वह द्यूत उसी भाति चलता रहा।

विपत्ति आई जानकर दमयन्ती ने मन्त्रियो को पुन बुलवाया और नल को उनके आने की सूचना दी, किन्तु नल ने फिर भी न सुना। हताश हो दमयती ने कहा—"राजा की बुद्धि पर मोह का ऐसा परदा पड़ा है कि मेरा भी वचन नही सुनता।" वह अपने सारथी से बोली—"मेरा मन कहता है कि अब कुछ शेष न बचेगा। तुम इन मेरे पुत्र-पुत्री को रथ पर बैठा कर कुण्डिनपुर जाओ और इन्हे वहा छोडकर या तो तुम वही ठहरना या अन्यत्र चले जाना।"

वह सारथी इन्द्रसेना और इन्द्रसेन को विदर्भ में भीम के पास पहुचा कर स्वय घूमता हुआ अयोध्या मे ऋतुपर्ण राजा के यहा जाकर रहा।

धीरे-धीरे पुष्कर ने नल का राज्य और धन सब हर लिया और हँसते हुए कहा—"आओ, फिर द्यूत खेले। कुछ दाव पर रखने के लिए है? अब तो मैं सब ले चुका, एक दमयन्ती बची है। यदि चाहो तो उसे भी दाव पर रख दो।"

पुष्कर की यह बात सुनकर क्रोध से नल का हृदय विदीर्ण होगया। उसने कुछ कहा नही, किन्तु क्रोध मे अपने सब आभूषण उतारकर फेंक दिये और केवल एक धोती पहन कर वहाने निकल पडा। यह कुशल ही हुई कि युधिष्ठिर की तरह नल ने दमयन्ती को दाव पर नही रख दिया।

शरीर पर धूल और पसीना था। वह पलक झपका रहा था और धरती को छूकर बैठा था। उसने लजाते हुए नल का पल्ला पकड लिया और उसके गले में जयमाला डाल दी। राजा 'हा-हा', करने लगे, किन्तु देवता और महर्षियों ने 'साधु-साधु' कहा। लोकपालो ने प्रसन्न होकर नल को आठ वर दिये।

इन्द्र ने कहा—"तुम्हारे यज्ञ में मै प्रत्यक्ष दर्शन दूगा और तुम्हे शुभ गति मिलेगी।" अग्नि ने कहा—"तुम जहा चाहोगे मुझे उत्पन्न कर सकोगे और तुम मेरे ज्योतिष्मान लोको को प्राप्त करोगे।" यम ने कहा—"धर्म में तुम्हारी स्थिति होगी और तुम्हारे अपने हाथ से बनाये हुए अन्न में रसायन का स्वाद प्राप्त होगा।" वरुण ने कहा—"तुम जहा चाहोगे जल उत्पन्न कर लोगे। मै यह उत्तम गधवती फूलमाला तुम्हें देता हू।" आठो ने मिलकर उसे सन्तान का वर दिया। इस प्रकार नल ने दमयन्ती को प्राप्त किया और उसके साथ सुख-भोग करने लगा।

जब स्वयवर से लोकपाल लौट रहे थे, तब उन्हें मार्ग में द्वापर और कलि मिले। इन्द्र के यह पूछने पर कि वे कहा जा रहे हैं, कलि ने कहा कि दमयती के स्वयवर में जाकर उसे वरूगा। इसपर इन्द्र ने बताया कि स्वयवर तो हो गया और हमारे रहते दमयन्ती ने नल को पति चुन लिया। इतना सुनना था कि कलि ने भभककर कहा—"देवो के बीच में मनुष्य को उसने अपना पति चुना! इसका दण्ड मै उसे दूगा।" देवताओ ने समझाया कि हमारी सहमति से दमयन्ती ने ऐसा किया है। उस धर्मात्मा को यदि तुम दुःख दोगे तो तुम्ही दोष के भागी बनोगे।"

अक्षद्यूत मे नल का सर्वस्व हारना

देवता तो स्वर्ग लौट गए और कलि ने द्वापर से कहा—"हे द्वापर, मेरा क्रोध तभी ठडा होगा जब मै इस नल को राज्य से उखाड दूगा, जिससे दमयन्ती के साथ वह सुखी न हो सके। तुम्हे पासो में घुसकर मेरी सहायता करनी होगी।"

यह सकल्प करके वह निषध देश मे आया और बारह वर्षतक नल के महल का चक्कर काटता रहा, पर उसे नल की कोई चूक दिखाई न पडी।

तब एक बार पैर धोये बिना नल सन्ध्योपासन के लिए बैठ गया। तुरन्त कलि उसमें प्रविष्ट हो गया और पुष्कर से जाकर बोला—"तू नल के साथ अक्षद्यूत कर और उसे जीतकर निषध का राजा बन। मैं तेरी सहायता करूंगा।" यह सुनकर पुष्कर ने नल को द्यूत के लिए ललकारा। नल उस चुनौती को न सह सका और दमयन्ती के सामने ही जुआ खेलने लगा। वह अपने सब रत्न, सुवर्ण और धन, यान, वाहन और वस्त्र हार गया। अक्ष-मद से मत्त हुए उसे कोई न रोक सका।

तब पौर-जनो ने मन्त्रियो के साथ आकर सूत द्वारा निवेदन किया कि हम नल के दर्शन करना चाहते है। दमयन्ती ने आखो मे आसू भरकर नल को सूचित किया, किन्तु वह कुछ न बोला। मन्त्री और पुरवासी निराश हो अपने-अपने घरो को लौट गए एव नल और पुष्कर का वह द्यूत उसी भांति चलता रहा।

विपत्ति आई जानकर दमयन्ती ने मन्त्रियो को पुन बुलवाया और नल को उनके आने की सूचना दी, किन्तु नल ने फिर भी न सुना। हताश हो दमयती ने कहा—"राजा की बुद्धि पर मोह का ऐसा परदा पडा है कि मेरा भी वचन नही सुनता।" वह अपने सारथी से बोली—"मेरा मन कहता है कि अब कुछ शेष न बचेगा। तुम इन मेरे पुत्र-पुत्री को रथ पर बैठा कर कुण्डिनपुर जाओ और इन्हे वहा छोडकर या तो तुम वही ठहरना या अन्यत्र चले जाना।"

वह सारथी इन्द्रसेना और इन्द्रसेन को विदर्भ में भीम के पास पहुचा कर स्वय घूमता हुआ अयोध्या मे ऋतुपर्ण राजा के यहा जाकर रहा।

धीरे-धीरे पुष्कर ने नल का राज्य और धन सब हर लिया और हँसते हुए कहा—"आओ, फिर द्यूत खेले। कुछ दाव पर रखने के लिए है? अब तो मैं सब ले चुका, एक दमयन्ती बची है। यदि चाहो तो उसे भी दाव पर रख दो।"

पुष्कर की यह बात सुनकर क्रोध से नल का हृदय विदीर्ण होगया। उसने कुछ कहा नही, किन्तु क्रोध मे अपने सब आभूषण उतारकर फेंक दिये और केवल एक धोती पहन कर वहा से निकल पडा। यह कुशल ही हुई कि युधिष्ठिर की तरह नल ने दमयन्ती को दाव पर नही रख दिया।

पतिव्रता दमयन्ती एक साडी पहने नल के पीछे हो ली। नल उसके साथ तीन दिन तक नगर के बाहर ठहरा। पुष्कर ने घोषणा करा दी कि जो कोई किसी प्रकार नल का सत्कार करेगा, मैं उसे प्राण-दण्ड दूगा। भय से किसीने भी नल की आवभगत न की। तीन दिन तक वह केवल जल पीकर रहा। चौथे दिन उसने कुछ सुनहले पक्षियो को देखकर सोचा कि मैं इनसे ही अपनी भूख बुझाऊ। यह सोचकर उसने उन्हे पकडने के लिए अपनी घोती फेकी। वे उसे लेकर उड चले और कहते गए—"हे मूर्ख, हम वे ही पासे है। तुम वस्त्र पहनकर यहा से जाओ, यह हम नही सह सकते।"

यातायात के तीन मार्ग

दीन बने हुए नल ने दमयन्ती से कहा—"हे यशस्विनी, मैं अत्यन्त विपरीत दशा को प्राप्त होगया हू। मेरेलिए भोजन का भी ठिकाना नही। तुम मेरी बात सुनो। यह देखो, सामने बहुत-से मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओ में जा रहे हैं। यह विदर्भ का मार्ग है जो अवन्तिपुरी, विन्ध्याचल और पयोष्णी (ताप्ती) नदी को पार करता हुआ विदर्भ में जाता है। वह देखो दक्षिण कोशल को जाने का मार्ग है। इन दोनो से उस पार सुदूर दक्षिण में दक्षिणा-पथ देश को तीसरा मार्ग गया है।"

यहा नल ने जो तीन मार्ग बतलाए है, वे ही तीनों मार्ग आज भी भारतीय रेल-पथ ने लिय हैं। काली-सिन्ध और सिन्ध के बीच मे प्राचीन निषध जन-पद था, जिसकी राजधानी नलपुर आज का नरवर है। इसी प्रदेश में खडे होकर नल ने तीनो मार्गों का निर्देश किया है। इस स्थान से रतलाम को जाते हुए रेल-पथ के लगभग साथ उतरते हुए पहला मार्ग उज्जैन, वहा से विन्ध्य पार करके नर्मदा उतरते हुए खडवा और वहा से ठीक नीचे उतरते हुए वर्तमान रेलमार्ग के साथ ताप्ती पार करते हुए विदर्भ अर्थात् अमरावती (बरार) की ओर जाता है। इसी प्रकार नरवर से पूर्व की ओर चलते हुए बेतवा नदी और उसके आसपास का घना जगल, जिसका पुराना नाम विन्ध्या-टवी था, पार करके बीना, सागर, दमोह, कटनी, सुहागपुर, बिलासपुर का मार्ग दक्षिण कोशल को जाता था। यही महाभारतकार के अनुसार पश्चिम और पूरब के दो मुख्य यातायात के मार्ग थे। जो विदर्भ मार्ग और कौशल-

मार्ग कहलाते थे। इन दोनो के बीच में तीसरा दक्षिणापथ मार्ग था, जो विन्ध्य की खडी हुई पट्टी के पूर्व ग्वालियर के धुर दक्षिण झासी-वीना और वहा से सागर-कटनी होकर जवलपुर की ओर मुडता हुआ पुन उस मार्ग में जा मिलता था, जो आज भी नागपुर से दक्षिण की ओर जानेवाली यातायात की वडी धमनी है।

दमयन्ती का परित्याग

मार्ग का वर्णन सुनकर दमयन्ती का मन शकित हुआ। उसने रुधी हुई वाणी से कहा—"मेरा हृदय कापता है। आपके मन में क्या है ? धन, वस्त्र, राज्य मे विहीन, क्षुधा और श्रम से व्यथित आपको अकेले वन में छोडकर मैं कहा जाऊगी ? इस घोर वन में मैं आपकी कुछ सेवा कर सकू, यही मेरेलिए सवकुछ है। स्त्री के समान दूसरी कौन-सी दु ख की महौपधि है ? आप मुझे मार्ग क्यो वता रहे है ?"

नल ने कहा—"दमयन्ती, ठीक कहती हो। भार्या के समान दुखी मनुष्य का और कोई मित्र नही। वह आर्त की परम औपध है। मैं तुम्हे छोडना नही चाहता। हे भीरु, क्यो शका करती हो ? मैं चाहे अपनेको छोड दू पर तुम्हें न छोडूगा।"

दमयन्ती ने कहा—"यदि आप मुझे छोडना नही चाहते, तो विदर्भ का मार्ग क्यो वता रहे है ? मनुष्य का दु खी मन उससे सव करा लेता है। यदि आप उचित समझें तो हम दोनो साथ ही उधर क्यो न चले ?"

नल ने कहा—"तुम ठीक कहती हो। जैसा तुम्हारे पिता का राज्य है वैसा ही मेरा, किन्तु विपत्ति में मै वहा न जाऊगा। इससे तुम्हारा शोक वढेगा।" यह कहकर नल दमयन्ती को साथ लिये आगे वढते हुए किसी गाव की 'सभा' (सस्थागार या खाली पडे हुए पचायतीघर) में पहुचा और थककर पृथिवी पर सोगया। नल चिन्ता में डूवा था, उसे नीद कहा ? सोचने लगा, यह मेरेलिए वहुत दु ख उठायगी। यदि मै इसे छोड दू तो सम्भव है यह अपने पिता के यहा चली जाय। उलट-पलटकर सोचते हुए उसके मन ने दमयन्ती को छोडना ही उचित समझा। वही सभा के एक कोने में नगी तलवार टगी थी। चुपचाप उसकी साडी का आधा भाग काटकर और उससे अपने आप

को ढक कर वह किसी प्रकार जी कडा कर वहा से चल पडा। झूले पर सवार हुए की तरह वह कभी बाहर जाता और कभी फिर सभा मे दमयन्ती के पास लौट आता। अन्त में कलि के प्रभाव से वह दमयन्ती को सोती छोडकर शून्य वन में निकल गया।

विन्ध्याटवी

जागने पर दमयन्ती अपनेको अकेला पाकर अनेक प्रकार से विलाप करने लगी। वह उस निर्जन स्थान में किसी प्रकार आगे बढी। वह घोर विन्ध्याटवी का प्रदेश था। बेतवा के दोनो किनारो पर दूर तक फैला हुआ यह प्रदेश भारतीय इतिहास में आटविक राज्य नाम से विख्यात रहा है। यह महाघोर अटवी झासी के दक्षिण से शुरू होकर बीना-सागर तक फैला हुआ विन्ध्याचल का जगल होना चाहिए। इसे महाभारतकार ने महारण्य, महाघोर वन या दारुण वन भी कहा है। यहीपर एक बडा पर्वत (गिरिराज महाशैल) था, जो विन्ध्याचल होना चाहिए। इसी प्रसग मे नल को नरवरोत्तम भी कहा गया है। इसीसे निषध जनपद की राजधानी नरवरगढ कहलाई।

दमयन्ती ने विलाप करते हुए वनदेवता, गिरि-देवता और नदी-देवता का स्मरण किया और सहायता के लिए अनेक प्रकार से उन्हे पुकारा। अन्त में उसे एक महासार्थ दिखाई पडा, जो बेंतो से भरी एक विस्तीर्ण नदी पार कर रहा था। यह वेत्रवती नदी होनी चाहिए। इस नदी को पार करके वह सार्थ चेदि जनपद की ओर जा रहा था। सार्थ का यह वर्णन सस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। पाच-पाच सौ छकडो पर व्यापार का सामान लादकर देश के एक छोर से दूसरे छोरतक यात्रा करनेवाले सार्थवाह यहा की समृद्धि और सस्कृति के मूल स्तम्भ थे। इस महासार्थ का नेता अनेक सार्थवाह वणिजो का स्वामी था। उसके सार्थ में वेदपारग ब्राह्मण, वणिक, युवा, स्थविर, बाल और अनेक पदाति जन थे। उसमें बैल, गधे, ऊट, घोडे, हाथी बहुत अधिक सख्या मे चल रहे थे। वह सार्थ-मडल मनुष्यो का समुद्र (जनार्णव) सा जान पडता था। वह सार्थ यक्षराज मणिभद्र का भक्त था। मणिभद्र पद्मावती (ग्वालियर राज्य में पवाया) का प्रधान देवता था, जहा उसकी महाकाय पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है। अनुमान होता है कि सार्थ

पद्मावती से चलकर वेतवा पार करके चेदि देश अर्थात् सागर-जवलपुर की ओर जा रहा था।

दमयन्ती भी उसी सार्थ के सग चलने लगी। रात में सार्थ ने नदी के कछार में पडाव डाला। सयोग से जगली हाथियो का झुड पानी पीने के लिए उधर आ निकला और उसने मार्ग में पडे हुए सार्थ को रौंद डाला। दमयन्ती ने अपने-आपको ही इस दुर्भाग्य का कारण समझकर वहुत विलाप किया। अगले दिन वचे हुए लोग पुन यात्रा करने लगे और सायकाल के समय दमयन्ती भी चेदिराज की राजधानी में पहुच गई। वहा राजमाता ने प्रासाद-तल से उसे देखकर समीप वुलवाया और अपने पास रख लिया। दमयन्ती राजकुमारी सुनन्दा के साथ रहने लगी। उसने सैरन्ध्री का कर्म करना स्वीकार किया।

उधर नल घोर जगल में प्रविप्ट हुआ। उसने कर्कोटक नाग को देखा। नाग ने अपने विप के प्रभाव से उसका वर्ण काला कर उसका आकार छिपा दिया। उसके कहने से नल अयोध्यानगरी में जाकर राजा ऋतुपर्ण के यहा अश्वाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हो गया।

यहा महाभारतकार ने अश्वाध्यक्ष का वेतन सौ शतमान (शत शता) प्रति मास अर्थात् पौने चार हजार कार्पापण कहा है, जो कौटिल्य में कहे हुए अश्वाध्यक्ष के वेतन अर्थात् चार हजार कार्पापण वार्पिक से लगभग मिल जाता है।

उधर दमयन्ती के पिता भीम ने नल और दमयन्ती को ढूढने के लिए ब्राह्मणो को चारो ओर भेजा। सुदेव नामक ब्राह्मण ने चेदिपुरी में पहुचकर दमयन्ती को उसके भ्रूमध्य में कमल के समान सुशोभित सुनहली झलक-वाले लहसुन के निशान (पिप्ल) से पहचाना और राजमाता की आज्ञा से उसे विदर्भ नगर ले आया।

पुनर्मिलन

दूसरी ओर पर्णाद नाम के ब्राह्मण ने अयोध्या नगरी में पहुचकर दमयती के वताये हुए कुछ श्लोक पढे, जिनका उत्तर वाहुक नामधारी नल ने दिया। उस सूत्र को लेकर वह दमयन्ती के पास लौट आया। दमयन्ती तत्त्व को समझ

गई। उसने अपनी माता से परामर्श किया और सुदेव नामक ब्राह्मण को सदेश लेकर अयोध्या भेजा—"हे सुदेव ! तुम जाकर ऋतुपर्ण से कहो कि दमयन्ती दूसरा पति करना चाहती है। उसके लिए स्वयवर हो रहा है। तुम कल तक वहा पहुचो। पता नही उसका पहला पति नल अभी जीता है या मर गया।" सुदेव के वचन सुनकर ऋतुपर्ण ने विदर्भ जाना निश्चित किया और नल से कहा—"मुझे तुम एक दिन मे अपनी अश्वविद्या की चातुरी से विदर्भ पहुचाओ।"

सब स्थिति समझकर पहले तो नल को बडी चोट लगी, फिर उसने राजा की आज्ञा से और अपने स्वार्थ के लिए वहा जाना ही ठीक समझा। उसने राजा की अश्वशाला से लक्षणवान, तेज-बल समायुक्त, कुलशीलसम्पन्न घोडो को चुनकर रथ सजाया और अपने कौशल से सायकाल तक विदर्भ पहुच गया। मार्ग में राजा ऋतुपर्ण ने उसे अक्षविद्या सिखाई।

ऋतुपर्ण को देखकर भीम चकित हुए, क्योकि उन्हें अपनी स्त्री और पुत्री के उस गुह्य मत्र का कुछ पता न था। फिर भी उन्होने ऋतुपर्ण की आव-भगत की। ऋतुपर्ण ने वहा स्वयवर की कोई धूमधाम न देखकर मन में समझ लिया और भीम से कहा कि मैं केवल आपका अभिवादन करने के लिए चला आया था।

इधर दमयन्ती ने रथशाला में ठहरे हुए नल के पास अपनी दासी केशिनी को भेजा और फिर अपने पुत्र-पुत्री को भेजा। नल ने देखते ही उन्हें गोद में उठा लिया। जब कई युक्तियो से दमयन्ती को निश्चय होगया कि नल आगए है, तब उसने अपने माता-पिता को सूचित कर दिया और उनकी आज्ञा लेकर पुत्र-पुत्री के साथ नल से मिली। मिलकर दोनो शोक और हर्ष से विह्वल होगए। इस प्रकार चौथे वर्ष में अपने पति से मिलकर दमयन्ती ऐसे हर्षित हुई जैसे आधी उगी हुई कृषि से युक्त भूमि वर्षा के आने से प्रफुल्लित होती है।

अगले दिन नल और दमयन्ती ने भीम की वन्दना की। वहा सब लोग प्रसन्न हुए। राजा ऋतुपर्ण ने भी नल से अज्ञातवास के समय अनजान में किये हुए किसी भी असत्कार के लिए क्षमा मागी। नल ने अत्यन्त हार्दिक भाव से ऋतुपर्ण के प्रति अपना आभार प्रकट किया और कहा कि मैं तो स्वगृह

की तरह ही आपके गृह में ठहरा। तब उसने अपनी अश्व-विद्या ऋतुपर्ण को प्रदान की।

राज्यप्राप्ति

एक मास विदर्भपुरी में रहकर नल निषध लौट आया और वहा उसने पुष्कर को द्यूत के लिए पुन ललकारा। पुष्कर ने ऊपरी आवभगत करते हुए कहा—"ठीक है। अब की दमयन्ती को दाव पर लगाइए। मैं उसीको पाकर अपनेको कृतकृत्य समझूगा। मैं नित्य उसका ध्यान करता रहा हू।" यह सुनकर नल को इतना क्रोध आया कि खड्ग से उसका सिर काट ले, किन्तु उसने ऊपर से हँसकर कहा—"आओ, पहले खेलो, पीछे शेखी बघारना।" पहले ही दाव में नल ने उसे हरा दिया और फिर डपटते हुए कहा—"अरे नीच, तू दमयन्ती की ओर देख भी नही सकता। अब परिवार-सहित उसकी दासता करेगा। रे मूढ, मेरा पूर्व कष्ट कलि के कारण हुआ था। अब मैं तेरे प्राणों की रक्षा करता हू। जा, तू मेरे भाई की तरह सौ वर्ष जीवित रह।" यह कहकर उसे उसके पट्टनगर भेज दिया।

पुष्कर ने आभार मानते हुए हाथ जोडकर कहा—"तुमने मुझे प्राण-दान और राज्य दिया, तुम्हारी कीर्ति अक्षय हो, तुम सहस्रो वर्ष सुख से जिओ।" यह कहकर वह अपने राज्य में चला गया। नल ने भी कुछ दिन बाद विदर्भ से दमयन्ती को बुला लिया।

इतनी कथा सुनाकर बृहदश्व ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा—"हे राजन्! नल ने जुए के कारण अकेले रह इतना घोर दुःख उठाया पर अन्त में अभ्युदय प्राप्त किया। तुम तो अपने भाइयो के साथ और द्रौपदी के साथ वन में रह रहे हो। अनेक महाभाग ब्राह्मण तुम्हारे साथ हैं। शोक क्यो करते हो? तुम भी इसी प्रकार सुख से युक्त होगे।

"नल का यह इतिहास कलि-नाशन है। जो इस महान् चरित्र को कहता और सुनता है, वह अलक्ष्मी का भाजन नही होता। हे राजन्! इस पुराने इतिहास को सुनकर तुम भी पुत्र-पौत्रो से युक्त होगे।"

नलोपाख्यान के अन्त की यह फल-श्रुति सहेतुक है। महाभारत और

पुराणो में जहा-जहा फलश्रुति प्राप्त हो, उस उपाख्यान को वाद में जोडा हुआ समझना चाहिए। प्राचीन ग्रथ निर्माण-शैली की यह मान्य पद्धति थी।

कथा सुनाकर बृहदश्व मुनि ने युधिष्ठिर को भी अक्ष-विद्या सिखाई और स्वय अपने आश्रम को चले गए।

: २५ :

तीर्थ-यात्रा—१

नलोपाख्यान के अनन्तर महाभारत का एक विशिष्ट प्रकरण तीर्थ-यात्रा-पर्व है। पूना के सशोधित सस्करण में अध्याय ८० से अध्याय १५३ तक कुल ७४ अध्याय इस उपपर्व में है, जिनके ये तीन विभाग है—(१) पुलस्त्य-तीर्थयात्रा (अ ८०–८३), (२) धौम्य-तीर्थ यात्रा (अ ८५–८८), और लोमश तीर्थ-यात्रा (अ ८९–१५३)।

प्राचीन काल में तीर्थ भू-सन्निवेश के विशिष्ट केन्द्र थे। नदियो के निर्जन तटो पर और घने जगलो में जब मनुष्य समुदाय पहुचता और बस्तियो की कल्पना की जाती तब तीर्थों का जन्म होता था। तीर्थ-स्थान जन-निवास, धर्म, विद्या, व्यापार और सस्कृति के आदि-केन्द्र बन जाते थे। पुराणो के समस्त तीर्थ-यात्रा प्रसगो को टटोला जाय तो उसका निश्चित फल भारत-भूमि का विशद परिचय है। तीर्थ-यात्रा द्वारा अपनी भूमि का साक्षात् दर्शन किया जाता था। तीर्थ परिक्रमा के जो प्रसिद्ध स्थल है उन्हे तीर्थ-यात्री क्रमानुसार देखता हुआ चलता थ। इस प्रकार चारो दिशाओ की यात्रा या परिक्रमा का दूसरा नाम प्रदक्षिणा है। इसमें यात्री घडी की सूई की तरह सदा अपने दाहिने हाथ की ओर घूमता है। महाभारत के इस प्रकरण में तीर्थ-यात्राओ के तीन प्राचीन वर्णन सुरक्षित रह गए हैं।

कथा का प्रसग इस प्रकार है—युधिष्ठिर भाइयो के साथ काम्यक वन में ठहरे हुए हैं। अर्जुन दिव्य अस्त्रो की प्राप्ति के लिए तप करने चले जाते हैं।

उनके विरह में सब भाई और द्रौपदी दुखी हैं। ऐसे समय नारद युधिष्ठिर के पास आते हैं और उनके मन की ग्लानि दूर करने के लिए पुलस्त्य और भीष्म के सवाद-रूप में भारतवर्ष के तीर्थों का वर्णन करते हैं (अ ८०–८३)। नारद के चले जाने के बाद युधिष्ठिर ने धौम्य से पूछा कि अपना जी बहलाने के लिए हम लोग वन से अन्यत्र कहा जाकर रहें। उन्हें दुखी देखकर उन्हे सान्त्वना देने के लिए धौम्य भी एक तीर्थ-परिक्रमा का वर्णन करते हैं (अ० ८५–८८)।

इस प्रकार ये दो तीर्थ-वर्णन हमारे सामने हैं। पुलस्त्य के तीर्थ-वर्णन में ५९८ श्लोक और धौम्य के तीर्थ-यात्रा-पर्व के चार अध्यायो में केवल १०२ श्लोक हैं। वस्तुत धौम्य की तीर्थ-यात्रा ही महाभारत का मूल अश था। वह अधिक प्राचीन, सक्षिप्त और क्रमबद्ध है।

धौम्य की तीर्थ-यात्रा काम्यक वन से चलकर पूर्व में गया और महेन्द्र एव पश्चिम में पुष्कर और द्वारका तक जाती है। दक्षिण की ओर उसका विस्तार कन्याकुमारी तक है। पुलस्त्य की तीर्थ-यात्रा का क्षेत्र पूरब में काम-रूप और पश्चिम में सिन्धु-सागर-सगम तक है। दक्षिण में यह भी कन्या-कुमारी तक जाती है। पुलस्त्य की तीर्थ-यात्रा के साथ वक्ता-रूप में नारद का नाम जुडा हुआ है। विदित होता है कि यह प्रसग गुप्त-काल के लगभग जोडा गया। उसके बाद में जोडे जाने का एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि धौम्य-तीर्थ-यात्रा के अन्त में फलश्रुति का एक श्लोक भी नही है, किन्तु नारद पुलस्त्य तीर्थ-यात्रा के अन्त में नियमानुसार फलश्रुति दी हुई है (अ ८३।८४–८७)।

इन दोनो तीर्थ-यात्राओ को सुनने के बाद युधिष्ठिर लोमश ऋषि का अपने आश्रम में स्वागत करते है और पथ-प्रदर्शन के लिए उन्हे साथ लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकलते है। इसका वर्णन अनेक अवान्तर कथाओ के साथ ६५ अध्यायो (अ ८९–१५३) में पाया जाता है। देश की चारो दिशाओ का यथा-सम्भव दर्शन इन तीर्थों के ही अन्तर्गत आ जाता है। उन्हे पढ़ने से मन पर यह छाप पडती है कि बदरी-केदार एव कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण दिशा में कन्याकुमारी तक की भूमि एक अखण्ड भौतिक एव धार्मिक सस्थान के अन्तर्गत मानी जाती थी।

धौम्य-तीर्थयात्रा

काम्यक वन मे उठकर पूरब की दिशा में पहले नैमिषारण्य है, जहा पवित्र गोमती नदी है। इसी दिशा में गगा नदी, पचाल, गया, फल्गु नदी और कौशिकी नदी है। इसी ओर कान्यकुब्ज और प्रयाग में गगा-यमुना का सगम है। इसी ओर पूरब दिशा में महेन्द्र पर्वत है। कालजर पर्वत पर शिव का परम स्थान है। ज्ञात होता है कि कालजर से उडीसा के महेन्द्र पर्वत तक का मार्ग इस यात्रा के समय तक खुल गया था। आजकल का रेल मार्ग जो मैहर, कटनी, रतनपुर, बिलासपुर और रायपुर होता हुआ गजाम से मिलता है, लगभग वही है। दक्षिण कोसल का यह प्रदेश उस समय आर्य उपनिवेश के अन्तर्गत आ चुका था।

दक्षिण दिशा के तीर्थों में ये नाम है—गोदावरी, वेणा (वर्तमान वेन गगा), भीमरथी, पयोष्णी, प्रवेणी (वर्तमान पेन गगा), शूर्पारक। ये नाम पुराने पथो की ओर सकेत करते हैं। एक ओर दक्षिण कोसल से गोदावरी तक का मार्ग जो वेन गगा के पूरब मे था और दूसरा गोदावरी से पश्चिम की ओर विदर्भ में होता हुआ कोकण में शूर्पारक तक का मार्ग।

इसके बाद धुर दक्षिण के तीर्थों में पाड्य देश में अगस्त्य तीर्थ का उल्लेख है, जो समुद्रतट का अगस्त्येश्वर ज्ञात होता है। उसीके समीप कुमारी और ताम्रपर्णी नदी थी। कन्याकुमारी से उत्तर घूमकर पश्चिमी समुद्र के किनारे उत्तरी कनाडा प्रदेश में गगवती नदी और समुद्र के सगम पर गोकर्ण तीर्थ है। यहा अगस्त्य के शिष्य तृणसोमाग्नि का आश्रम था। इसके बाद इसी दिशा के सिलसिले में सुराष्ट्र के तीर्थों का उल्लेख है, जिनमे प्रभास, पिडारक, उज्जयन्त पर्वत और द्वारावती मुख्य हैं। ज्ञात होता है कि पश्चिम और दक्षिण के लम्बे समुद्र तट का मार्ग उस प्राचीन समय से ही काम में आने लगा था, जबकि भीतर के जगलो में आर्यों का प्रवेश नही हुआ था। द्वारका, प्रभास, शूर्पारक, कोकण और कन्याकुमारी ये पाच समुद्र-तटवर्ती स्थान जलीय यातायात के लम्बे मार्ग की सूचना देते हैं।

पश्चिम दिशा में अवन्ति जनपद, पश्चिम वाहिनी नर्मदा, पारा नदी और पुष्कर ये नाम निश्चित रूप से पहचाने जा सकते हैं। पुष्कर इस दिशा की अन्तिम हद था। इस यात्रा के उत्तर की ओर सरस्वती और यमुना के

उद्गम का प्रवेश, प्लक्षावतरण तीर्थ, गगा द्वार, कनखल, भृगुतुग और विशाला बदरी ये मुख्य तीर्थ थे।

यात्रा के अन्त में आध्यात्मिक धरातल से कहा गया है—"वही सच्चा तीर्थ है और वही सब धाम है, जहा नारायण सनातन देव विद्यमान हैं। वहीं तपोवन देवर्षि और सिद्धो के पवित्र तीर्थ हैं जहा महान् योगीश्वर आदि-देव मधुसूदन का निवास है।"

पुलस्त्य-तीर्थ-यात्रा

इस प्रकरण के आरम्भ में ही तीर्थ के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या की गई है। जिसके हाथ, पैर और मन सुसयत है, जिसमें विद्या, तप और कीर्ति हैं, वह तीर्थ का फल पा लेता है। जो दान नही लेता, आत्मसन्तोषी, पवित्र, नियमो का पालन करनेवाला और अहकार से रहित है वह तीर्थ का फल पाता है। जो दम्भरहित, त्यागी, जितेन्द्रिय, स्वल्पाहारी और सब दोषों से मुक्त है, वह तीर्थ का फल पाता है। क्रोधरहित, सत्यशील, व्रतों में दृढ और सब प्राणियो को समान जाननेवाला मनुष्य तीर्थ का फल पाता है (आरण्यक ८०।३०–३३)।

पुलस्त्य-तीर्थ-यात्रा-पर्व के अन्तर्गत भूगोल का क्षेत्र अधिक विस्तृत होगया है। कितने ही नए तीर्थों के नाम उसमें आते हैं। वे स्थान जिनकी पहचान निश्चित है ये हैं—पुष्कर, पुष्करारण्य (पुष्करणा), जम्बू (अर्बुद-पर्वत पर), महाकाल, नर्मदा, दक्षिण सिन्धु, चर्मण्वती, अर्बुद, प्रभास, सरस्वती सागर-संगम, द्वारवती (द्वारका), पिडारक एव सिन्धु और समुद्र का सगम। इसके बाद उत्तर दिशामें इन स्थानो के नाम है—पचनद, देविका (पजाब की देग नदी), विनशन (मरुपृष्ठ पर सरस्वती के अदर्शन का स्थान), कुरुक्षेत्र, पुडरीक (वर्तमान पुडरी), सर्पदमन (सफीदो), आपगा नदी (स्यालकोट की अयक नदी) कपिष्ठल (कैथल), दृषद्वती (घग्घर), व्यासस्थली, विष्णुपद, सप्त-सारस्वत-तीर्थ, पृथूदक (पिहोवा) और सन्निहिती (कुरुक्षेत्र का सन्निहित ताल)।

इसके अनन्तर हिमालय के कुछ पुराने तीर्थों के नाम हैं, जैसे गगाद्वार, कनखल, गगा (धौली गगा) और सरस्वती (विष्णु गगा) का सगम (वर्त-

मान विष्णु प्रयाग), रुद्रावर्त (रुद्र प्रयाग), भद्रकर्णेश्वर (कर्ण प्रयाग
यामुनपर्वत (वन्दर पूछ), सिन्धु का उद्गम, ऋषिकुल्या (ऋषिगगा
और भृगुतुग (तुगनाथ)।

पूर्व दिशा के तीर्थो मे कई नाम ऐतिहासिक महत्व के हैं—गोमती-गग
सगम (काशी के समीप मार्कण्डेय स्थान), योनि-द्वार (गया का ब्रह
योनि तीर्थ), गया, फल्गु, राजगृह, तपोद (राजगृह में गरम पानी के चश्मे
मणिनाग (राजगृह में मणियार नाग का मठ), जनकपुर, गडकी, विशाल
नदी (सम्भवत वैशाली), नारायण तीर्थ (गंडकी नदी के किनारे ज
से शालिग्राम की वटिया आती हैं), कौशिकी (कोसी), चम्पार
(चम्पारन), गौरी शिखर (गौरीशकर चोटी), ताम्रा और अरुणा नदी क
सगम, कौशिकी (सुन कोशी और अरुणा का सगम), कोकामुख-ती
(ताम्रा, अरुणा और कौशिकी इन तीनो के सगम के समीप), चम्
(भागलपुर), सवेद्या तीर्थ (सदिया), लोहित्य (आसाम की लोहित नदी
करतोया (वोगरा की प्रसिद्ध नदी जो गगा की धारा पद्मा में मिलती है
और अन्त में गगा और सागर का सगम जिसे आज भी गगा-सागर कहते हैं

इन स्थानो के सिलसिले में दो भौगोलिक मार्ग मुख्यत दृष्टि में आते है
एक मार्ग गगा के उत्तर कोसल देश से लोहित्य तक चला गया था। यह पुरान
रास्ता था। कालिदास ने रघु-दिग्विजय में इसी मार्ग का वर्णन किया है
अतएव रघु को दक्षिण की ओर जाने के लिए गगा के स्रोतो को पार कर
की आवश्यकता पडी थी। दूसरा मार्ग गगा के दक्षिण जाता हुआ मगध क
पूरव में गगा-सागर-सगम के साथ, पश्चिम में मध्यदेश के साथ और दक्षिण
पश्चिम में दक्षिण कोसल के साथ मिलाता था।

इस तीसरे मार्ग का अनुसरण करते हुए यात्रा में निम्नलिखित स्थान
का उल्लेख है—

मगध से दक्षिण-पूर्व की ओर वैतरणी नदी और पश्चिम-दक्षिण क
ओर शोण और नर्मदा का उद्गम-स्थान है। गया से पश्चिम यह मार्ग शो
के किनारे-किनारे चलता था। फिर जहा शोण और उसकी शाखा नद
जोहिला (प्राचीन ज्योतिरथा) मिलती है, वहा दक्षिण घूम कर नर्मदा
दक्षिण चेदि जनपद को पार करके एक मार्ग पश्चिम में विदर्भ तक जाता थ

जिसकी राजधानी वशगुल्म (आधुनिक वासिम) का इस प्रकरण में उल्लेख हुआ है। दूसरा रास्ता शोण के उद्गम के पास से बिलासपुर होता हुआ दक्षिण कोसल में घूमता था। कोसल का एक बडा केन्द्र उस काल में ऋषभ तीर्थ कहा गया है (ऋषभतीर्थमासाद्य कोसलाया नराधिप, आर० १८३।१०)। ऋषभ तीर्थ बिलासपुर और रायगढ़ के बीच वर्तमान शक्ति रियासत के गुजी-गाव का उसमतीर्थ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तीर्थ-यात्रा के मार्ग, भू-सन्निवेश के मार्ग और व्यापारिक यातायात के मार्ग बहुत करके एक ही थे। तीर्थों के क्रमबद्ध अध्ययन और पहचान की कुजिया भौगोलिक मार्गों में छिपी है। ज्ञात होता है कि महाभारत के इस प्रकरण का लेखक एक स्थान में खडे होकर मार्गों के चौमुखी फटाव को देख रहा है, उसके वर्णन के सब सूत्र चारों दिशाओ से आकर एक केन्द्र स्थान पर मिल रहे हैं। मगध से कलिग और मगध से मेकल होकर विदर्भ-कोसल के दोमुही रास्तो का ऐसा स्पष्ट उल्लेख जैसा यहा है अन्यत्र नही पाया जाता।

इस यात्रा-प्रकरण के कुछ तार अभी बच जाते है—जैसे (१) दक्षिणी अचल के तीर्थ, (२) दक्खिन के पठार के तीर्थ और (३) मध्यदेश के अतर्गत तीर्थ। सक्षेप में ये तीनो इस प्रकार थे। उडीसा की वैतरणी नदी से दक्षिण घूमकर एक रास्ता समुद्र के किनारे महेन्द्र पर्वत (उडीसा का आधुनिक महेंद्र गिरि) और श्री पर्वत (कृष्णा नदी के समीप श्री शैल, वर्तमान नागा-र्जुनी क डा) के पास होता हुआ पाड्य देशतक चला गया था। वहा कावेरी और कन्या कुमारी को मिलाता हुआ यह सामुद्रिक मार्ग उत्तरी कनाडा के उसी गोकर्ण तीर्थ में जा मिलता था जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। दक्षिणी पठार के अन्तर्गत तीर्थों में हम पुन उसी प्राचीन भूगोल को देखते हैं, जिसमें गोदावरी से पश्चिम की ओर जानेवाला मार्ग वरदा और वेणा (वेन गंगा) के काठो में होकर विदर्भ से सोपारा जा निकलता था। तीर्थों का तीसरा गुच्छा मध्यदेश के दक्षिणी अचल में कालिजर-चित्रकूट-मन्दाकिनी से शुरू होकर शृगवेरपुर होता हुआ प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूसी) को मिलाता था और पुन वही प्रयाग से काशी की ओर दशाश्वमेध तक चला जाता था। यही सक्षेप में पुलस्त्य का कहा हुआ तीर्थ-यात्रा-प्रकरण है। इसमें वशगुल्म,

ऋषभ तीर्थ, श्रीपर्वत और दशाश्वमेघ नामो को देखकर ऐसा प्रतीत होता ह जसे यह प्रकरण गुप्त काल के आसपास की भौगोलिक सज्ञाओ को लेकर रचा गया हो और इस प्रसग में रख दिया गया हो, जबकि पुराना प्रकरण भी धौम्य यात्रा के रूप में अपनी जगह पडा रह गया।

धौम्य इस प्रकार पृथिवी के तीर्थ और पुण्य आयतनों का वर्णन कर ही रहे थे कि उसी समय लोमश ऋषि वहा आ पहुचे। उन्होने कहा—"मैं इन्द्र-लोक से आ रहा हू। वहा मैंने अर्जुन को इन्द्र के साथ अर्द्धासन पर बैठे देखा। इन्द्र के कहने से मैं यहा आया हूँ।" अर्जुन ने शिव से ब्रह्मशिर नाम का रौद्र अस्त्र प्रयोग और सहार के मन्त्रो-सहित प्राप्त कर लिया है। यम, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र से और भी दिव्य अस्त्र उसने प्राप्त किये हैं, एव नृत्य, गीत और वादित्र की शिक्षा भी विश्वावसु गन्धर्व के पुत्र चित्रसेन से प्राप्त कर ली है। वह एक महान् देवकार्य सम्पन्न करके शीघ्र लौटेगा। तब तक तुम भाइयो के साथ तप के कार्य में लगो। तीर्थयात्रा करने में जो तपोयुक्त फल मिलता है, उसका वर्णन लोमश तुम से करेंगे। उनकी बात पर श्रद्धा करना।"

यों इन्द्र का सदेश सुनाकर लोमश ने इतना और कहा—"अर्जुन ने भी मुझसे कह दिया है कि आप मेरे भाइयो को तीर्थयात्रा पर ले जाए और बराबर साथ रहकर उनकी रक्षा करते रहे। अत मैं इन्द्र और अर्जुन के कहने से तुम्हारे साथ तीर्थयात्रा पर चलूगा।

इन्द्र और अर्जुन की सिफारिश लेकर लोमश का पहुचना और अपने साथ पाण्डवों को तीर्थ-यात्रा पर ले जाना, कथाप्रवाह में यह पैवद कुछ विचित्र-सा लगता है।

: २६ :

तीर्थ-यात्रा—२

तीर्थयात्रा के लिए लोमश के सुझाव का युधिष्ठिर ने उत्साह से स्वागत किया और वह प्रसन्न मन से चल पडे। चलने से पहले लोमश ने युधिष्ठिर

को सलाह दी कि यात्रा पर बोझ के विना हलके होकर चलना चाहिए। जो हलका है वह अपनी इच्छानुसार यात्रा कर सकता है—

गमने कृतबुद्धि त पांडव लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघु. स्वैरं गमिष्यसि ॥
(आरण्यक, ९०।१८)

लोमश ने कहा—"मैं स्वय दो वार तीर्थों को देख चुका हू। आपके साथ तीसरी वार फिर देखूगा। पुण्यात्मा मनु आदि राजर्षि भी इस तीर्थयात्रा पर जा चुके हैं—

इय राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥

तीर्थयात्रा मनुष्य के मन का डर हटा देती है। सच है, यात्रा का यही बडा फल है। अपरिचित स्थानो और वहा के निवासियो के प्रति मन में जो शका रहती है वह देश-दर्शन से मिट जाती है और अज्ञात भय के स्थान में प्रीति का सचार हो जाता है। तीर्थयात्रा की परम्परा को मनु आदि राजर्षियों तक ले जाना इस सस्था के महत्व और इसके प्रति सवकी पूज्य बुद्धि को सूचित करता है।

युधिष्ठिर अपने भाई, द्रौपदी, पुरोहित धौम्य, लोमश और कुछ वन-वासी ब्राह्मणो के साथ तीर्थयात्रा पर निकले। पहले तीन दिन तक वे काम्यक वन में ही मन और शरीर की शुद्धि के लिए नियमो का पालन करते हुए ठहरे। उस समय व्यास, नारद और पार्वती भी उनसे मिलने आये। व्यास ने समझाया—"मन में पवित्रता का सकल्प लेकर शुद्ध भाव से तीर्थों में जाना चाहिए। शरीर द्वारा नियम-पालन और शुद्धि मानुषी व्रत है, किन्तु मन द्वारा बुद्धि को शुद्ध रखना दैवी व्रत है। जो क्षत्रिय स्वभाव के शूर होते हैं, उनका मन पर्याप्त मात्रा में शुद्ध कहा जा सकता है। अतएव मेरा यही कहना है कि तुम अपने मन में सवके प्रति मैत्री का भाव भरकर तीर्थों में जाओ। शारीरिक नियम और मानसी शुद्धि का निर्वाह करने से तुम्हें तीर्थयात्रा का पूरा फल मिलेगा।"

इस प्रकार मार्गशीर्ष की पौर्णमासी बीतने पर अगले दिन पुष्य नक्षत्र

मे वल्कल-चीर, मृगचर्म और जटा धारण करके उन्होने प्रस्थान किया। साथ में इन्द्रसेन-प्रमुख उनके निजी भृत्य, कुछ रसोइये और परिचारक तथा चौदह रथ भी चले।

पूर्व की ओर चलते हुए वे क्रमश नैमिषारण्य मे पहुचे, जहा गोमती नदी के पुण्य तीर्थ है। वहा से कन्यातीर्थ (सम्भवत कान्यकुब्ज), अश्वतीर्थ (कन्नौज के समीप गगा-कालिन्दी-सगम), गोतीर्थ, वालकोटि और वृषप्रस्थ गिरि होते हुए उन्होने बाहुदा नदी मे स्नान किया। बाहुदा की पहचान के विषय में मतभेद है, पर सम्भवत यह रामगगा थी। वहासे आगे देवयजन-भूमि गगा-यमुना के सगम प्रयाग मे पहुचे। यही प्रजापति की यज्ञ-वेदी थी। इसके अनन्तर प्रयाग से दक्षिण की ओर के स्थान महीधर का उल्लेख है, जो वर्तमान मैहर का पुराना नाम था। पूरब की ओर राजर्षि गय के तीर्थ गयशीर्ष का उल्लेख है। वहा भी एक अक्षयवट था। यहा पाडवो ने एक चातुर्मास्य विताया।

इसी प्रसग मे महाभारत की दृष्टि पुन दक्षिण की ओर जाती है और वह अगस्त्य-आश्रम का वर्णन करते है। यह स्थान कालिजर के बीच में कहीं था। महाभारत में अगस्त्य-आश्रम को दुर्जयापुरी कहा गया है। प्रयाग से लेकर नासिक तक एव उससे भी आगे दक्षिणी समुद्र तक अगस्त्य के आश्रमों की परम्परा कई स्थानों में वताई जाती है। यहा अगस्त्य-आश्रम के समीप ही भागीरथी का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि प्रयाग के दक्षिण की ओर गगा के कछार में कही एक अगस्त्य-आश्रम था। मणिमतीपुरी में रहनेवाले इल्वल और उसके भाई वातापि के उपद्रव को अगस्त्य ने शात किया था। विदर्भराज की पुत्री लोपामुद्रा ने अगस्त्य को अपना पति चुना। तब दोनों ने गगा-द्वार में जाकर तप किया और उनसे दृढस्यु इध्मवाह नामक पुत्र हुआ। अगस्त्य की कथा सक्षेप मे सुनकर युधिष्ठिर ने फिर विस्तार से उसी कथा को जानना चाहा।

अगस्त्य और गगा के उपाख्यान

महाभारत के विस्तृत प्रवाह में कई बार हमें इसी प्रकार कथाओ का सक्षिप्त रूप और फिर वृहत रूप मिलता है। अवश्य ही वृहत रूप (अ०

९९-१०८) बाद में जोडा हुआ है। ग्रन्थकर्ताओं ने सचाई से कथा के दोनों रूपों को एक साथ रहने दिया है। अगस्त्य-उपाख्यान का यह वृहत संस्करण पंचरात्रों के प्रभाव का फल है, जैसाकि नारायण और उनके वाराह, नरसिंह, वामन आदि अवतारों के उल्लेख (१००। १७-२१) से सूचित होता है।

कृतयुग में कालेय नामक दानव थे, जिनका नेता वृत्र था। देवता जब उनसे त्रस्त हुए तब ब्रह्मा ने उपाय बताया कि दधीचि की अस्थियों का वज्र बनाकर वृत्र का वध करो। नारायण को आगे करके देवता सरस्वती तट पर दधीचि के आश्रम में पहुचे और वरदान में उनकी अस्थिया प्राप्त की। सनातन विष्णु के स्वतेज से पुष्ट होकर इन्द्र ने उस वज्र से वृत्र का नाश किया। फिर कालेय असुर समुद्र की ओर चले गए और वहा से वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज आदि के आश्रमों में छुटपुट हमलो से ऋषियों का नाश करने लगे। देवता पुन नारायण की शरण में आये। विष्णु ने कहा—"समुद्र के आश्रय से सुरक्षित असुरों के नाश का एक ही उपाय है कि अगस्त्य समुद्र को सुखा डालें।" देवताओं की प्रार्थना से अगस्त्य ने इसे स्वीकार किया। मार्ग में उन्होंने विन्ध्य-पर्वत का गर्व-दलन किया। विन्ध्य पर्वत ने एक बार सूर्य को ललकारा कि जैसे तुम मेरु की प्रदक्षिणा करते हो वैसे ही मेरी भी करो। सूर्य ने कहा कि मैं कुछ नहीं करता, यह तो ब्रह्मा का विधान है।

विन्ध्य ने क्रोध से ऊचे उठकर सूर्य और चन्द्र का मार्ग रोकना चाहा। लोपामुद्रा के साथ अगस्त्य आये और बोले—"हमें दक्षिण की ओर जाने का मार्ग दो और हमारे आनेतक प्रतीक्षा करना।" अगस्त्य दक्षिण से आज तक नही लौटे और विन्ध्याचल का बढना भी रुक गया। समुद्र के पास पहुच कर अगस्त्य ने असुर-विनाश के लिए समुद्र को सोख लिया। असुरो का नाश होगया, किन्तु जलहीन समुद्र को पुन भरने की चिन्ता देवताओ को हु विष्णु के साथ वह ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने कहा—"दीर्घकाल के समुद्र फिर अपनी प्रकृति को प्राप्त करेगा। महाराज भगीरथ इसमें देंगे।"

युधिष्ठिर के पूछने पर लोमश ने सगर और भगीरथ की कथा स

... अश्व समुद्र के किनारे कहीं अदृश्य होगया। उसे

हुए उसके साठ हजार पुत्रो ने समुद्र को खोद डाला और अन्त में महात्मा कपिल के आश्रम में वह अश्व दिखाई दिया । उन्होने कालवश कपिल का अनादर किया और वे कपिल के नेत्रों की अग्नि से भस्म हो गए । सगर का दूसरा पुत्र असमजस अत्याचारी था । पुरवासियो के कहने से राजा ने उसे निकाल दिया । तब सगर का पौत्र अशुमान कपिल के आश्रम में गया । उसने ऋषि को प्रसन्न करके अश्वमेध का घोडा प्राप्त किया जिससे सगर का यज्ञ पूरा हुआ । अशुमान् के पुत्र दिलीप और दिलीप के भगीरथ हुए। भगीरथ ने गगा को भूतल पर लाने के लिए सुदीर्घ तप किया । तब हैमवती गगा प्रत्यक्ष हुई । भगीरथ ने अपने पूर्वजो के उद्धार के लिए देवनदी गगा से पृथिवी पर आने की प्रार्थना की । गगा के भार को सम्हालने के लिए भगीरथ ने कैलास पर्वत पर शकर को प्रसन्न किया । इस प्रकार गगा आकाश से भूतल पर आईं । उन्होने भगीरथ से कहा—"महाराज, आपके लिए मैं पृथिवी पर आई हू । मुझे मार्ग दिखाइए ।" यह सुन भगीरथ मार्ग दिखाते हुए गगा को समुद्र तक ले गए और गगा ने पाच सौ नदियो की सहायता से समुद्र को भर दिया।

भगीरथ की तपश्चर्या से प्रसन्न गगा वरदान के रूप में आकाश से पृथिवी पर आईं—यह कथा भारतीय उपाख्यान-निर्माताओ की विलक्षण प्रतिभा का फल थी। भारतीय भूमि, जन और सस्कृति की धात्री गगा के लिए जो भी कहा जाय, कम है । हमारी भाषा गगा की प्रशसा में अपने शब्दो का पुष्पोहार अर्पित करके पूरी तरह उऋण नही हो सकती । दिलीप और भगीरथ-जैसे राजर्षियो ने तप द्वारा गगा के अवतरण मे भाग लिया, इससे अधिक गगा की महिमा में और क्या कहा जा सकता है !

गगा का भूगोल

वस्तुत हिमालय में गगा के भूगोल का विशद परिचय प्राचीन भूगोलवेत्ताओ को था । आगे चलकर कनखल और उसके समीप गगा का पुन विस्तृत उल्लेख (१३५-५) किया गया है । वहीं विशालाबदरी और यक्षेन्द्र माणिभद्र की पुरी एव यक्षराट कुबेर की पुरी का उल्लेख (१४०।४) है । इस स्थान का प्राचीन नाम मन्दरगिरि या मन्दराचल था । कुबेर की

अलकापुरी और माणिभद्र या माणिचर यक्ष की राजवानी माणा आज तक बदरी-केदार के भूगोल की जानी-पहचानी सज्ञाए हैं। हिमालय के इस प्रदेश में गगा को सप्तविधा कहा गया है (१४०।२)। हिमालय की अधित्यका में गगा की जो कई शाखा-नदिया हैं, उन्हीको लक्ष्य करके प्राचीन भारतीय भूगोल का 'सप्तगगम्' प्रयोग प्रसिद्ध हुआ। गगा नाम देवप्रयाग से आरम्भ होता है जो कि हिमालय में पाचवा प्रयाग है। यामुन पर्वत (वर्तमान बन्दर-पूछ) से लेकर नन्दादेवी तक गगा का प्रस्रवण-क्षेत्र फैला है। उसके पूर्व और पश्चिम दो भाग हैं। पूर्व के क्षेत्र में बदरीनाथ की ओर से विष्णुगगा आती है, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, और द्रोणगिरि के समीप पश्चिम से धौली-गगा की धारा आई है, जो जोशी मठ के पास विष्णुगगा में मिलती है। उस सगम का नाम विष्णु-प्रयाग है। इससे कुछ ही पहले नन्दादेवी पर्वत से आने वाली ऋषिगगा धौलीगगा में मिली है। विष्णुप्रयाग के बाद सयुक्त धार अलकनन्दा कहलाती है। कुछ दूर आगे चलकर नन्दाकना पर्वत से आई हुई नन्दाकिनी अलकनन्दा में मिली है। इस दूसरे प्रयाग का नाम नन्दप्रयाग है।

तीर्थयात्रा पर्व में गगा के प्रस्रवण-क्षेत्र का वर्णन करते हुए नन्दा और अपरनन्दा इन दो नदियो का उल्लेख आया है। नन्दा के स्रोत का नाम ऋषभ-कूट महागिरि था जिसका दर्शन अशक्य और अधिरोहण अत्यन्त दुर्गम कहा गया है। इस ऋषभकूट की पहचान नन्दादेवी से होनी चाहिए, जिसकी ऊचाई २५,६५० फुट है और जो हिमालय की ऊची चोटियो में अत्यन्त ठाडी और दुर्दान्त है। इस प्रकार ऋषभकूट पर्वत या नन्दादेवी से निकलने-वाली ऋषिगगा नदी नन्दा होनी चाहिए और नन्दाकना से आनेवाली नदी अपरनन्दा। ऋषिगगा नाम का कारण भी महाभारत की कथा के अनुसार यह था कि ऋषभकूट पर्वत पर ऋषभ नाम के एक ऋषि ने अपना आश्रम बनाया। उन्हें एकान्त-वास और मौन प्रिय था। उन्होने यह नियम बनाया कि कोई यहा आकर शब्द न करे। वायु तक को उन्होने आदेश दिया कि किसी भी प्रकार का शब्द न हो। यदि कोई पुरुष वहा कुछ शब्द करना चाहे तो मेघ उसे रोक देते थे। कहा जाता है कि एक बार देवता नन्दा नदी के समीप पहुच गए। उनके पीछे देव-दर्शन के इच्छुक कुछ मनुष्य भी

वहा जा पहुचे। देवो को यह अच्छा न लगा। तबसे उन्होंने नन्दादेवी के इस प्रदेश को मनुष्यो के लिए अगम्य बना दिया। नन्दादेवी की जो ऊबड-खावड स्थली है उसके साथ इस अनुश्रुति का मेल ठीक बैठता है। आज भी पर्वतारोहियों के लिए यह महागिरि अत्यन्त दुर्गम माना जाता है।

नन्दप्रयाग के बाद नन्दाकोट और त्रिशूलशिखरो के जलो को लेकर पिण्डरगगा कर्णप्रयाग के सगम पर अलकनन्दा से मिलती है। इससे आगे चौथा प्रयाग रुद्रप्रयाग है जहा केदारनाथ पर्वत की ओर से आनेवाली मन्दाकिनी अलकनन्दा में मिली है। उसके आगे टिहरी-गढवाल में गगोत्री की ओर से आई हुई भागीरथी देवप्रयाग में अलकनन्दा से मिलती है और उनकी सयुक्त धारा गंगा नाम लेकर ऋषिकेश होती हुई कनखल में हिमालय से भूतल पर उतरी हैं। इसीको गगाद्वार भी कहते है।

जिस समय पाडव तीर्थयात्रा करते हुए गगाद्वार में पहुचे, उस समय युधिष्ठिर ने भीम से कहा—"यहा से आगे हिमालय का जो प्रदेश है, वह अत्यन्त दुर्गम और जोखिम से भरा हुआ है। अच्छा हो, तुम द्रौपदी को लेकर यहीं गगाद्वार में ठहरो और हम इस हिमालय के भीतरी प्रदेश के दर्शन करके लौट आय।" (११।७)

द्रौपदी ने इसे स्वीकार न किया। किन्तु अभी पिछली शताब्दी तक जब यातायात के साधन और हिमालय के पथ इतने सुलभ न हुए थे तबतक बदरी-केदारखड की यात्रा बडे साहस का काम समझी जाती थी और उसमे जोखिम भी पूरा था। फिर भी द्रौपदी की तरह अनेक स्त्री-पुरुष अपने सकल्प-बल से वहा जाते ही थे।

लोमश-तीर्थयात्रा के इस प्रकरण का भौगोलिक वर्णन ऊपर से उलझा हुआ जान पडता है। इसका केन्द्र हिमालय पर गगा का प्रस्रवण क्षेत्र है, जहा से भूगोल का सूत्र बार-बार छिटककर फिर उसी बिन्दु पर आ मिलता है। ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न दिशाओ में यात्रा की कई पट्टिया उपाख्यानो के इस जमघट में आगे-पीछे जमा दी गई है। यही कारण है जो गगा, कैलाश और विशाल-बदरी का भूगोल इस एक ही प्रकरण में कई बार यहा आगया है, मानो कथा-प्रसग के निर्माण में कई कारीगरो का हाथ रहा हो जो सब अपनी बात कहना और पारस्परिक असगति को न देखते हुए ग्रथ में रखना

भी चाहते थे। महाभारत के कलेवर का जो उपबृंहण हुआ, उसमें रचना-शैली की यह विशेषता प्राय मिलती है।

यात्रा की पहली पट्टी नन्दा-अपरनन्दा से हटकर पूरब में कौशिकी नदी (वर्तमान कोसी) और वहासे गगा-सागर-संगम (११४।१–२) तक चली जाती है। कौशिकी या कोसी उत्तरी बिहार और पूर्वी नेपाल की वडी विशेषता है। कौशिकी के तट पर विश्वामित्र का आश्रम कहा जाता है। (११०।१)। आजकल विश्वामित्र का मुख्य आश्रम वक्सर के समीप चरित्र-वन में माना जाता है।

ऋष्यशृंग-उपाख्यान

यही अग की राजधानी चम्पा से तीन योजन दूर ऋष्यशृंग का आश्रम था। वर्तमान भागल्पुर से २८ मील पश्चिम ऋषिकुड नामक स्थान में यह आश्रम बताया जाता है, जहा प्रति तीसरे वर्ष ऋष्यशृंग के नाम से मेला लगता है। ऋष्यशृंग की कथा बौद्ध जातको में भी रोचनात्मक ढग से कही गई है। काश्यप-गोत्रीय विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग का जन्म वन में घूमती हुई उर्वशी अप्सरा से हुआ। कथा है कि उर्वशी को देखकर ऋषि स्खलित हुए और उनका तेज सरोवर में पानी पीती हुई मृगी के गर्भ में पहुच कर पुत्र-रूप में उत्पन्न होगया। स्पष्ट शब्दो में कहें तो यह कहानी घडने का हथकण्डा मात्र है। वस्तुत जो ऋषि जगल में आश्रम बनाकर एकान्त-वास करते और उस अवस्था में किसी सुन्दरी के साथ अपने सयम से हाथ धो वैठते थे, उनके लिए किसी अप्सरा की या उसीसे मिलती-जुलती कल्पना प्राचीन कहानी-कला की मान्य पद्धति होगई थी। घर-गृहस्थी के बरतन-भाडो से बिल्कुल अलग रहनेवाले विभाण्डक मुनि ने भी इसी प्रकार किसी वन-चारिणी स्त्री को हरा किया, जिसके फलस्वरूप ऋष्यशृंग का जन्म हुआ। वन में पोषित ऋषिपुत्र ने कभी स्त्री का दर्शन नही किया था। स्त्री क्या है, इससे वह अनभिज्ञ रहे। उधर अगदेश के राजा लोमपाद के राज्य में वृष्टि नहीं हुई। मन्त्र-कोविद सचिवों ने कहा कि यदि मुनिपुत्र ऋष्यशृंग आपके राज्य में आ जाय तो वृष्टि होगी। यह सुनकर राजा ने वारवनिताओ को बुलाकर यह काम सौंपा। वे बजरे पर तैरता हुआ सुन्दर आश्रम बनाकर काश्यपाश्रम

ऋष्यशृंग के साथ कर दिया। इस प्रकार ऋष्यशृंग की यह पुरानी कहानी लोक से खिंचकर जातक (जातक संख्या ५२६, भाग पाँच), रामायण, महाभारत और पुराणों में कुछ अवान्तर भेदों से व्याप्त हो गई।

तीर्थयात्रा के अन्य स्थल

ऋष्यशृंग का उपाख्यान सुनाकर लोमश ने यात्रा के क्रम का जो अगला सूत्र दिया है, उसमें तीर्थयात्रा पूर्व-दक्षिण-पश्चिम की प्रदक्षिणा करती हुई देवयजन कुरुक्षेत्र में लौट आती है। जहाँ गंगा का सागर से संगम होता है और जहाँ पाँच सौ नदियों का जल लेकर गंगा समुद्र को भरती है, उस पवित्र स्थान में युधिष्ठिर ने स्नान किया और फिर समुद्र-तटवर्ती मार्ग से कलिंग की ओर चले। दक्षिण जाने का यही प्राचीन मार्ग था जो आजतक चलता है। मार्ग में उन्होंने वैतरणी नदी पार की। वैतरणी के तट पर रुद्र से संबंधित यज्ञ-स्थान था, जहाँ पहले रुद्र ने यज्ञ में पशु को अपना भाग कहकर उसका साक्षात् ग्रहण किया था, किन्तु पीछे देवताओं की विनती से पशु को त्यागकर देवयान मार्ग से अहिंसक यज्ञ स्वीकार किया। यह स्थान वैतरणी के किनारे का जाजपुर ज्ञात होता है, जिसका प्राचीन नाम यज्ञपुर था। यही पहले देवी का विरजा क्षेत्र था जहाँ पशु-बलि होती थी, किन्तु आगे चलकर यह स्थान विष्णु का गदा-क्षेत्र बन गया। यही वैखानस का स्वयंभू नामक आश्रम था, जहाँ पृथिवी यज्ञ-वेदी के रूप में पूजित हुई।

पूर्व से पश्चिमतक सजी हुई तीर्थों की इस वन्दन-माला में गंगा-सागर-संगम, वैतरणी, महेन्द्र, गोदावरी, द्रविड देश में अगस्त्य तीर्थ, शूर्पारक और प्रभास, ये जाने-पहचाने स्थान हैं। कलिंग में गंजाम के समीप की पर्वतमाला अभी तक 'महेन्द्रमलै' कहलाती है। वैसे पूर्वी घाट की सारी पर्वत-शृंखला का नाम महेन्द्रगिरि था। ऐसा विश्वास था कि परशुराम ने जब पृथिवी का दान कश्यप ऋषि को कर दिया, तब वह महेन्द्र पर्वत पर आकर रहने लगे। इसी प्रसंग में अनूप या चेदि देश के राजा द्वारा जमदग्नि के आश्रम का नाश एवं परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथिवी के निःक्षत्र किये जाने की कथा भी

द्रविड देश से चलकर सागर-तटवर्ती अनेक तीर्थों के दर्शन करते हुए पाण्डव अन्त में शूर्पारक पहुचे। शूर्पारक (वर्तमान सोपारा, बम्बई से ३७ मील उत्तर, थाना जिले में बसई से ४ मील उत्तर-पश्चिम में) अति प्राचीन काल से प्रख्यात समुद्रपत्तन था। प्रभास से गोकर्ण के अनुसमुद्र-मार्ग पर शूर्पारक और भरुकच्छ मुख्य पडाव थे। शूर्पारक के आसपास देवताओ के अनेक पुराने आयतनो का उल्लेख किया गया है। शूर्पारक से तीर्थयात्रा की पट्टी पयोष्णी और नर्मदा पार करती हुई पश्चिम में प्रभास-द्वारका की ओर चली जाती थी और वहासे लौटकर फिर उत्तर की ओर पुष्कर होती हुई कुरुक्षेत्र से जा मिलती थी।

इस प्रसंग में कई बातें ध्यान देने योग्य है। पयोष्णी की ठीक-ठीक पहचान सदिग्ध है। उसे यहा विदर्भ से सबधित कहा गया है और उसके बाद दूसरी बडी नदी नर्मदा का उल्लेख है। इससे अनुमान होता है कि पयोष्णी ताप्ती की शाखा नदी थी। पयोष्णी और नर्मदा के बीच में स्थित वैदूर्य पर्वत सतपुडा ही ज्ञात होता है। नर्मदा के समीप के देश को शर्याति और भार्गव च्यवन से सबधित कहा गया है। यहीं नर्मदा के पास कही कन्यासर नामक तीर्थ होना चाहिए, जिसमें रूपार्थी वृद्ध च्यवन ऋषि ने स्नान करके रूप और यौवन प्राप्त किया एव सुकन्या से विवाह किया। यहीं सुकन्योपाख्यान का वर्णन है। इसके अनन्तर सैन्धवारण्य, पुष्कर और आर्चीक पर्वत के तीर्थों का उल्लेख है। इनमें से सैन्धवारण्य कालीसिंध और सिंध नदियो के बीच का घना जगल होना चाहिए। यहाकी अनेक छोटी नदियो को कुल्या कहा गया है जो पहाडी गवेरों की भाति कभी उफन कर चलती और कभी सूख जाती थी। आर्चीक पर्वत की ठीक पहचान अभी नहीं हुई। सभव है यह पुष्कर के पास का पहाडी प्रदेश हो। तीर्थयात्रा का अगला क्रम फिर कुरुक्षेत्र से आरम्भ होता है, जैसा हम आगे देखेंगे।

: २७ :

कुरुक्षेत्र का प्रदेश

यमुना के पश्चिमी तट से कुरुक्षेत्र तक का प्रदेश प्राचीनकाल से ही बहुत पवित्र माना जाता था। यमुना, सरस्वती, कुरुक्षेत्र इन प्रदेशो के साथ

आर्य जाति का पुराना सबध था। इस विषय में पुराणो की अनुश्रुति बहुत प्रकाश डालती है। अतएव तीर्थयात्रा-पर्व की तीर्थ-परिक्रमाओ में यात्रा का सूत्र बाहर की ओर फैलकर बार-बार फिर कुरुक्षेत्र की ओर सिमिटता हुआ दिखाई पडता है।

मान्धाता के यज्ञ

यमुना के तट पर मन्धाता ने अनेक यज्ञ किये थे। युवनाश्व के पुत्र मान्धाता इक्ष्वाकु-वश के प्रतापी सम्राट् थे। उन्होंने कृतयुग में एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ किये। इन यज्ञो की विशेषता यज्ञो में दी हुई भूरि दक्षिणाए थी। 'भूरि दक्षिणा' शब्द यज्ञ की परिभाषा में विशेष अर्थ रखता था। ऋत्विजो के अतिरिक्त यज्ञ के अवसर पर और जितने भी ब्राह्मण एव पात्र एकत्र होते थे, उन सबको उन्मुक्त भाव से बाटी जानेवाली दक्षिणाए 'भूरि दक्षिणा' कहलाती थीं। आज भी विवाह के समय अग्नि-साक्षिक कर्म कराने वालो के अतिरिक्त अन्य उपस्थित बहुसख्यक ब्राह्मणो और अन्य लोगो को जो दक्षिणा बाटी जाती है, उसे 'भूर' या 'बूर' कहते है। वस्तुत समस्त जनपद की समृद्धि और प्राज्यकाम जनता की तुष्टि के लिए यज्ञ प्राचीन काल की एक प्रभावशाली युक्ति था। जनपद के भीतर दूर-दूर तक फैले हुए जन-समूह के मानस को नए उत्साह, नई प्रेरणा, नए सगठन और नए उत्थान के विधान में लाने का साधन यज्ञ था। वसन्त और शरद् की सस्य-सम्पत्ति से भरे हुए कोष्ठागार प्रति वर्ष नए-नए यज्ञो के लिए मानो जनता का आवाहन करते थे। इस प्रकार जनपदीय भू-सन्निवेश के युगो में यज्ञ जनता के जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन थे। यज्ञ-वेदियो को 'धिष्ण्य' कहा गया है। ये वेदिया प्राय नदियो के तटो के साथ-साथ आर्यभू-सन्निवेश का विस्तार करती हुई बढती जाती थी—

एता नद्यस्तु धिष्ण्याना मातरो या प्रकीर्तिता ।

(आरण्यक पर्व २१२।२४)

नदिया यज्ञ-वेदियो की माता या धात्री थी। 'ब्राह्मण'-ग्रथों के अनुसार दौ षन्ति भरत ने यमुना के किनारे ७८ और गगा के तटो पर ५५ अश्वमेध यज्ञ किये थे (ऐतरेय ८।२३, शतपथ १३।५।४।११)। शतपथ के इसी

प्रकरण में भरत द्वारा सर्व-पृथिवी-विजय के प्रसग में एक सहस्र से अधिक अश्वमेध यज्ञो का उल्लेख है। लगभग उसी स्वर में मान्धाता के यज्ञो की सख्या भी एक सहस्र कही गई है (१२६।४)। मान्धाता ने अपने दक्षिणावान क्रतुओं में प्रज्वलित अग्नि से चतुरन्त पृथिवी को छा लिया। इसके फलस्वरूप उन्हें इन्द्र का अर्धासन प्राप्त हुआ।

अर्धासन की प्रथा

पहले कहा जा चुका है कि अर्जुन को इन्द्र का अर्धासन प्राप्त हुआ था। अर्धासन का उल्लेख कालिदास ने भी किया है (रघुवश ९।७३)। यह राज-दरबारो की पारिभाषिक सज्ञा थी, जिसका प्रचलन गुप्त काल मे विदित होता है। प्रथा यह थी कि सम्राट् जिस आसन पर बैठते थे, कोई अन्य व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान हो सम्राट् के साथ उसी आसन पर नही बैठ सकता था। प्रधान मत्री एव अन्य प्रतापानुगत तथा अनुराग से आकृष्ट राजाओ के लिए बैठने की दूरी नियत थी और सावधानी से उन नियमो का पालन किया जाता था। प्रणाम के लिए भी सम्राट् के चरणो के पास पहु-चना उनकी विशेष कृपा पर निर्भर था जिसे 'प्रसाद' कहते थे। किन्तु किसी व्यक्ति पर उसके विक्रम, विद्या या तप से प्रसन्न होकर सम्राट् उसे अपना सखा मानते एव अर्धासन प्रदान करते थे।

गुप्त-काल से आई हुई यह प्रथा मध्ययुग में भी जारी रही। सुलतानी दरबारों में सम्राट् के आसन को 'जामेखाना' कहा जाता था और विशिष्ट व्यक्ति ही सुलतान की विशेष कृपा से उनके साथ जामेखाने पर बैठ सकते थे।

यज्ञो की समृद्ध परम्परा

इसी प्रसग में मान्धाता के जन्म की कथा भी कही गई है। कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि के बीच यत्र-तत्र मान्धाता के स्थान थे। कुरुक्षेत्र मे ही प्रजापति ने सहस्र वर्ष का सत्र किया था। सहस्र वर्ष तक होनेवाले यज्ञो का उल्लेख प्राय प्रजापति के लिए आता है। ये यज्ञ व्यक्ति विशेष से सबधित न होकर यज्ञों की सदा विद्यमान सामाजिक परम्परा के ही सूचक थे। पतजलि ने स्पष्ट लिखा है कि लोक में इस प्रकार के सहस्र सावत्सरिक यज्ञ दिखाई

नही पडते, केवल शास्त्रो में उनका विधान है। यमुना के किनारे महाभाग अम्बरीष ने भी अनेक यज्ञ किये थे। सार्वभौम ययाति का यज्ञ-वास्तु भी कुरुक्षेत्र में था। यमुना की ऊर्ध्व-जल-धारा के समीप ही प्लक्षप्रस्रवण-तीर्थ सरस्वती नदी का उद्गम माना जाता था। अनेक राजर्षि, देवर्षि और ब्रह्मर्षियो ने सरस्वती के तट पर सारस्वत यज्ञो का विधान किया था। यही पर कुरु नामक यज्ञशील राजा के क्षेत्र मे प्रजापति की वेदी थी। उसकी परिधि पाच योजन थी, जिस कारण उसका नाम समन्तपचक भी था। यही राम ह्लद नामक सरोवर था, जहा नारायण आश्रम का स्थान माना जाता है। वर्तमान थानेश्वर के उत्तर की ओर आज भी रामह्लद नाम का सरोवर है जो द्वैपायन ह्लद भी कहलाता है। यह लगभग २,४०० हाथ लम्बा और १,२०० हाथ चौडा है। कुरुक्षेत्र के तीर्थो में यह सरोवर अत्यधिक पवित्र है। यही कुरु ने तपस्या की थी, जिसके कारण आसपास की भूमि कुरुक्षेत्र कहलाई। इसीका वैदिक नाम शर्यणावन्त था। इसे ब्राह्मसर भी कहते थे, क्योकि ब्रह्मा के आदि-यज्ञ की वेदी इसीके तट पर निर्मित हुई थी। पीछे इसकी सज्ञा राम ह्लद प्रसिद्ध हुई, क्योकि परशुराम ने क्षत्रियो को जीतकर इसी सरोवर के जल से अपने पितरो का तर्पण किया।

कुरुक्षेत्र की महिमा और हीनता

प्राचीन भौगोलिक मान्यता के अनुसार कुरुक्षेत्र के चार द्वारपाल थे—अरन्तुक, तरन्तुक, मचक्रुक और राम ह्लद—

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तर
रामह्लदाना मचक्रुकस्य च।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपचक
पितामहस्योत्तर वेदिरुच्यते॥

(आरण्यक ८१।१७८)

इनमें से तरन्तुक, अरन्तु और मचक्रुक इन तीनो को महाभारत में ही पुलस्त्य-तीर्थयात्रा पर्व में यक्षेन्द्र कहा गया है। चौथे राम ह्लद के समीप एक अति प्रसिद्ध यक्षी का स्थान था (तत्रैव च महाराज यक्षी लोकविश्रुता ८१।१९)। यहा उस यक्षी को पिशाची कहा गया है, जो सूचित करता है कि

यह कोई आदिम जाति की मास-भक्षिका देवी थी। यहा इसे उलूखल के आभरणो से अलकृत भी कहा गया है। बौद्ध-ग्रन्थ 'महामायूरी' की बृहत् यक्ष-सूची में इस देवी का 'उलूखलमेखला' नाम है।

एक ओर तो कुरुक्षेत्र की इतनी महिमा थी कि उसे प्रजापति की उत्तर वेदी और सरस्वती एव दृषद्वती नामक नदियो को देवनदी कहा जाता था तथा इनके बीच के प्रदेश के देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाते थे और इस देश के आचार को सदाचार समझा जाता था (मनु २।१७।१८), दूसरी ओर कुरुक्षेत्र का यह उच्चपद गिर गया। कुरुक्षेत्र उस वाहीक देश का एक भाग था जहा मद्र और शाकल के केंद्र में वाल्हीक के यवन शासक छा गए थे और आर्य दृष्टि से जो पारम्पर्य क्रमागत सदाचार था वह सब अस्तव्यस्त होगया था। यूनानियो के कारण वाहीक की जो अटपट हालत हुई उसीका मानो आखो-देखा वर्णन कर्ण-पर्व में कर्ण और शल्य की 'तू-तू, मैं-मैं' के प्रसग में देखा जाता है। अत्यधिक मधु-पान से सुध-बुध खोकर यवन आक्रान्ता गोष्ठियों में अनाचार करते थे उसीका नग्न चित्र कर्ण-पर्व के वर्णन की पृष्ठभमि में है। गान्धार-कला में तक्षशिला आदि स्थानो से सलेट या सेलखडी की बनी सैकडो गोल तश्तरिया ऐसी मिली हैं जिनपर मुखामेल मधु-पान के दृश्य अकित हैं। चरित्र के आर्य-मानदण्ड के अनुसार यह वर्णाश्रम का एकान्त लोप था। अतएव द्वितीय शती ई पू में पतजलि ने आर्यावर्त की भौगोलिक परि-भाषा का उल्लेख करते हुए शक-यवनो को आर्यावर्त के बाहर कहा, वाहीक देश अर्थात पजाब में यवनो का यह उत्पात मिलिन्द या मीनाण्डर के समय में सीमा पर पहुच गया था।

इसका प्रभाव यह हुआ कि जो कुरुक्षेत्र अति पवित्र था वह आर्यों के लिए वर्जित समझा जाने लगा। केवल तीर्थयात्रा के निमित्त मुह छूने भर के लिए लोग अब भी कुरुक्षेत्र में जाते थे। किन्तु मन में विश्वास यह था—

आरट्टा नाम वाह्लीका न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत् (कर्णपर्व ३०।४३)।

अर्थात् आरट्ट देश में वाल्हीक के यवन भरे हैं, आर्य को वहा एक से दो दिन रहना ठीक नहीं। यही बात वर्तमान तीर्थयात्रा-पर्व में कुरुक्षेत्र की उलूखलमेखला यक्षी के मुह से तीर्थयात्रियो के लिए कहलाई

गई है, "कुरुक्षेत्र में एक दिन रहकर दूसरी रात मत वसो। यदि रहोगे तो दिन मे जो देखा है, रात्रि में ठीक इससे उलटा आचार पाओगे (एतद्वै ते दिवा वृत्त रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा। आरण्यक, १२९।१०)।"

यहा स्पष्ट रूप में उन रात्रिकालीन मधु गोष्ठियो (ग्रीक ड्रिंकिंग रेवेल्री) की ओर सकेत किया गया है, जो उस युग के यूनानी जीवन की विशेषता थी और जिनमें कुछ रहस्य-पूजाओ और नृत्यो के साथ मधु-पान करते हुए लोग पशुवत् व्यवहार करने लगते थ। दिन मे भलेमानसो-जैसा जो प्रकट आचार था वह रात में बिल्कुल वदल जाता था।

इस पृष्ठभूमि में युधिष्ठिर ने भी यही निश्चय किया कि केवल एक दिन वहा रहें। कुरुक्षेत्र की पूर्वप्राप्त गौरवशाली महिमा का स्मरणमात्र द्वितीय शती ई पू के तीर्थयात्रा-प्रकरणो में वच गया था। यही पर कभी नहुप के पुत्र शर्याति ने रत्नमयी दक्षिणाओ के साथ अनेक ऋतुओ से यजन किया था। यही यमुना के तट पर प्लक्षावतरण तीर्थ था। इसी प्रसग मे लोमश ने सरस्वती, ओघवती, विनशन, चमसोद्भेद, विष्णुपद और विपाशा इन भौगोलिक सज्ञाओ का उल्लेख किया है। चमसोद्भेद और विनशन के प्रसग में जहा सरस्वती उत्तरीय राजस्थान की मरुभूमि में खो जाती है, लोमश की दृष्टि समुद्र के साथ सिन्धु के सगमतक और सौराष्ट्र के प्रभास-पट्टनतक चली जाती है। स्पष्ट ही ये पश्चिमी दिशा में तीर्थयात्रा के अतिम दो बिन्दु थे। सरस्वती के मरुभूमि मे लोप हो जाने के वाद फिर तीर्थों का सिलसिला समाप्त हो जाता था, केवल सिंधु-सागर-सगम और प्रभास ही पश्चिमी सीमान्त में दिखाई पडते थे। यह भी कहा गया है कि सिन्धु के महातीर्थ मे लोपामुद्रा ने अगस्त्य को अपना पति वरा था। वस्तुत अगस्त्य के नाम से सयुक्त अनेक तीर्थों की शृखला में यह भी एक कडी थी।

कुरुक्षेत्र के ही उत्तर-पूर्व में विष्णुपद तीर्थ था जिसका उल्लेख रामायण में भी इसी प्रदेश में पाया जाता है। वही विपाशा या व्यास का वह हिस्सा होना चाहिए जो कागडा प्रदेश में आता है। विपाशा से आगे ठीक ही कश्मीर मण्डल का उल्लेख हुआ है जो इस ओर भारत का प्रसिद्ध अन्तिम जनपद था।

यमुना से पूर्व का भूगोल

यहा से आगे भौगोलिक सूत्र यमुना के पूर्व की ओर मुडता है। इनमें एक तो मानसरोवर को जाने वाले उस द्वार का उल्लेख है जिसे परशुराम ने पहाड के मध्य में कल्पित किया था। 'मेघदूत' में इसे ही 'क्रौंचरन्ध्र' कहा गया है। यह काली-कर्णाली के रास्ते अलमोडा होकर लीपूलेख दर्रे से कैलाश की ओर जानेवाला मार्ग होना चाहिए। हिमालय की तराई से नीचे उतरकर एक पुराना मार्ग सरयू के उत्तर प्राचीन श्रावस्ती होता हुआ उत्तरी विदेह में जा निकलता था। उसका यहा स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए उसे वातिकषड कहा गया है। हमारी समझ में विदेह (वर्तमान मुजफ्फरपुर) के उत्तर में बेतिया-चम्पारन का घना जगल ही वातिकषड होना चाहिए। इसी प्रसग में यवक्रीत मुनि के उज्जानक तीर्थ, कुशवान् ह्रद, रुक्मिणी आश्रम और भृगुतुग महागिरि का उल्लेख है जिनकी ठीक-ठीक पहचान अविदित है। यमुना की दो शाखा नदीजला और उपजला देहरादून—अम्बाला जिलो में यमुना की उपरली धारा में मिलनेवाली छोटी नदिया होनी चाहिए। वही उशीनर राजा का स्थान कहा गया है जिसने शरणागत कपोत की रक्षा के लिए अपने शरीर का मास काटकर तुला पर चढा दिया था। यह श्येनकपोतीय आख्यान रोचनात्मक ढग से यहा कहा गया है। यही कहानी शिवि जातक के रूप में प्रसिद्ध थी।

: २८ :

अष्टावक्र की कथा

सरस्वती के समीप ही कही उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु का आश्रम था। श्वेतकेतु उपनिषद्-युग के ब्रह्मवेत्ता ऋषि थे। यहा कहा गया है कि उन्होने सरस्वती का साक्षात् दर्शन किया था। श्वेतकेतु के मामा अष्टावक्र थे, जो उद्दालक के शिष्य कहोड के पुत्र थे। उद्दालक ने अपनी पुत्री सुजाता का विवाह कहोड से किया। कहा जाता है कि गर्भ में रहते हुए ही अष्टावक्र ने अपने पिता महर्षि कहोड को टोका कि आप रात्रि के समय इतना अधिक अध्ययन न किया कीजिए। इस उपालम्भ से कुपित पिता ने पुत्र को शाप दिया जिससे शरीर के वक्र हो जाने के कारण पुत्र अष्टावक्र कहे गए।

कहानी के इस झीने आवरण के नीचे तथ्य यह जान पडता है कि ऋषि-

पत्नी अपने पति की रागहीन वेदाभ्यास जडता से प्रसन्न न थी। कथा मे स्पष्ट कहा गया है कि सुजाता धनार्थिनी थी। उसने पति से कहा—"विना धन के मैं कैसे काम चलाऊगी ? मुझे दसवा महीना लग गया है। घर मे पैसा-कौडी नही है। पुत्र जनने पर मै कैसे इस आपत्ति से निस्तार पाऊगी ?"

पत्नी की यह वात सुनकर कहोड धन के लिए जनक के यहा गए। वहा जनक के विद्वान् पुरोहित वन्दी का यह नियम था कि जो उससे शास्त्रार्थ में हारता उसे वह जल में डुवाकर प्राण ले लेता था। कहोड के साथ भी ऐसा ही हुआ। माता ने पहले तो पुत्र से यह वात छिपाई, किन्तु वडे होने पर अष्टा-वक्र को सव वृतान्त ज्ञात होगया। तव वह अपने मामा श्वेतकेतु को साथ लेकर जनक के यज्ञ में पहुचे। उनकी छोटी आयु देखकर द्वारपाल ने भीतर जाने से रोका। अष्टावक्र ने कहा—"वालक जानकर हमारा अपमान मत करो। बाल-अग्नि भी छूने से जला देती है। हम जितेन्द्रिय और ज्ञान-वृद्ध हैं। वेद के प्रभाव से हमें प्रवेश करने का अधिकार है।"

द्वारपाल ने उत्तर दिया—"क्या तुम वेद-सम्मत वहुरूपा उस वाणी का उच्चारण कर सकते हो जो विराट् अर्थों से युक्त होते हुए एक अक्षर ब्रह्म का वर्णन करती है ? अरे, अपनी छोटी आयु को देखो। क्यो व्यर्थ दुर्लभ वाद-सिद्धि की बात सोचते हो ?"

अष्टावक्र ने कहा—"शरीर के वडा होने से कोई वडा नही हो जाता। सेमल के पेड में निकला हुआ गाठ-गठीला वन्दा क्या उसे वडा वनाता है ? जो अल्पकाय होने पर भी फल देता है वही वडा है। जो अफल है, उसमें वृद्ध-भाव नही माना जा सकता।" इसपर अष्टावक्र ने उस पुराने नियम का ध्यान दिलाया जो सस्कृति का मूल था—"सिर के केश पक जाने से कोई वूढा नही होता। जो वाल-अवस्था में भी ज्ञानी है उसे ही स्थविर कहते हैं। ऋषियो ने यह धर्म या नियम बनाया कि जो ज्ञानी है वही हममें वडा है। हे द्वारपाल ! जाओ, राजा को हमारे आने की सूचना दो। आज विद्वानो के वाद-विवाद में जब सव लोग चुप हो जायगे तब तुम जानोगे कि कौन ऊचा और कौन नीचा है।"

द्वारपाल ने समझ लिया कि आज यह तगडा विद्वान् आया है। उसने अष्टावक्र को भीतर जाने दिया। अष्टावक्र ने नि शक प्रवेश करके राजा से

कहा—"हे जनको में वरिष्ठ राजन्, तुम आदर के योग्य हो। तुम सब प्रकार समृद्ध हो, किन्तु मैंने सुना है कि वन्दी नामक तुम्हारी सभा का कोई विद्वान् वाद में वेदवेत्ताओ का निग्रह करके तुम्हारे राजपुरुषो द्वारा उन्हे जल मे निमज्जित करा देता है। ब्राह्मणो से यह बात सुनकर मैं आज उसके साथ ब्रह्मोद्य चर्चा करने आया हू। कहा है वह वन्दी ? मै उसे ऐमा खपा दूगा, जैसे सूर्य नक्षत्रों को मिटा देता है।"

जनक ने कहा—"तुम वन्दी की वाक्शक्ति को जाने विना उसे जीतना चाहते हो। वडे-वडे धाकड वादशील ब्राह्मण उससे पहले निपटकर देख चुके हैं। जिसमें कुछ मार हो उसे ही तुम्हारे-जैसे वचन कहने चाहिए।"

अष्टावक्र ने तडपकर उत्तर दिया—"मेरे-जैसो से उसका पाला नही पडा। इसीलिए वह औरो के लिए सिंह वना रहा। आज मुझसे जूझकर वह सदा के लिए सो जायगा, जैमे निर्वल धुरीवाला शकट मार्ग में ढेर हो जाता है।" इस प्रकार की डीग सुनकर जनक ने स्वय ही पहले अष्टावक्र को ब्रह्मोद्य चर्चा में कसा।

ब्रह्मोद्य-चर्चा

ब्रह्मोद्य एक विशेष प्रकार के प्रश्न और उत्तर थे जो यक्ष-पूजा के आवश्यक अग थे। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर या वूझने को लोक में यक्ष-प्रश्न कहते थे। यजुर्वेद का ब्रह्मोद्य (२३।९।४५) और महाभारत की यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी (आरण्यक पर्व २९७।२६-६१) एक ही साहित्यिक शैली के अग है। और दोनो में कई मत्र और श्लोक समान है। यक्ष-पूजा के समय इस प्रकार तडातड पूछे जानेवाले प्रश्नो और उत्तरो की झडी लग जाती थी।

जनक ने कहा—"छ नाभि, वारह अक्ष, चौवीम पोर, तीन सौ साठ अरे, इनका जो जाने अर्थ, वही कवि समर्थ।"

अष्टावक्र ने पट उत्तर दिया—"छ नाह, वारह पुट्ठी, तीन सौ साठ अरे, इनका सदा घूमता चक्का, करे तुम्हारी मव दिन रच्छा।"

जनक ने फिर प्रश्न किया—"देवो की दो घोडिया, मार झपट्टा टूटती। किसने उन्हें ग्याभिन किया? ग्याभिन होकर क्या जना ?"

वुद्धि को चकरा देनेवाली इस वुझौअल का उत्तर अष्टावक्र ने भी कुछ

वैसा ही चकमक दिया—"तेरे घर वे कभी न आय, शत्रु के घर सदा दिखाय। अग्नि से जो ग्याभिन हुई, अग्नि ही वे व्याती गई।"

पहले प्रश्न मे कालचक्र के विषय में बूझी गई बुझौअल का उत्तर अष्टावक्र ने यह कहकर दिया कि वह चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करे। दूसरे प्रश्न मे देवो की दो घोडिया प्राण और अपान की दो धाराए है जो बाज की गति से झपटकर प्रत्येक प्राणी के शरीर मे गर्भ के समय प्रवेश करती हैं। वायुरूपी प्राण जिसका सारथी है, ऐसा वातसारथी जीव प्राणापानरूपी शक्तियो को गर्भित करता है अर्थात् जीव के शरीर में आने पर ये शक्तिया भी आती हैं। ये आकर उसी जीव को मानो उत्पन्न करती है अर्थात् प्राणो का आना ही जीव के अस्तित्व का प्रमाण है।

ये गुह्य वैदिक अर्थ इन चटपटे प्रश्नोत्तरो से बूझे गए। वैदिक अर्थों के दो प्रश्न पूछकर जनक ने तीसरा प्रश्न लोक-साहित्य की पृष्ठभूमि मे किया—

"कौन सोते हुए आख नही झपता ? कौन उत्पन्न होकर भी नही हिलता-डुलता ? किसके हृदय नही है ? कौन एकदम से बढ जाता है ?"

इसके उत्तर में अष्टावक्र ने कहा—"मछली सोते हुए आख नही झपती। अण्डा उत्पन्न होकर हिलता-डुलता नही। पत्थर में हृदय नही होता। नदी में एकदम बाढ आती है।"

उत्तर सुनकर जनक ने अष्टावक्र का लोहा मानते हुए कहा—"तुम मनुष्य नही, दैवी शक्ति से युक्त हो। तुम बाल नही, स्थविर हो। वाक्-प्रलाप में तुम्हारे-जैसा और नही है। मै तुम्हे मार्ग देता हू, यह वन्दी है।"

इतना सुनकर अष्टावक्र ने आगे बढकर वन्दी को ललकारा। वन्दी ने कहा—"अरे छोकरे, सोते हुए बाघ को मत जगा। जीभ लपलपाते नाग को मत छेड। साप के सिर पर पैर रखकर तू बिना डसे गए न बचेगा। जो घमड में भरकर चट्टान में घूसा मारता है, उसीका हाथ नख समेत चूर-चूर हो जाता है।" उस समिति में क्रोध से गरजते हुए अष्टावक्र ने वन्दी से कहा—"मेरे पूछने पर तू उत्तर दे। तेरे पूछने पर मै उत्तर दूगा।"

इस प्रकार के सख्याश्रित प्रश्नोत्तरो को प्राचीन परिभाषा में कुमार प्रश्न (पाली कुमार पञ्ह) कहते थे।

इसके बाद वन्दी और अष्टावक्र ने अपने-अपने बोल बोले। इनका मूल

आधार एक, दो, तीन, चार, पाच, छ आदि सख्याए थी। उदाहरण के लिए वन्दी ने कहा—"एक ही अग्नि बहुधा समिद्ध हुई। एक सूर्य से सब चमकते हैं। एक देवराज ने सब असुरो को पछाडा। यमराज सब पितरो में राजा है।"

अष्टावक्र ने दो का अक पकडकर इसी प्रकार 'कही की ईंट कही का रोडा, भानमती ने कुनवा जोडा' और श्लोक खडा किया—"इन्द्र और अग्नि दो मित्र साथ विचरते हैं। पर्वत और नारद दो देवर्षि है। दो ही रथ के पहिये है। विधाता को पति-पत्नी का दोहरा विधान करना पडा (क्योंकि अकेले से सृष्टि न हुई)।"

इस प्रकार एक से लेकर बारहतक की सख्याओ की चकर-मकर से श्लोको का तावड-तोड क्रम चला। तेरहवें अक पर पहुचकर वन्दी ने कहा—"तेरहवी तिथि डरावनी होती है। इस धरती पर तेरह द्वीप हैं।" इतना कहने के बाद उसकी बुद्धि और न फुरी।

तब अष्टावक्र ने आधा श्लोक यो पूरा किया—"केशी तेरह दिन तक चला। तेरह अक्षरोंसे अतिछन्द शुरू होते है।" इस प्रकार वन्दी को चुप और अष्टावक्र को बोलते हुए देखकर जनक की सभा में सब लोग प्रसन्न हुए। वन्दी ने भी उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर कहा—"पूजनीय अष्टावक्र की मैं भी पूजा करता हू।" पर अष्टावक्र इतने से माननेवाले न थे। उन्होने वन्दी के साथ वही किया, जो उसने कहोड के साथ किया था। अष्टावक्र अपने मामा श्वेतकेतु के साथ विजय के उल्लास से आश्रम को लौट आये।

: २९ :

यवक्रीत की कथा

लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से सकेत किया—"हे राजन्, यह कनखल प्रदेश है। यहा महानदी गगा शैलराज हिमवन्त से उतरकर समतल भूमि में आती है। यही भगवान् सनत्कुमार ने सिद्धि प्राप्त की थी। यही रैभ्य मुनि का वह सुन्दर आश्रम है, जहा भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत ऋषि नाश को प्राप्त हुए।"

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया—"ऋषि-पुत्र यवक्रीत के नाश का क्या कारण था ?"

लोमश ने उत्तर दिया—"भरद्वाज और रैभ्य दो मित्र थे। भरद्वाज के पुत्र का नाम यवक्रीत था। रैभ्य के भी दो पुत्र थे, अर्वावसु और परावसु। रैभ्य विद्वान् थे और भरद्वाज तपस्वी। रैभ्य का सर्वत्र सत्कार होता था। यह देखकर यवक्रीत को क्षोभ हुआ और उसने वेदो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक तप आरम्भ किया।

उसका कठोर तप देखकर इन्द्र ने प्रकट होकर तप का कारण पूछा। यवक्रीत ने कहा—"हे इन्द्र, गुरुमुख से वेदो को पढने मे बहुत समय लगता है। मै चाहता हू कि तप से मुझे सब वेदो का ज्ञान प्राप्त हो जाय।"

इन्द्र ने कहा—"यह मार्ग पर्याप्त नही है। इससे सफलता न होगी। जाओ, गुरुमुख से वेद पढो।" इन्द्र यह कहकर चले गए पर यवक्रीत ने अभीष्ट-सिद्धि के लिए और भी घोर तप आरम्भ किया। इन्द्र फिर आये और उसे टोककर बोले—"तुमने यह असभव काम हठपूर्वक आरम्भ किया है, बुद्धिपूर्वक नही।"

यवक्रीत ने उत्तर दिया—"हे देवराज, यदि इस प्रकार मेरी इच्छा पूरी न हुई तो इससे भी घोर तप करूगा। समझ लो यदि तुमने मेरी मनोकामना पूरी नही की तो अपना एक-एक अग काटकर अग्नि में हवन कर दूगा।"

उसका यह कठोर निश्चय जानकर इन्द्र ने एक युक्ति सोची। उसने एक निर्बल बूढे ब्राह्मण का रूप बनाया और जहा यवक्रीत गगा मे स्नान करने जाता था, वहा बालू की एक-एक मुट्ठी डालकर बाध बाधने लगा। यवक्रीत ने उस बूढे ब्राह्मण को व्यर्थ परिश्रम करते देखा और कहा—"हे ब्राह्मण, तुम क्या चाहते हो ? क्यो इस निरर्थक काम में लगे हो ?"

इन्द्र ने कहा—"लोगो को गगा के आर-पार जाने मे कष्ट होता है। उनके लिए सुखकर सेतु बना रहा हू।"

यवक्रीत ने कहा—"अरे, गगा के इस महान् प्रवाह को क्या तुम बालू की मुट्ठियो से बाध सकते हो ? इस असभव काम से विरत हो और जो कर सको, उसमे मन लगाओ।"

इन्द्र ने कहा—"वेदो के अर्थ-ज्ञान के लिए जैसे तुम्हारा यह तप है, वैसे ही मैंने भी कार्य का यह भारी वोझ उठाया है।"

यवक्रीत ने सकेत समझ लिया और कहा—"हे इन्द्र, जैसा तुम्हारा यह व्यर्थ प्रयत्न है, यदि मेरा तप भी वैसा ही निरर्थक है, तो जो मेरेलिए शक्य हो, वह वताओ और मुझे वरदान दो कि मै दूसरो से अधिक हो सकू।"

इन्द्र ने कहा—"अच्छा, तुम्हें और तुम्हारे पिता को वेद प्रतिभासित होगे, और भी जो चाहोगे, तुम्हारी कामना पूर्ण होगी।"

यहातक यवक्रीत का उपाख्यान सीधे-सादे वुद्धिगम्य रूप में चलकर तीस श्लोको में समाप्त हो गया है। इसकी पृष्ठभूमि इन्द्र और भरद्वाज का वह वैदिक उपाख्यान था जो तैत्तिरीय व्राह्मण में पाया जाता है। वहा भरद्वाज ऋषि वैदिक ज्ञान के लिए तप करते है। इन्द्र ने उनसे पूछा—'हे भरद्वाज, यदि तुम्हे इसी प्रकार एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?" भरद्वाज ने कहा—"मै वेदो के सपूर्ण ज्ञान के लिए इसी प्रकार तप करूगा।"

इन्द्र ने फिर पूछा—"यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?"

भरद्वाज ने कहा—"मै इसी प्रकार वेदार्थ-ज्ञान के लिए तप करूगा।" तव उनके सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उनमें से एक-एक मुट्ठी भरकर कहा—"हे भरद्वाज ! इन पर्वतो को देखते हो ? तुम जितना ज्ञान पाओगे, वह इन मुट्ठियो के वरावर है। वेद तो अनन्त हैं। "अनन्ता वै वेदा।"

यह प्राचीन वैदिक कहानी सार्थक है। वैदिक ज्ञान या सृष्टि का ज्ञान सचमुच अनन्त है। मनुष्य के मस्तिष्क में उसका जो अश आ सकता है, वह अपेक्षाकृत इतना अल्प है, जितनी पर्वत की तुलना में एक मुट्ठी धूल। अर्वाचीन दार्शनिक मॉरिस मेटरलिक ने अज्ञेय तत्त्व की दुर्धर्षता से स्तव्ध होकर इसीसे मिलता-जुलता उद्गार प्रकट किया है—"इस विश्व के एक परमाणु का भी सपूर्ण ज्ञान कभी किसीको हो सकेगा, इसमे सदेह है। मैं अपने शत्रु के लिए भी यह न चाहूगा कि वह ऐसे जगत् में रहने के लिए वाध्य हो जिसके एक परमाणु का भी पूरा ज्ञान किसीने जान लिया हो।"

यवक्रीत के इस वैदिक उपाख्यान के साथ एक अनमेल पुछल्ला भी महाभारत में जुड गया है। इसमें लगभग अस्सी श्लोक है। कहानी के इस तीन

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया—"ऋषि-पुत्र यवक्रीत के नाश का क्या कारण था ?"

लोमश ने उत्तर दिया—"भरद्वाज और रैभ्य दो मित्र थे। भरद्वाज के पुत्र का नाम यवक्रीत था। रैभ्य के भी दो पुत्र थे, अर्वावसु और परावसु। रैभ्य विद्वान् थे और भरद्वाज तपस्वी। रैभ्य का सर्वत्र सत्कार होता था। यह देखकर यवक्रीत को क्षोभ हुआ और उसने वेदो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक तप आरम्भ किया।

उसका कठोर तप देखकर इन्द्र ने प्रकट होकर तप का कारण पूछा। यवक्रीत ने कहा—"हे इन्द्र, गुरुमुख से वेदो को पढने मे बहुत समय लगता है। मै चाहता हू कि तप से मुझे सब वेदो का ज्ञान प्राप्त हो जाय।"

इन्द्र ने कहा—"यह मार्ग पर्याप्त नही है। इसमे सफलता न होगी। जाओ, गुरुमुख से वेद पढो।" इन्द्र यह कहकर चले गए पर यवक्रीत ने अभीष्ट-सिद्धि के लिए और भी घोर तप आरम्भ किया। इन्द्र फिर आये और उसे टोककर बोले—"तुमने यह असभव काम हठपूर्वक आरम्भ किया है, बुद्धिपूर्वक नही।"

यवक्रीत ने उत्तर दिया—"हे देवराज, यदि इस प्रकार मेरी इच्छा पूरी न हुई तो इससे भी घोर तप करूगा। समझ लो यदि तुमने मेरी मनोकामना पूरी नही की तो अपना एक-एक अग काटकर अग्नि मे हवन कर दूगा।"

उसका यह कठोर निश्चय जानकर इन्द्र ने एक युक्ति सोची। उसने एक निर्बल बूढे ब्राह्मण का रूप बनाया और जहा यवक्रीत गगा में स्नान करने जाता था, वहा बालू की एक-एक मुट्ठी डालकर बाध बाधने लगा। यवक्रीत ने उस बूढे ब्राह्मण को व्यर्थ परिश्रम करते देखा और कहा—"हे ब्राह्मण, तुम क्या चाहते हो ? क्यो इस निरर्थक काम में लगे हो ?"

इन्द्र ने कहा—"लोगो को गगा के आर-पार जाने मे कष्ट होता है। उनके लिए सुखकर सेतु बना रहा हू।"

यवक्रीत ने कहा—"अरे, गगा के इस महान् प्रवाह को क्या तुम बालू की मुट्ठियो से बाध सकते हो ? इस असभव काम से विरत हो और जो कर सको, उसमे मन लगाओ।"

इन्द्र ने कहा—"वेदो के अर्थ-ज्ञान के लिए जैसे तुम्हारा यह तप है, वैसे ही मैंने भी कार्य का यह भारी बोझ उठाया है।"

यवक्रीत ने सकेत समझ लिया और कहा—"हे इन्द्र, जैसा तुम्हारा यह व्यर्थ प्रयत्न है, यदि मेरा तप भी वैसा ही निरर्थक है, तो जो मेरेलिए शक्य हो, वह बताओ और मुझे वरदान दो कि मैं दूसरो से अधिक हो सकू।"

इन्द्र ने कहा—"अच्छा, तुम्हे और तुम्हारे पिता को वेद प्रतिभासित होगे, और भी जो चाहोगे, तुम्हारी कामना पूर्ण होगी।"

यहातक यवक्रीत का उपाख्यान सीधे-सादे बुद्धिगम्य रूप में चलकर तीस श्लोको में समाप्त हो गया है। इसकी पृष्ठभूमि इन्द्र और भरद्वाज का वह वैदिक उपाख्यान था जो तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाया जाता है। वहा भरद्वाज ऋषि वैदिक ज्ञान के लिए तप करते है। इन्द्र ने उनसे पूछा—"हे भरद्वाज, यदि तुम्हे इसी प्रकार एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?" भरद्वाज ने कहा—"मै वेदो के सपूर्ण ज्ञान के लिए इसी प्रकार तप करूगा।"

इन्द्र ने फिर पूछा—"यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?"

भरद्वाज ने कहा—"मैं इसी प्रकार वेदार्थ-ज्ञान के लिए तप करूगा।" तब उनके सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उनमें से एक-एक मुट्ठी भरकर कहा—"हे भरद्वाज! इन पर्वतो को देखते हो ? तुम जितना ज्ञान पाओगे, वह इन मुट्ठियो के बराबर है। वेद तो अनन्त है। "अनन्ता वै वेदा।"

यह प्राचीन वैदिक कहानी सार्थक है। वैदिक ज्ञान या सृष्टि का ज्ञान सचमुच अनन्त है। मनुष्य के मस्तिष्क में उसका जो अश आ सकता है, वह अपेक्षाकृत इतना अल्प है, जितनी पर्वत की तुलना में एक मुट्ठी धूल। अर्वाचीन दार्शनिक मॉरिस मेटरलिक ने अज्ञेय तत्त्व की दुर्धर्षता से स्तब्ध होकर इसीसे मिलता-जुलता उद्गार प्रकट किया है— "इस विश्व के एक परमाणु का भी सपूर्ण ज्ञान कभी किसीको हो सकेगा, इसमें सदेह है। मैं अपने शत्रु के लिए भी यह न चाहूगा कि वह ऐसे जगत् में रहने के लिए बाध्य हो जिसके एक परमाणु का भी पूरा ज्ञान किसीने जान लिया हो।"

यवक्रीत के इस वैदिक उपाख्यान के साथ एक अनमेल पुछल्ला भी महाभारत में जुड गया है। इसमें लगभग अस्सी श्लोक हैं। कहानी के इस तीन

चौथाई किन्तु भट्टे अश में मदोद्धत यवक्रीत अपने पिता के सखा रैभ्य की पुत्र-वधू के साथ अनाचार में प्रवृत्त होने के कारण कृत्या द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है। पिता भरद्वाज पुत्र-शोक में चितारोहण करते है और रैभ्य को शाप देते है। उपाख्यान में आगे कहा गया है कि रैभ्य के पुत्र परावसु ने वनमें विचरते हुए अपने पिता को ही भूल से मृग समझकर उनका वध कर डाला और तव छोटे पुत्र अर्वावसु ने अपने तप से ब्रह्महत्या के उस पाप का प्रक्षालन किया, और उन सबको पुनर्जीवित कर दिया। पतजलि के महाभाष्य के अनुसार यवक्रीत के इस उपाख्यान के पढने-पढानेवाले यावक्रीतिक कहलाते थे। इससे ज्ञात होता है कि शुग कालतक महाभारत से अलग भी इस उपाख्यान का अस्तित्व था।

: ३० :

हिमालय के पुण्य प्रदेश में

कनखल म गगा-द्वार तक पहुचे हुए पाडवो के सामने हिमालय का वह पुण्य प्रदेश विस्तृत था जो बदरी-केदारखड और कैलास-मानस-खड के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रदेश के भूगोल का कुछ परिचय ऊपर आ चुका है, फिर भी तीर्थ-यात्रा प्रसग में पुन इसका वर्णन किया गया है। अलकनन्दा के मार्ग से गन्धमादन पर्वत के बदरी-केदारतक और कालीकर्णाली के मार्ग से कैलास-मानसरोवरतक के भूगोल का अच्छा परिचय प्राचीन काल के भारतीयो को हो गया था। इस प्रदेश में कुणिन्द विषय का उल्लेख भौगोलिक महत्व का है (१४१।२६)।

देहरादून जिले मे यमुना की पर्वतीय द्रोणी कुणिन्दो का प्रदेश थी, जहा कुणिन्दगण के ऐतिहासिक सिक्के आज तक पाये जाते है। कुणिन्दो के उत्तर पूरब में तगण प्रदेश था, और पश्चिम मे रामपुर-बुशहरतक फैला हुआ किरात देश था। अतएव इस प्रदेश के लिए 'किराततगणाकीर्ण' एव 'कुणिद-शतसकुल' (१४१।२५) ये दो विशेषण ठीक प्रयुक्त हुए है। महाभारत ने इस लम्बे-चौडे भूभाग को 'महद् विषय' कहा है। कुणिन्दाधिपति सुबाहु ने अपनी सीमा पर पाडवो की आवभगत की।

विशालाबदरी की ओर

उससे विदा लेकर पाडवो ने गन्धमादन पर्वत के दर्शन की इच्छा से विशालाबदरी की ओर प्रस्थान किया। आज भी बदरीनाथ के पास का पर्वत इसी नाम से विख्यात है। गन्धमादन की चोटियो को किन्नराचरित कहा गया है और इसके पार्श्व-प्रदेशो मे यक्षो और गधर्वों की स्त्रियो का उल्लेख किया गया है। वस्तुत किन्नर, यक्ष और गन्धर्व इस प्रदेश में रहनेवाली जातियो की सज्ञाए थी। इसी प्रदेश में मन्दर-गिरि और मैनाक इन दो पर्वत-चोटियो के भी नाम आये है। मन्दरगिरि पर माणिभद्र यक्ष और कुबेर का निवास था। अतएव यह पर्वत बदरीनाथ के पास ही वर्तमान अलकापुरी और माणा से सम्बद्ध होना चाहिए। अलकापुरी कुबेर की और माणा माणिभद्र की राजधानी थी। यहीपर कुबेर के अखाडे का और उसके समीप-पद्म सौगन्धिको से भरी पुष्करिणी एव विपुल नदी का उल्लेख है। अनेक सौगन्धिक कमलो और दिव्य पद्मो से भरी हुई कुबेर की पुष्करिणी की पहिचान बदरीनाथ के पास की भउडार घाटी से जान पडती है, जहा की पुष्प-समृद्धि ससार में सबसे अधिक है। लदन के राजकीय क्यू उद्यान के अध्यक्ष श्री स्मिथ ने इसे 'वैली आव फ्लावर्स' (फूलो की घाटी) कहा है और इसी नाम की पुस्तक में इसका वर्णन भी किया है। इनका प्राचीन नाम सौगन्धिक वन चरितार्थ होता है (१५०।१८)।

इसी प्रदेश में कदली-वन का उल्लेख भारतीय भूगोल की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है। कदली वन के मध्य में भीम ने हनुमान का एकान्त आश्रम देखा। हनुमान के इस आश्रम का नाम लोकभाषा में बन्दरपूछ है। यमुना का उद्गम स्थान होने के कारण यही यामुन पर्वत कहलाता था। जमनोत्री और बन्दरपूछ यमुना के उद्गम स्थान के पच्छिम और पूरब की दो चोटिया है। यह कदली वन पीछे के भारतीय साहित्य में कजलीवन नाम से प्रसिद्ध होगया। जायसी ने कई बार कजलीवन का उल्लेख किया है और लिखा है कि गोपीचन्द्र वैरागी होकर योग साधने के लिए कजलीवन में चले गए थे (पद्मावत १२।५।७)। वनपर्व के अनुसार कदलीवन में सिद्ध लोग ही जा सकते थे (विना सिद्ध गति वीर गतिरत्र न विद्यते (१४६।७९)। वस्तुत देहरादून से एक ओर यामुन पर्वत और दूसरी ओर बदरीनाथ के बीच का समस्त प्रदेश साधना में लीन सिद्धो के आश्रमो से भरा होने के कारण कदलीवन कहलाने लगा था।

हनमान-भीम सवाद

कदलीवन के प्रसग में हनुमान्, और भीम का रोचक सवाद पाया जाता है। हनुमान ने यह कहकर कि आगे का देश अगम्य है, भीम को उस ओर बढने से रोका। भीम ने बलपूर्वक जाना चाहा। हनुमान मार्ग रोककर लेट गए। भीम ने मार्ग छोडकर उनसे उठने के लिए कहा। हनुमान ने कहा—"मै व्याधि से पीडित हू, उठने की शक्ति नही। यदि तुम्हे अवश्य जाना है तो मुझे लाघकर चले जाओ।" भीम ने समझदारी से उत्तर दिया—"तुम्हारे शरीर में निर्गुण परमात्मा का निवास है। मै तुम्हें लाघकर उसका अपमान नही कर सकता। यदि मुझे आगमो से यह ज्ञान न हो गया होता कि पचभूतो को जीवित रखनेवाला चैतन्य तत्त्व ही मनुष्य की देह में निवास कर रहा है, तो मै तुम्हे और इस पर्वत को भी ऐसे लाघ जाता जैसे कभी हनुमान् समुद्र को लाघ गए थे।"

हनुमान ने पूछा—"अरे, समुद्र को लाघनेवाला यह हनुमान कौन था?" भीम ने तत्काल उत्तर दिया—"वह तो मेरा भाई, वानरो में श्रेष्ठ योद्धा था, जिसकी कथा रामायण में प्रसिद्ध है और जो राम की पत्नी सीता के लिए सौ योजन का समुद्र एक ही कुदान में पार कर गया था। मै उसीका बलधारी भाई हू। मार्ग से हट जाओ नही तो मुझे तुम्हे यमलोक भेजना पडेगा।"

भीमसेन को यो बलोन्मत्त देखकर हनुमान मन में हँसे, और बोले—"इस वुड्ढे पर दया करो। मुझमें उठने की शक्ति नही। कृपा कर मेरी इस पूछ को हटाकर चले जाओ।"

भीम ने बाए हाथ से पूछ को हटाना चाहा, किन्तु वह टस-से-मस न हुई। तब उसने उसे अपने दोनो हाथो से पकडकर अपना पूरा बल लगाया। तो भी उसे न हटा सका और लजाकर बैठ गया। भीम ने हाथ जोडकर कहा—"हे कपिश्रेष्ठ, मुझे क्षमा करो, बताओ तुम कौन हो, जो वानर के रूप में यहा रहते हो।"

हनुमान् ने कहा—"मैं वानरराज केसरी की पत्नी में वायु के अश से उत्पन्न हनुमान हू। राम से मैंने यह वरदान मागा कि जबतक लोक में राम-कथा का प्रचार रहे, तबतक मै भी जीवित रहू। राम ने 'तथास्तु' कहा —

यावत् रामकथा वीर, भवेल्लोकेषु शत्रुहन्।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥

यहा के गन्धर्व और अप्सराए रामचरित का गान करके मुझे प्रसन्न करते है।" यहा हनुमान के मुख से रामचरित्र की मुख्य कडिया केवल ११ श्लोको में गिना दी गई है। हम देखेंगे कि आरण्यक पर्व में ही आगे चलकर युधिष्ठिर मार्कण्डेय ऋषि से प्रश्न करते है कि मुझसे अधिक अभागा राजा भी कोई हुआ है? उसके उत्तर में मार्कण्डेय ने अठारह अध्यायो में लगभग ७०० श्लोको में विस्तार से रामचरित का वर्णन किया है (वनपर्व अ० २५८।२७५)।

सौगंधिक वन मे

इसके बाद कथा है कि हनुमान ने भीम को सौगन्धिकवन तक पहुचने का मार्ग बताया और सहेज दिया—"उस वन की रखवाली राक्षस लोग करते है, तुम युक्ति से वहा अपना कार्य करना।"

बात यह थी कि जब पाडव बदरीनाथ के पास नर-नारायण आश्रम में ठहरे थे, तब पूर्व-उत्तर की वायु के साथ एक सौगन्धिक कमल द्रौपदी के सामने आकर गिरा। उसकी दिव्य गध से मुदित होकर द्रौपदी ने भीमसेन से वैसे ही और सुगन्धित पुष्प लाने को कहा। उसीकी खोज में भीम की यह यात्रा हुई थी। विशालाबदरी से और आगे बढने पर भीमसेन इस सौगन्धिक वन में पहुचे। बदरीनाथ के उत्तर-पूर्व की ओर से आनेवाली विष्णु-गगा ही वह विपुल नदी होनी चाहिए जिसके समीप यह सौगन्धिक वन था। वहीसे उत्तर-पूर्वी वायु के साथ उडता हुआ वह पुष्प आया था।

भीमसेन ने सौगन्धिक वन में पहुचकर वहाकी पुष्करिणी से कमल के पुष्प लेने चाहे। रक्षको ने उन्हे रोका और कहा—"यह कुबेर का विहार-स्थल है। बिना उनकी आज्ञा से कोई यहासे कमल नही ले सकता।"

भीम ने कहा—"प्रथम तो कुबेर यहा पास में दिखाई नही देते, जो उनसे आज्ञा ले ली जाय। दूसरे, यदि वह यहा हो भी, तो मैं उनसे याचना नहीं करूगा, क्योकि राजा किसीसे नही मागते, यह सनातन धर्म है। और फिर यह नलिनी पहाडी झरने से स्वय बने हुए सरोवर में उत्पन्न हुई है, कुछ कुबेर

के महल के भीतर नही । अतएव इसपर सबका समान अधिकार है । इस तरह की सामान्य वस्तुए भी क्या कोई किसीसे मागा करता है ?" इतना कह भीमसेन फूल लेने के लिए बढे । इसपर रक्षको मे और उनमे युद्ध होने लगा । भीम के गदा-प्रहार से आहत यक्षो ने कुबेर को सूचित किया । उसे जानकर कुबेर ने हँसकर कहा—"अरे भीम को इच्छानुसार पुष्प लेने दो । मै जानता हू कि वह द्रौपदी के लिए सौगन्धिक पुष्प लेने यहा आये है ।" इससे रक्षको का क्रोध शात होगया ।

इधर उसी समय पहाडी ढोको को अपने साथ खीच लानेवाली बडी प्रचड वायु चलने लगी । आकाश से घोर ध्वनि के साथ गाज गिरी और अन्धेरा छागया । युधिष्ठिर ने द्रौपदी से पूछा—"भीम कहा है ?" द्रौपदी मे यह जानकर कि भीम उत्तर-पूर्व की दिशा मे कमल लेने गए है, युधिष्ठिर चिन्तित होकर द्रौपदी और भाइयो के साथ उसी दिशा मे चले । पुष्करिणी के समीप पहुचकर उन्होने भीम को तीर पर बैठे हुए देखा और वह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उस दिन वही ठहरकर सबके साथ नर-नारायण आश्रम लौट आये ।

अवान्तर कथाए

यहा कथाकार ने कई अवान्तर कथाओ का पैवन्द लगाकर इस प्रसग को और अधिक अलकृत किया है । जटासुर-वध पर्व, यक्ष-युद्ध पर्व और निवात-कवच युद्ध पर्व इन तीन उपकरणो से यह प्रकरण लम्बा खीचा गया है । जटासुर नाम के राक्षस ने भीम को अनुपस्थित जानकर पाडवो पर आक्रमण किया और उनके अस्त्रो के साथ वह उनको हर कर ले जाने लगा । सहदेव ने किसी तरह अपने आपको छुडाकर भीमसेन को पुकारा । भीमसेन ने तत्काल आकर उस असुर का वध कर दिया ।

यक्ष-युद्ध पर्व की कथा सक्षेप में इस प्रकार है । नारायण-आश्रम में रहते हुए पाडवो को चार वर्ष बीत चुके थे । तब युधिष्ठिर ने कहा कि चलते समय अर्जुन ने मुझसे कहा था कि पाच वर्ष समाप्त होने पर मैं श्वेत पर्वत पर आऊगा । अर्जुन से मिलने की आशा से सब लोग नारायण-आश्रम से आगे मैनाक, गन्धमादन और श्वेत पर्वत की ओर चले । वहा पहले वे वृषपर्वा के आश्रम में पहुचे और फिर आर्ष्टिषेण ऋषि के आश्रम में रहे । पाचवा वर्ष उन्होने वही व्यतीत किया ।

कुवेर-युधिष्ठिर भेंट

यह आश्रम गन्धमादन के समीप था। वही पर्वत की चोटी पर कुवेर के अनेक यक्ष और राक्षसो से भीम का घमासान युद्ध हुआ, जिसमें कुवेर के अनेक अनुयायी काम आये और कुवेर का मित्र मणिमान् नामक राक्षस भी मारा गया। कुवेर ने समाचार जानकर पहले तो कुछ क्रोध किया, पर पीछे स्वय युधिष्ठिर को शात किया कि वह भीम के प्रति रुष्ट न हो, क्योकि भीम ने दैव के वश होकर ही यह कर्म किया था और ऐसा करके अगस्त्य ऋषि के एक पुराने शाप से कुवेर को मुक्त किया था। युधिष्ठिर के पूछने पर कुवेर ने बताया कि मणिमान् नामक मेरे मित्र ने यमुना के किनारे तप करते हुए अगस्त्य ऋषि के ऊपर थूक दिया था, जिसके कारण उसे ऋषि के शाप का फल भोगना पडा।

इन वाल-सुलभ कहानियो के वीच में मुख्य वात कुवेर के साथ युधिष्ठिर की भेंट है। कुवेर की राजधानी के इतने समीप पहुचकर यह सम्मिलन आवश्यक था। इस अवसर पर कुवेर ने युधिष्ठिर को राजनीति-सवधी कुछ मूल्यवान उपदेश दिया। लोक में अपने कार्य-साधन की पाच युक्तिया है। जो व्यक्ति धृति या धैर्य के साथ काम में लगा रहता है, जो दक्षता या समझदारी से काम करता है, जो देश और काल इन दोनो को पहचानकर अपने आपको तदनुसार ढालता है, और जो कार्य-सिद्धि के लिए पराक्रम करता है, ऐसा व्यक्ति अपने उद्देश्य में सफल होता है।

कुवेर ने चलते हुए तीन वातें और कही। प्रथम यह कि अलकानिवासी समस्त मेरे अनुचर और पर्वतीय लोग तुम्हारी रक्षा करेंगे। दूसरे इस प्रदेश में भीमसेन को साहस के कामो से वचना चाहिए, कही ऐसा न हो कि वह पहाड में रहते हुए वहाके लोगो से धोखा खा जाय। तीसरे, उसने यह भी कहा कि शीघ्र ही उनकी अर्जुन से भेंट होगी। सवने कुवेर को प्रणाम किया और वे अपने आश्रम को लौट आए।

अर्जुन का आगमन

जवसे अर्जुन गए थे, पाडवो को मानसिक शाति न मिली थी। अर्जुन पाच वर्षतक इन्द्रलोक में रह चुके थे और अनेक दिव्य-अस्त्रो की प्राप्ति भी

कर चुके थे। उचित अवसर जानकर अर्जुन ने इन्द्र से विदा ली और गन्ध-मादन पर्वत पर आकर अपने भाइयो से मिले। उन्होने धौम्य, युधिष्ठिर और भीम के चरणो की वन्दना की। नकुल और सहदेव ने उनका अभिवादन किया। अर्जुन ने द्रौपदी से मिलकर उसे सान्त्वना दी। सब लोग परम हर्षित हुए। अर्जुन ने विस्तार से अपनी कथा सुनाई कि किस प्रकार उन्होने अपने शील और समाधि से शिव और इन्द्र को प्रसन्न करके दिव्य अस्त्र प्राप्त किये थे। उसी समय देवराज इन्द्र भी युधिष्ठिर से मिलने के लिए आये। युधि-ष्ठिर ने उनका उचित आदर किया। इन्द्र ने कहा—"हे राजन्, आप इस पृथिवी का शासन करेगे। निश्चय ही आपका कल्याण होगा। अब आप काम्यक आश्रम को लौट जाय।" यह कह इन्द्र भी अपने स्थान को चले गए।

इस प्रकरण के अन्त मे फलश्रुति के दो श्लोक इस प्रकार है —'कुबेर और इन्द्र के साथ पाडवो के समागम की इस कथा को जो वर्ष भरतक व्रत-वान ब्रह्मचारी रहकर पढेगा, वह सब दु खो से छूट कर सौ वर्ष की आयुतक सुख से जियेगा (१६२।१५।१६)। इससे यह निश्चित माना जा सकता है कि कुबेर और इन्द्र से पाडवो का सम्मिलन बाद के किसी उत्साही लेखक की कल्पना है जिसने यह उचित समझा कि देवलोक के इतने समीप पहुचकर पाडवो को उन देवो से विना मिले न रहना चाहिए। यही नन्दनवन के वर्णन मे लग-भग साठ वृक्षो की सूची मे आम्र के साथ सहकार का भी उल्लेख है (१५५।६०)। आम्र बीजू आम के लिए और सहकार कलमी आम के लिए प्रयुक्त होता था। सहकार का शब्द पहली बार प्रयोग अश्वघोष के सौन्दर-नन्द काव्य (७।३) मे हुआ है। उसके बाद तो अमरकोष, कुमारसभव, रघुवश, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र आदि गुप्तकालीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बहुतायत से मिलने लगता है। इससे सकेत मिलता है कि गन्धमादन प्रदेश की यात्रा का यह उलझा हुआ प्रकरण, जिसकी पुनरुक्तियो से जी ऊबने लगता है, गुप्तकाल में जोडा गया।

निवातकवचो की पराजय

अर्जुन ने अपने एकान्तवास की कथा के प्रसग में बताया कि उसने

पन्द्रह दिव्य अस्त्र, उनके प्रयोग, उपसहार, आवृत्ति (पुन छोडना), प्रायश्चित्त (किसी निर्दोप व्यक्ति के अस्त्र द्वारा आहत होने पर उसे पुन जीवित करना) और प्रतिघात (शत्रु के अस्त्रो से निष्फल हुए अपने अस्त्रो को पुन प्रभावयुक्त करना) की विधि के साथ सीख लिये थे। इसी प्रसग मे उसने कहा कि इन्द्र ने गुरुदक्षिणा के रूप मे उससे यह मागा कि वह निवातकवच नामक असुरो का सहार करे। अर्जुन ने इसे स्वीकार किया और समुद्र के तट पर पहुचकर माया से युद्ध करनेवाले निवातकवच नामक दानवो को उनके पुर में ही परास्त किया।

कहा गया है कि निवातकवचो की पुरी पहले देवराज इन्द्र के अधीन थी, वहासे असुरो ने देवो को पदच्युत कर दिया था (१६९।२८)। इस उल्लेख के पीछे आर्य जाति और समुद्र के उस पार रहनेवाली असुर जाति के किसी प्रागैतिहासिक सघर्प की अनुश्रुति छिपी है। असुरो की राजधानी निर्माण-कौशल और अद्भुत आकार मे देवो के नगर से भी विशिष्ट थी।

निवातकवचो के युद्ध से वापस आते हुए मार्ग मे अर्जुन को एक दूसरा अद्भुत नगर मिला जिसका नाम हिरण्यपुर था। वहा कालकेय और पौलोम नामक महासुरो का साम्राज्य था। इनके साथ भी अर्जुन ने युद्ध करके हिरण्यपुर को जीता। वहा के निवासी दानवी माया से युद्ध करते थे। वे कभी पृथिवी पर आ जाते और कभी आकाश मे उठ जाते थे। आसुरी माया का उल्लेख और भी प्राचीन वैदिक साहित्य में आता है। इसके पीछे निहित ऐतिहासिक तथ्य, इस समय धुधला पड गया है। सभव है, हिरण्यपुर का आशय मोहजोदडो के ध्वस्त नगर से हो, जिसकी विजय का सवध महाकाव्य-युग में अर्जुन के साथ जोड दिया गया।

इन युद्धो में विजयी होकर अर्जुन मातलि के साथ इन्द्रलोक को लौट आया और वहा इन्द्र से अभेद्य कवच, हिरण्यमयी माला, देवदत्त शख और दिव्य किरीट प्राप्त करके देवराज की अनुमति से अपन भाइयो के पास गन्धमादन पर्वत पर आगया। इस प्रकार विशाल वदरी के पुण्य आश्रम मे निवास करके युधिष्ठिर पुन सरस्वती के किनारे स्थित द्वैतवन के अपने आश्रम को लौट आये।

: ३१ :

आजगर पर्व

हिमालय से विदा लेते हुए पाडवो की कथा के पुछल्ले के रूप म आजगर पर्व की कथा सक्षेप मे इस प्रकार है —

अर्जुन के साथ चार वर्पतक पाडवो ने कुवेर के चैत्ररथवन में निवास किया। उससे पूर्व उनके वनवास काल के छह वर्प वीत चुके थे।(१७३।५)। ग्यारहवें वर्ष में भीम ने युधिष्ठिर को स्मरण दिलाया कि अव आप दुर्योवन से निपटने के लिए अपना यह अज्ञातवास छोड कर लौटिए। युधिष्ठिर ने अन्य भाइयो का भी वैसा ही मत जान कर कुवेर के सुन्दर वन को और पर्वत की उन देव-भूमियो को प्रणाम किया, और यह मानता मानी कि हे शैलेन्द्र, जब मैं अपने शत्रुओ को जीत कर पुन राज्य प्राप्त कर लूगा, तव यहा तप करने के लिए आऊगा। फिर जिस मार्ग से आये थे, सव उसी ओर से लौटने लगे।

इस अवसर पर लोमश ऋपि उनसे विदा होकर स्वर्ग चले गए। इन शब्दो के पीछे यह सभावना है कि लोमश ऋपि का हिमालय में ही देहावसान हो गया। मार्ग में एक रात वृषपर्वा के आश्रम में विता कर कई देशो को पारकर वे कुणिन्द के राज्यो में यामुन पर्वत पर आकर एक वर्प रहे। यहा इन्द्रसेन आदि परिचारक और उनके रसोइये, सवारिया आदि सव उनसे पुन मिले।

अजगर की कुडली मे भीम

यामुन पर्वत पर कुवेर के चैत्ररथ के समान ही विशाखयूप नामक वन था। उसके समीप की पर्वत कन्दरा मे भीमसेन को एक अजगर ने अपनी कुडली में जकड लिया। युधिष्ठिर की वुद्धिमत्ता से भीम को छुटकारा मिला। यह अजगर पूर्व जन्म में राजा नहुप था जो शापवश यहा आकर रहा था। जनमेजय के प्रश्न करने पर वैशम्पायन ने नहुप के चरित का वर्णन किया।

आयु के पुत्र नहुष नाम के राजर्पि थे, उन्होने ऋषियो का अपमान किया, इसपर अगस्त्य के शाप से उन्हे सर्प की योनि में आना पडा। शाप की अवधि वताते हुए ऋषि ने इतना और कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देगा, वही तुम्हें शाप से मुक्त करेगा। पूर्व जन्म की यह स्मृति लिये हुए वह

सर्प वहा रहता था। भीम ने उसीके मुख से उसका यह हाल सुनकर कहा—"हे महासर्प! मुझे तुम्हारे ऊपर क्रोध नही। मनुष्य सुख-दुःख दोनो के होने-अनहोने में अशक्त है। दैव ही प्रधान है, पुरुषार्थ निरर्थक है। दैव के कारण ही मैं अपना बल खोकर इस अवस्था को पहुचा हू। मुझे और कुछ नही, केवल अपने भाइयो का सोच है।"

इधर भीम के न आन से युधिष्ठिर चिन्तित हुए और उसे ढूढते हुए वह उसी गिरि-गह्वर में जा पहुचे। भीम को देखकर उन्होने सब हाल पूछा। वृत्तात जानकर युधिष्ठिर ने सर्प से कहा—"हे अजगर, युधिष्ठिर तुमसे पूछता है, सत्य कहो। कौन-सा वह ज्ञान है, जिससे तुम प्रसन्न हो सकोगे? तुम्हारे लिए क्या आहार लाऊ जो तुम मेरे भाई को छोड दोगे?"

सर्प के प्रश्न

सर्प ने उत्तर दिया—"यदि तुम मेरे प्रश्नो का उत्तर दो, तो मैं तुम्हारे भाई को छोड दूगा।"

युधिष्ठिर ने कहा—"इच्छानुसार प्रश्न करो। यदि मैं जानता होऊगा तो उत्तर दूगा। इस लोक में ब्राह्मण को जो ज्ञान होना चाहिए, मालूम होता है, तुम उसको जानते हो।"

सर्प ने पूछा—"ब्राह्मण कौन है? जानने योग्य क्या है?"

युधिष्ठिर ने कहा—"सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, दम और अहिंसा जिस व्यक्ति मे हो, वही ब्राह्मण है। जिसमें सुख नही और दुःख भी नही, ऐसा परब्रह्म ही जानने योग्य है।"

सर्प ने प्रश्न को और नुकीला बनाते हुए कहा—"लोक में तो चार वर्ण माने जाते है। तुमने जो सत्य, दान, क्षमा आदि ब्राह्मणो के लक्षण कहे, वे तो शूद्रो में भी होते हैं। तो फिर क्या शूद्र को भी ब्राह्मण कहोगे? और सुख-दुःख से परे जिसे तुमने ज्ञेय कहा है, ऐसी तो कोई वस्तु मेरी समझ में नही आती।"

बुद्धि को झकझोर देनेवाला यह महाप्रश्न भारतीय समाज व्यवस्था का शाश्वत प्रश्न रहा है। प्रश्नो के रग-ढग से ज्ञात होता है कि रूढिगत समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल भगवान बुद्ध ने और उनके सदृश

उदारता से सोचनेवाले अन्य बुद्धिवादी विचारकों ने जो तर्क रखे थे, उन्हीका एक सदर्भ सर्प और धर्मराज की इस प्रश्नोत्तरी में सुरक्षित है। ब्राह्मण और शूद्र के विषय का प्रश्न जितना तीक्ष्ण था, युधिष्ठिर का उत्तर उससे कही अधिक साहसपूर्ण है। युधिष्ठिर ने कहा— "शूद्र मे यदि सत्य, दान, अक्रोध आदि आचार के लक्षण हो तो वह शूद्र नही रह जाता। ब्राह्मण मे यदि ये लक्षण न हो तो वह ब्राह्मण नही होता। हे नाग-राज, जिसमें चरित्र है, वही ब्राह्मण है, जिसमें चरित्र नही, वह शूद्र है। जो आपने यह कहा कि सुख और दुख इन दोनो से अतीत कोई वेद्य वस्तु नही है, तो मेरा कहना है कि ऐसा भी एक पद है, जहा सुख और दु ख का परिचय नही, जैसे शीत और उष्ण इन दोनो के बीच मे एक स्थिति ऐसी होती है, जिसे न शीत कह सकते है न उष्ण।"

नागराज ने धर्मराज को पुन तर्क मे चापते हुए कहा—"यदि तुम्हारे मत से चरित्र से ही ब्राह्मण है, तब बिना चरित्र या कर्म के जाति व्यर्थ ठह-रती है।"

प्रश्न मामूली नही है। यह जाति-पाति के वृक्ष पर सदा-सदा उठनेवाला बडा कुल्हाडा है, पर इस कटीले प्रश्न मे भी युधिष्ठिर नही ठिठके। उन्होने उसी धीरता और साहस से उत्तर दिया—"हे नागराज, यहा मनुष्यो मे जाति है ही कहा ? कौन-सी वह जाति है जिसमे वर्ण का सकर न हुआ हो ? वर्णों की आपसी मिलावट के कारण जाति की ठीक-ठीक पहचान की बात उठाना व्यर्थ है। सब लोग सब प्रकार की स्त्रियो में पुत्रोत्पत्ति कर रहे है, इसलिए जो तत्त्वदर्शी है, उनके मत में शील ही मुख्य है। जन्म के बाद वर्णों के जातकर्म आदि सस्कार किये भी जाय, पर अगर किसीमें चरित्र नही है तो मैं उसे वर्णसकर की हालत मे ही पडा हुआ समझूगा। हे नागराज, इसलिए मैंने पहले कहा कि जिस व्यक्ति मे निखरा हुआ चरित्र (सस्कृत वत्त) है, वही ब्राह्मण है।" (वनपर्व १७७।२६-३३)

भारतीय सस्कृति की विश्वात्मा को प्रकट करनेवाले ये उद्गार व्यास की अभिनव धर्म-व्याख्या के अन्तर्गत प्रकाशमान मणि-रत्न है।

युधिष्ठिर के प्रश्न

इसके बाद युधिष्ठिर ने ताड लिया कि यह नागराज साधारण जीव

नही, वेद-वेदाग में पारगत है। अब उन्होने प्रश्न करना शुरू किया और पूछा—"बताओ किस कर्म से उत्तम गति प्राप्त होती है।"

सर्प ने कहा—"पात्र को दान देने मे, मीठे वचन बोलने मे, सत्य कहने मे और अहिंसा का पालन करने से मनुष्य स्वर्ग जाता है, ऐसा मेरा मत है।"

युधिष्ठिर ने पूछा—"दान और सत्य इनमें कौन बडा है? अहिंसा और प्रिय वाक्य इन दोनो में भी छोटा-बडा कौन है?"

सर्प ने उत्तर दिया—"इन चारो की छुटाई-बडाई कार्य-कारण के अनुसार होती है। कभी दान मे सत्य भारी और कभी सत्य मे दान भारी होता है। इसी प्रकार अहिंसा प्रिय वचनो से बडी और कभी प्रिय वचन अहिंसा से उच्चतर होते है। कार्य के अनुसार इन चारो गुणो का गौरव-लाघव जाना जाता है।"

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने कई दार्शनिक प्रश्न किये, जिनके व्याज से सर्प ने अध्यात्म विषयो की व्याख्या की और अन्त मे कहा—"हे धर्मराज, कभी मैं भी दिव्य विमान मे विचरण करता था। सहस्रो ब्रह्मर्षि मेरी पालकी उठाते थे। मैंने अगस्त्य ऋषि को पैर से छू दिया। बस, इसी शाप के कारण मेरा पतन हुआ। आज आपके इस साधु-सभाषण से मैं शाप-मुक्त हुआ। अहिंसा, सत्य, दम, दान, योग और तप ये ही मनुष्य के सच्चे सखा हैं। जाति और कुल सहायक नही। आपके भाई भीम को मैंने सकुशल छोडा। आपका कल्याण हो।" यह कहकर वह नागराज स्वर्ग को चला गया और युधिष्ठिर भीम के साथ आश्रम को लौट आये।

नहुष-चरित पर भागवतो का प्रभाव

आगे चलकर शान्ति पर्व (अध्याय १७८) मे भी एक नागराज के सवाद का उल्लेख है। वह जिस आजगर-व्रत का व्याख्यान करता है वह शखपाल जातक के नागराज उपदेश से मिलता हुआ है। हमारा अनुमान है कि पचरात्र भागवतो द्वारा नहुष-चरित्र का यह प्रकरण महाभारत में जोडा गया। प्रथम तो आरण्यक-पर्व मे ही आगे चलकर कहा गया है कि नहुष और उसका पुत्र ययाति दोनों ने ही वैष्णव-यज्ञ नामक महाक्रतु सम्पादित करके स्वर्ग प्राप्त किया था (२४१।३२, २४३।५)। दूसरे, सत्य, दान, दम और

अहिंसा, ये वैष्णव-भागवतो ने धार्मिक अभ्युत्थान के प्रमुख द्वार माने थे। वेसनगर के गरुडध्वजवाले लेख में भी सत्य, त्याग, दम इन तीन अमृत पदो का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आचार के आधार पर ब्राह्मणत्व की नई परिभाषा और आचारवान शूद्रो को भी ब्राह्मणो के समान प्रतिष्ठित मानने की प्रवृत्ति—यह भी भागवतो की विशेषता थी। इस नए दृष्टिकोण की पूर्णतम अभिव्यक्ति भागवत के उस श्लोक में पाई जाती है, जिसमें कहा गया है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, खश, वर्बर, यवन एव इनके अतिरिक्त अन्य नीच समझी जानेवाली जातिया विष्णु भगवान की शरण में आने से शुद्ध हो जाती हैं। शक-यवनो के यहा आने के वाद मथुरा से जिस भागवत धर्म का स्वर ऊचा उठा, उसमे इस तथ्य की स्वीकृति तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन की विशेषता थी। शकमहाक्षत्रप शोडाश और कुषाण-सम्राट वासुदेव दोनो के समय में भागवत-आन्दोलन अत्यधिक उन्नति को प्राप्त हुआ।

कृष्ण का आगमन

जब हिमालय के प्रवास से पाण्डव काम्यक वन में वापस आ गए तव अनेक ब्राह्मण उनसे मिलने आये। उनमें से एक ने सूचना दी कि शीघ्र ही कृष्ण और वहु-सवत्सरजीवी महातपस्वी मार्कण्डेय आपसे मिलने के लिए आने वाले हैं। वह यह कह ही रहा था कि शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वो से युक्त रथ पर सत्यभामा के साथ देवकी-पुत्र कृष्ण वहा आ पहुचे। उन्होंने रथ से उतरकर यथाविधि धर्मराज की वन्दना की और धौम्य का पूजन किया। अर्जुन का आलिंगन करके फिर द्रौपदी को सान्त्वना दी। सत्यभामा भी द्रौपदी से मिली। सव पाण्डव कृष्ण से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। कृष्ण ने द्रौपदी से कहा—"हे कृष्णा, तुम्हारे पाचो पुत्रो का मन अपने नाना या मामा के घरो में उतना नही लगता। उन्हे धनुर्वेद मे रुचि है, और वे आनर्त देश के वृष्णिपुर में ही रहकर धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे हैं। तुम या आर्या कुन्ती उनके लिए जैसी वृत्ति की कामना करती हो, सुभद्रा उनके लिए सदा उसी प्रकार का प्रवन्ध रखती है। अनिरुद्ध के लिए जो सब प्रवन्ध है वही उनके लिए भी हैं। अभिमन्यु अपने उन भाइयो को गुरु की तरह स्वय अस्त्र-शिक्षा देता है।"

यह कहकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—"अन्धक, कुकुर और दशार्हों के योद्धा आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्रतीक्षा में हैं। अश्व, रथ, हस्ती और पदाति से युक्त हमारी सेना आप के लिए सुसज्जित है। आप उससे हस्तिनापुर पर चढाई करके दुर्योधन का नाश करे।"

महात्मा कृष्ण से यह मत सुनकर धर्मराज ने अजलिपूर्वक कहा—"हे केशव, निस्सदेह पाण्डवो की गति आप ही हैं। समय आने पर अवश्य हम वैसा करेगे। किन्तु प्रतिज्ञा के अनुसार अभी बारह वर्ष हमने बिताये हैं। अज्ञातवास का समय भी जब हम समाप्त कर लेगे तब आपके वचनो का पालन करेगे।"

: ३२ :

मार्कण्डेय-समास्या

जब कृष्ण और युधिष्ठिर इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे तब ऋषि मार्कण्डेय वहा आ उपस्थित हुए। सब लोगो ने उनकी पूजा की और आसन देकर विनय की—"हे महात्मन्, पूर्व काल के राजाओ, ऋषियो और स्त्री-पुरुषों की पवित्र कथाए और सनातन सदाचार हमें सुनाइए।" उसी समय नारद भी पाण्डवो से मिलने के लिए वहा आये और उन्होंने भी मार्कण्डेय से वैसी ही प्रार्थना की।

इसके बाद युधिष्ठिर और मार्कण्डेय के सवाद रूप में ४१ अध्यायो और लगभग २,००० श्लोको का एक लम्बा प्रकरण आरम्भ होता है, जिसका नाम मार्कण्डेय-समास्या-पर्व है। 'समास्या' का अर्थ है बैठक, अर्थात् ज्ञान-चर्चा के लिए एकत्र आसन जमाकर बैठना।

काम्यक वन की शीतल छाया में पच पाण्डव, द्रौपदी, अनेक ब्राह्मण, धौम्य, कृष्ण, सत्यभामा, नारद और मार्कण्डेय का एकत्र जमघट मानो कथाओ के लिए प्रलोभन-भरा आमत्रण था। कथाओ के इस समूह में पाच उपाख्यान मुख्य हैं। पहला मार्कण्डेय उपाख्यान, दूसरा धुन्धुमार की कथा, तीसरा पतिव्रता उपाख्यान और कौशिक ब्राह्मण के साथ मिथिला के धर्मव्याध का सवाद, चौथा आगिरस उपाख्यान और पाचवा स्कन्द-जन्म की विस्तृत कथा। इन कथा-सूत्रो का सक्षिप्त परिचय यहा दिया जायगा।

यह स्पष्ट है कि पचरात्र भागवतो ने ही इस महा प्रकरण को यहा सजाया है। देवर्षि नारद की श्रोता-रूप में उपस्थिति इसका पहला सकेत है। मार्कण्डेय चरित्र में भी नारायण-महिमा ही विशेष रूप से कही गई है। धुधुमार की कथा को अन्त मे स्वय ग्रथकार ने विष्णु का समनुकीर्तन कहा है (१९५।३८)। कौशिक ब्राह्मण और धर्म व्याध का सवाद भागवत धर्म के नीतिमय दृष्टिकोण का परिचायक है। अन्त में स्कन्द जन्म की कथा मथुरा के आसपास विकसित होनेवाले धार्मिक इतिहास का महत्वपूर्ण प्रकरण है, जिसमे कितने ही स्थानीय छुटभैयो, देवताओ और अनेक मातृकाओ की पूजा एव शिव और अग्नि की पूजा को एक ही धार्मिक कटाह मे चढाकर स्कन्द-पूजा का चरु तैयार किया गया है। यह समन्वयात्मक प्रक्रिया भी मथुरा के भागवत-धर्म के प्रभाव से सम्पन्न हुई। वस्तुत मार्कण्डेय समास्या-पर्व उत्तरी भारत में प्रतिपन्न होनेवाली धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के नाना सूत्रो को जोड कर विरचित हुआ है। यवन-शक-कुषाण-कालीन मथुरा के इतिहास की विचित्र पृष्ठभूमि में भागवत धर्म का उदय भारतीयता की विजय थी। इसके द्वारा पुन स्वदेशी समाज-व्यवस्था और सस्कृति की स्थापना हुई।

मार्कण्डेय-युधिष्ठिर प्रसग में आगे स्पष्ट कहा गया है कि शक-यवनो के बार-बार आक्रमण से समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी (१८६।२९-३०) उसे पुन स्थापित करना आवश्यक था। इतिहास से विदित है कि पुष्यमित्र शुग के समय में ऐसा प्रयत्न किया गया और पुन कुषाणोत्तर काल में वही प्रक्रिया हुई। ब्राह्मण और भारतीय सस्कृति ये दोनो शब्द उस समय पर्यायवाची हो गए थे। समाज की वर्म-व्यवस्था, यज्ञ-योग की प्रक्रिया और शिक्षा के लिए ब्राह्मणो की पुन प्रतिष्ठा समाज की अनिवार्य आवश्यकता थी। उस काल की राष्ट्रीयकरण पद्धति मे ब्राह्मणो का जो योग था उसकी छाया साहित्य में अनेक स्थलो पर मिलती है। महाभारत का यह प्रकरण भी उसीका अग है।

दो छोटी कहानिया

यहा दो छोटी कहानिया दी गई है। पहली में अरिष्टनेमि तार्क्ष्य का वर्णन है जो केवल सत्य की उपासना करके स्वधर्म का अनुष्ठान करता था,

एव जो ब्राह्मणो के जीवन के हेय पक्ष की ओर न देखकर उनके जीवन के कल्याण पक्ष का ही कथन करता था। ऐसा करने से वह मृत्यु भय मे ऊपर उठ गया। दूमरी कथा में वैन्य नामक राजर्षि अत्रि नामक ब्राह्मण को दान देता है। गौतम नामक ब्राह्मण राजा मे दान लेनेवाले अत्रि को धर्म विहीन कहता है। अत्रि का दृष्टिकोण था कि राजा काल का विधाता है। वह पृथिवी में प्रथम-स्थानीय है। राष्ट्र का ऐश्वर्य इसीमें रहता है। उससे ऊपर कोई नहीं। गौतम ने इसका प्रतिवाद किया। दोनो ने सनत्कुमार से अपनी शका का समाधान पूछा। उत्तर में सनत्कुमार ने प्राचीन वैदिक दृष्टिकोण की व्याख्या की और कहा—"क्षत्र को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को क्षत्र के साथ मिलकर रहना चाहिए। राजा सत्यधर्म का प्रवर्तक है। ऋषियो को भी जब अधर्म से डर लगा तब उन्होंने राजा को बल दिया। उसी बल से राजा भूमि पर अधर्म का नाश करता है।"

इस व्याख्या को पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो हम राज्य-शक्ति और धार्मिक सघ के बलाबल का विवेचन सुन रहे हो, जिसमें अन्तिम निर्णय राजा के पक्ष में दिया गया—'उत्तर सिद्ध्येत पक्षो येन राजेति भाषितम्', अर्थात् धर्म और राजा इनके विवाद में राजा ही सिद्ध पक्ष है (१८३।२७)। 'राजावै प्रथमो धर्म' (१८३।२२)। यह दृष्टिकोण गुप्तकालीन ब्राह्मण-साहित्य का मन पूत सिद्धान्त पक्ष था।

तार्क्ष्य-सरस्वती-सवाद

अरिष्टनेमि तार्क्ष्य अर्थात् गुप्तकालीन गरुडध्वज वाले तार्क्ष्य का सरस्वती के साथ एक सवाद दिया गया है। इसमें तार्क्ष्य ने कल्याण का मार्ग पूछा। सरस्वती ने उत्तर में कहा—"जो नित्य स्वाध्यायशील है, ब्रह्म को जानता है, गो-दान, वस्त्र-दान, स्वर्ण-दान, वृषभ-दान करता है, जो अग्नि-होत्र करता है, वह देवो के सुखप्रद लोको में जाता है।"

यह सद्गृहस्थ भागवतो का नूतन आदर्श था। सरस्वती को इस सवाद मे कई बार 'प्रज्ञा की देवी' कहा गया है (प्रज्ञा च देवीं सुभगे विभर्षि), जो बौद्धो की नवीन देवी प्रज्ञा-पारमिता का स्मरण दिलाता है। वस्तुत कुषाण-काल के लगभग जैन, बौद्ध और ब्राह्मण बुद्धि की अधिष्ठात्री एक देवी की

उपासना करने लगे थे जिसकी मूर्त्तिया भी लगभग इसी समय से मि
लगती है। ब्राह्मण-साहित्य में सरस्वती और भारती की परम्परा वैदिक-
से चली आती थी, किन्तु उपासना के लिए उनकी मूर्त्ति का प्रचार इसी
में हुआ।

जल-प्रलय की कथा

इसके बाद युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में मार्कण्डेय ने वैवस्वत म
तप की और जल-प्रलय की कथा सुनाई। यह कथा वैदिक और ब्राह
साहित्य में सुविदित थी, किन्तु यहा उस कथा की प्रस्तावना देकर महाभ
के प्रतिसंस्कर्त्ता पौराणिकों ने एक विशेष प्रयोजन सिद्ध किया है और
के झीने आच्छादन में अपने उस उद्देश्य को भी उन्होंने शब्दों में कह दिया
यवन, शक, पुलिन्द, पुक्कस, आन्ध्र, शूद्र, आभीर आदि जातियों ने जो
पर शासन किया था, उसके फलस्वरूप वर्णाश्रम-धर्म का लोप हो गया
सब जनता मानो शूद्र वर्ण की तरह आचरण करने लगी। इस स्थिति
समाज और राष्ट्र की रक्षा भागवत-धर्म के नेताओं ने की। उसी म
राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का मानो आंखों-देखा वर्णन
किया गया है।

भौगोलिक क्षितिज

प्रलयग्रस्त जगत् का वर्णन करते हुए मार्कण्डेय ने कहा—"उस एकार्
भूत अवस्था में मैंने एक विशाल वटवृक्ष की शाखा पर लेटे हुए एक ब
को देखा, जो स्वयं श्रीवत्सधारी नारायण थे। उन्होंने कहा—'हे मार्क
तुम थक गए हो, तुम मेरे शरीर में विश्राम लो, मैं तुमसे प्रसन्न हूं।' बाल
यह कहने पर मार्कण्डेय उसके मुख में प्रविष्ट हो गए। वहा उन्होंने उ
शरीर में जिस भौगोलिक क्षितिज का दर्शन किया, वह भारतवर्ष की ज
और नगरों से भरी हुई पृथिवी थी। वहा उन्होंने सीता, सिन्धु, विप
चन्द्रभागा, शतद्रु, सरस्वती, गगा, यमुना, चर्मण्वती, वेत्रवती, न
गोदावरी, शोण, महानदी, कौशिकी, इन नदियों को और महेन्द्र, म
पारियात्र, विन्ध्य, गन्धमादन, मन्दराचल, मेरु, हिमाचल और हेमकूट
पर्वतों को देखा। मध्य एशिया की सीता (यारकन्द) नदी से लेकर द

की गोदावरी तक एव मेरु या पामीर से दक्षिण पूर्वी समुद्र-तट के मदराचल तक का भौगोलिक क्षितिज मार्कण्डेय के इन वर्णन की पृष्ठ भूमि में है। गुप्त-कालीन सम्राटो ने जिस भू-भाग का पुन उद्धार किया था वह भी लगभग इतना ही था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के महरौली-स्तम्भ-लेख में वाल्हीकतक के प्रदेश को युद्ध में जीतकर उमका उद्धार करने का स्पष्ट उल्लेख आया है। श्रीवत्सधारी नारायण यहा भागवत-धर्म के प्रतीक हैं। उनकी कुक्षि का भौगोलिक विस्तार उस प्रदेश को सूचित करता है, जहा गुप्त-राजाओ के प्रभाव से भागवत-धर्म की पुन स्थापना हुई। यही उम समय की राष्ट्र और नगरो से आकीर्ण पृथिवी थी, जो मार्कण्डेय के दृष्टि पथ में आई। (सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्ना पश्यामि मेदिनीम्।)

विष्णु की सार्वभौमिकता

विष्णु की इस लीला से चकित हुए मार्कण्डेय ने स्वभावत उनका स्वरूप जानना चाहा। उत्तर में विष्णु ने जो कहा वह ठेठ नारायण-धर्म का दृष्टिकोण है। एक शब्द में उसे हम विभूतियोग कह सकते हैं, जिसका उल्लेख गीता के दशम अध्याय में आया है।

इस प्रसग का साराश यही है कि जितने देव हैं वे सब एक विष्णु की ही विभूतिया हैं।

लगभग पाच-छ सौ वर्षों से जो अनेक देवी-देवताओ का जमघट समाज में जुड गया था, उसको ठीक ठिकाने लगाकर उसके भीतर से किसी दैवी तत्व की सम्प्राप्ति की समाज को अनिवार्य आवश्यकता थी। वह कार्य भागवत धर्म ने विष्णु के सार्वभौमत्व को स्थापित कर पूरा किया।

कलियुग का भविष्य

इस प्रकार मार्कण्डेय से विष्णु की महिमा और युगक्षय का वृत्तान्त एक बार सुन लेने पर भी युधिष्ठिर ने फिर प्रश्न किया—"साम्राज्य में जो भविष्य की गति होगी उसका कुछ हाल कहिए। इस कलियुग में कहातक अवस्था बिगडने के बाद फिर कृतयुग की स्थापना होगी?" (१८८।७)।

उत्तर में मार्कण्डेय पुन म्लेच्छो से पृथिवी के आक्रान्त हो जाने का कुछ

वैसा ही वर्णन करते है, जैसा प्रथम वार कर चुके थे—"पृथिवी दस्युओ से पीडित होगी। दुष्ट राजा प्रजाओ को कर-भार से पीडित करेंगे। वृपलो के अत्याचार से द्विजो मे हाहाकार मच जायगा। लोक में सब कुछ विपरीत और उलट-पुलट हो जायगा। शूद्र धर्म का उपदेश करेंगे, ब्राह्मण श्रोता और उपासक वनेंगे। ऐसा दारुण युग-सक्षय होगा कि पृथिवी म्लेच्छो से भर जायगी एव वृषलो और ब्राह्मणो मे विरोध मचेगा। देवस्थानो मे, चैत्यो में, नाग-भवनो में, आश्रमो में, सर्वत्र पृथ्वी पर एडूक वनाये जायगे, देव-मन्दिर नही। देवताओ को त्याग कर सब लोग एडूको को पूजेंगे (१८८।६४, ६६)। इसके वाद कृतयुग आयगा और कल्कि विष्णुयश नाम का चक्रवर्ती राजा होगा। वह ब्राह्मण सब म्लेच्छो को हटाकर पुन कृतयुग की स्थापना करेगा और अश्वमेध यज्ञ करेगा। यह मैंने वायु-पुराण के अनुसार तुमसे अतीत और अनागत का सब हाल कहा।"

इस प्रकरण मे आया हुआ एडूक शब्द गुप्तकालीन भापा का है। विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण मे भी एडूक-पूजा का उल्लेख है, किन्तु वहा उसका सम्वन्ध शिवलिंग के साथ वताया गया है। मूलत एडू शब्द द्रविड भापा का है, जिस का अर्थ था अस्थि। अस्थि-गर्भ मजूपाओ के ऊपर, जिन्हे 'शरीर' भी कहते थे, वननेवाले स्तूपो के लिए यहा एडूक शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी पर्व मे पहले अलिजर शब्द आ चुका है (१८५।११, १३), जो पहले पहल गुप्तकालीन भाषा के स्तर में प्राप्त होता है। अमरकोप, पादताडिकम् (लगभग ४२५ ई) एव वाण के हर्पचरित मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सकेतो से ज्ञात होता है कि मार्कण्डेय समास्या-पर्व केवल भाषा की कसौटी पर भी लगभग गुप्तकालीन ठहरता है। विष्णुयश कल्कि की पहचान श्री जायसवाल ने मालवराज यशोधर्मन् से की थी। उसकी मन्दसोर-प्रशस्ति (५३२ ई) से ज्ञात होता है कि उसका नाम विष्णुवर्धन भी था, और उसने राजाधिराज परमेश्वर सम्राट की उपाधि धारण की थी। वह अपने-आपको मनु, भरत, अलर्क, मान्धाता आदि के समान कल्याणयुक्त कहता है। उसने वर्णसकर को मिटाकर सतयुग के समान अपने राज्य को निरापद वना दिया और हूणाधिपति मिहिरकुल को भी अपने चरण वन्दन के लिए बाधित किया। महाभारत के चक्रवर्ती विष्णुयश और

अभिलेखो के सम्राट विष्णुवर्धन की पहचान सत्य हो तो महाभारत का यह प्रकरण छठी शती के मध्य भाग में निर्मित हुआ।

भारतीय इतिहास में पहली बार शक-यवनो के और दूसरी बार हूणो के आक्रमण और राज्याधिरोहण से जो सामाजिक उथल-पुथल और राजनीतिक उत्पीडन हुआ था, उसीका सकेत महाभारत के इन दोनो युग-सक्षयो के वर्णनो में ज्ञात होता हैं। पहली बार भागवत धर्म के अभ्युदय से लोक-कल्याण हुआ और दूसरी बार चक्रवर्ती विष्णुयश ने हूण रूपी म्लेच्छो से पृथिवी का उद्धार किया।

: ३३ :

प्रत्यक्ष धर्म की उदात्त कथाएं

धुन्धुमार-उपाख्यान

युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से प्रश्न किया—"इक्ष्वाकु वश मे जो कुवलाश्व नामक राजा थे उनका नाम वदलकर धुन्धुमार क्यो पड गया ?" मार्कण्डेय ने कहा—"मरुधन्व देश में उत्तक मुनि ने अपने आश्रम में बहुत वर्षों तक विष्णु की आराधना करके उन्हे प्रसन्न किया। विष्णु ने उन्हें वरदान दिया कि तुम अपने तप के प्रभाव से वृहदश्व के पुत्र कुवलाश्व नामक राजा से धुन्धु नामक अश्व का नाश कराने मे सफल होगे।" मार्कण्डेय ने कहा कि इक्ष्वाकु कुल में शशाद नामक राजा अयोध्या में हुआ। उसके बाद क्रमश ककुत्स्थ, अनेना, पृथु, विश्वगश्व, आर्द्र, युवनाश्व, श्रावस्त (जिसने श्रावस्ती वसाई) वृहदश्व, नामक राजा हुए। वृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलाश्व को राज्य देकर वन की राह ली। उत्तक ने आकर उससे कहा—"आप जगल में क्यो जाते हैं ? प्रजाओ के पालन में जो महान धर्म है वैसा वन मे कहा है ? आप ऐसा विचार न करे। पहले राजर्षियो ने प्रजा पालन को ही महान धर्म कहा हैं। मेरे आश्रम के पास बालू से भरा हुआ उज्जानक नाम का समुद्र है। उसमें धुन्धु नामक असुर रहता हैं जिस के कारण मैं निर्विघ्न तप नही कर पाता। प्रतिवर्ष उसके नि श्वास की आधी से इतनी धूल उठती है कि एक सप्ताह तक आदित्य का पथ भी छिप जाता है और भूकम्प-जैसा होने लगता

है। वैष्णव तेज की सहायता से तुम उसका नाश करने मे समर्थ हो। यह धुन्धु सृष्टि के आदि में होने वाले मधु कैटभ का पुत्र है जो उस वालुका पूर्ण समुद्र में आकर वस गया है।" वृहदश्व ने कहा कि मैं इस समय अपने शस्त्रो का परित्याग कर चुका हू, आप मुझे वन जाने दें, किन्तु मेरा पुत्र कुवलाश्व उस दुष्ट का वध करेगा। उसके वाद कुवलाश्व ने उत्तक के नारायणीय तेज की सहायता से उस असुर का वध करके धुन्धुमार पदवी प्राप्त की। इस उपाख्यान के अन्त में लिखा है—विष्णु के समनुकीर्तन रूप इस पवित्र उपाख्यान को जो सुनता है वह धर्मात्मा, पुत्रवान, आयुष्य और धृति से युक्त हो जाता है और उसे व्याधि का भय नही रहता। यह फल श्रुति स्पष्ट ही इसके जोड़े जाने की सूचना देती है। राजस्थान की मरुभूमि की ओर वैष्णव भागवत धर्म का जो प्रचार हुआ उसीको इस कथानक द्वारा सूचित किया गया है। रेगिस्तान के ठीक नुक्कड पर चित्तौड के पास नगरी नामक स्थान में वासुदेव और सकर्षण इन दो देवो की पूजा के लिए स्थापित नारायण वाटक नामक एक प्राचीन महास्थान या मन्दिर मिला है जो लगभग दूसरी शती ईसा पूर्व का है। मथुरा और उसके चारो ओर शुग काल में भागवत-धर्म का जो एक प्रभावशाली आदोलन उठा था उसीका वाह्य मण्डलवर्ती केन्द्र प्राचीन मध्यमिका या नगरी का यह नारायण वाटक था। वहातक भागवत धर्म के प्रसार का सकेत इस कथानक में है। यह भी सभव है कि धुन्धु जो पौरव वश का एक राजा वशावलियो में है वह मरुभूमि का शासक था। अयोध्या के-कुवलाश्व ने पौरव धुन्धु का वध किया जिस कारण वह प्राचीन अनुश्रुति में धुन्धुमार कहलाया।

पतिव्रता-उपाख्यान

काम्यक वन की शीतल छाया मे जो अनेक कथाए मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को सुनाई 'उनमें पतिव्रता उपाख्यान' खरा सोना है। यह कहानी जीवन के व्यावहारिक नीति शास्त्र के मन्थन से उत्पन्न हुई। इसको पढते हुए ऐसा ज्ञात होता है जैसे नैतिक धर्म की कोई नूतन शीत-वायु जीवन को हरियाली प्रदान कर रही है। जन्म के मिथ्या दर्प और वेदो के सुग्गापाठ की थोथी ऐंठके कारण जीवन पर पडी हुई काई को फाडकर मानो लेखक की भेदक दृष्टि नीति

प्रधान मूल्याकन की ओर ध्यान खीचती है। मनुष्य चाहे जीवन में पाडित्य के बोझ से शून्य हो, चाहे समाज की नीची कहे जानेवाली योनियो मे उसका जन्म हुआ हो, किन्तु यदि वह अपने निकटतम कर्तव्य का सच्चाई से पालन करता है तो उसने सतोगति का रहस्य पा लिया है। यही इस दीप्त कथा का सार है। वनवासी पाण्डवो के मध्य में द्रौपदी अपने पातिव्रत तेज से यज्ञाग्नि के समान प्रकाशित हो रही थी। प्रबन्ध के मर्मस्थल को पहचानने वाले कथाकार की दृष्टि उस पर पडती है और मानो उसके प्रति श्रद्धाजलि के रूप में वह दो कथाए समर्पित करता है। एक मिथिला के धर्मव्याध की पतिव्रता स्त्री की कहानी है और कुछ अध्यायो के बाद दूसरी विख्यात कथा सावित्री की है। भागवतो ने निर्वाणवादी बौद्धो के उत्तर मे भुक्ति और मुक्ति दोनो से समन्वित जिस गृहस्थ रूपी राजमार्ग का उपदेश किया था निश्चय ही उसका मध्य केन्द्र उन्होने पतिव्रता स्त्री को माना था। युधिष्ठिर का धर्म प्रश्न स्त्रियो का माहात्म्य सुनने के लिय प्रवृत्त होता है। इसे उन्होने धर्म का सूक्ष्म रूप कहा है—"पिता, माता, गौ, अग्नि, पृथ्वी, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, इन प्रत्यक्ष देवताओ की पूजा प्रतिष्ठा को लेकर चलनेवाला जो गृहस्थ है उसका मूल पतिव्रता स्त्री है। वैसी स्त्रिया कोटानुकोटि गृहस्थियो में विराजमान है जो अपने मन और इन्द्रियो को वश में रखकर देवता के समान पति की चिन्ता करती हुई और पति के माता-पिता की शुश्रूषा करती हुई दुष्कर कर्म कर रही है। इस प्रकार के कठिन सेवा व्रत का निर्वाह करते हुए वे सर्वात्मना पति में अनुरक्त होकर गर्भ धारण करती है और फिर स्वस्थ सन्तति को जन्म देती है। ऐसी एकपत्नी नारियो से बढकर कौन-सा अद्भुत तत्त्व देखने को मिलेगा ?" इस प्रकार के उद्गार प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से समाज की मूलप्रतिष्ठा साधु-आचारवती नारी की महिमा जानने का आग्रह किया।

उत्तर मे मार्कण्डेय ने वेदो का स्वाध्याय करनेवाले कौशिक मुनि और मिथिला के धर्मव्याध की सुलक्षणा पत्नी की कथा कही।

कौशिक नाम का ब्राह्मण वन में वृक्ष के नीचे मत्र पाठ कर रहा था। वृक्ष के ऊपर बैठी हुई किसी बगुली ने उसपर बीट कर दी। मुनि ने क्रोध से उसकी ओर देखा तो वह बगुली भस्म होकर नीचे गिर पडी। वह ब्राह्मण

अपने उस क्रोध से कुछ क्षुब्ध होकर भिक्षा के लिए एक गाव में गया। वहा उसके 'भिक्षा देहि' का उच्चारण करने पर घर की पत्नी ने कहा, 'ठहरो, और यह कह कर वह थककर तुरन्त आये हुए अपने पति की सेवा में लग गई। ब्राह्मण को छोडकर उसने पहले अपने पति को पाद्य, आचमनीय, आसन, आहार आदि दिये और फिर ब्राह्मण का स्मरण आने पर भिक्षा लेकर आई। ब्राह्मण ने तमककर कहा—"तुमने मुझे इतनी देर क्यो ठहराया ?" पतिव्रता ने उसका भाव समझकर कहा—"आप मुझे क्षमा करें। मेरे लिए मेरा पति ही महान् देवता है। उसे क्षुधित और श्रात जानकर मैंने पहले उसकी शुश्रूपा की। मैं ब्राह्मणो का अपमान नही करती। केवल पति-शुश्रूपा को अपने लिए सर्वोत्तम धर्म मानती हू। हे द्विजवर, मेरे ऊपर क्रोध मत करो। मैं वह बगुली नही हू जो तुम्हारे रोप से दग्ध हो गई थी। क्रोध मनुष्यो का भारी शत्रु है। जो क्रोध और मोह को जीत लेता है, जो सत्य बोलता है, जितेन्द्रिय है, कष्ट पाने पर भी प्रतिहिंसा नही करता, उसे ही देवो ने ब्राह्मण कहा है। हे भगवन्, ज्ञात होता है कि आप धर्म का तत्त्व नही जानते। इसलिए आप वहा जाइए जहा मिथिला में माता-पिता की शुश्रूपा करनेवाला सत्यवादी जितेन्द्रिय धर्म व्याध रहता है। वह आपको धर्म सिखायगा।" पतिव्रता के वचन सुनकर ब्राह्मण सन्नाटे में आ गया। विशेपकर उस बगुलीवाली बात से। वह मिथिला में धर्मव्याध के पास पहुचा। व्याध ने देखते ही उसका स्वागत किया और कहा—"आइए, आपको उस पतिव्रता ने भेजा है।" यह कहकर वह उसे अपनी दूकान से घर ले गया। उसका स्वागत-सत्कार करके व्याध ने उससे स्वधर्म की व्याख्या की—"मास-विक्रय मेरा कुलोचित कर्म है जो पिता-पितामह से मुझे प्राप्त हुआ है। मैं उसीका पालन करता हू। अपने वृद्ध माता-पिता की शुश्रूपा करता हुआ सत्य बोलता हू। किसीसे ईर्ष्या नही करता। यथाशक्ति दान देता हू। अतिथि और भृत्यो को भोजन कराकर अवशिष्ट-भाग स्वय खाता हू। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ही लोक का जीवन है। दडनीति और त्रयीविद्या से ही लोकव्यवहार चलता है। राजा का स्वधर्म प्रजा का पालन करना है। सब लोग स्वकर्म में निरत रहते है, तभी लोकव्यवहार सुरक्षित रहता है। मैं स्वय प्राणि-हिंसा नही करता। इस समय धर्म के रूप में कितने ही अधर्म घास-फूस से ढके हुए

कुओं के समान लोक में फैले हैं। वे इन्द्रियदमन और पवित्रता का प्रलाप धर्म के नाम से करते हैं। किन्तु वे शिष्टाचार से शून्य हैं।" इस प्रकार व्याध ने सर्वप्रथम भागवतों के उस दृष्टिकोण की व्याख्या की, जिसमें स्थिति भेद से प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वकर्म ही सबसे बड़ा धर्म कहा गया था। काषाय वस्त्र पहनकर जीवन की समस्या का समाधान करने का जो सार्वजनिक मोह धर्म के रूप में फैला हुआ था, स्वधर्म पालन का आग्रह उसीका प्रत्युत्तर था।

शिष्टाचार धर्म

फिर व्याध ने शिष्टाचार धर्म की व्याख्या की। यहा शिष्टाचार उस समय का पारिभाषिक शब्द था। समाज में जो श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सत्यधर्म चला आता था, जो शील, नीतिधर्म एव सदाचार का बद्धमूल आदर्श था, उसीको यहा शिष्टाचार कहा गया है। 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, योगेनान्ते तनुत्यजां, त्यागाय सम्भृतार्थानां, सत्याय मितभाषिणाम्।' आदि उदात्त शब्दो में महाकवि कालिदास ने जिस आदर्श की घोषणा की थी, वही यह शिष्टाचार धर्म था। बुद्धिपूर्वक रहने और कर्म करने की जिस जीवन पद्धति का विकास युग-युगो के भीतर से भारतीय समाज ने किया था, उसे शिष्टाचार की सज्ञा दी गई और वही धर्म में प्रमाण माना गया। इसे बड़े ही स्पष्ट और दृढ शब्दो मे कहा गया है —

क्रमेण सचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान्।
शिष्टाचारो भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि॥ ((१९८।६८)

अहिंसा, सत्य और सर्वभूत हित को भागवतो ने अपने शिष्टाचार धर्म की मल प्रतिष्ठा घोषित किया, जिनमे जीवन की विविध प्रवृत्तिया चलती है। 'अहिंसा परमो धर्म' यह वाक्य भी इस प्रकरण में आया है (१९८-६९)। शिष्टो को सन्त कहा गया है और उनकी व्याख्या उन्ही गुणो के आधार पर की गई हैं जिन्हे बोधिसत्त्वो के जीवन का आदर्श माना जाता था। अद्रोह, दान, सत्य, दया, करुणा, यह शिष्टाचार सम्पन्न महात्माओं का सुनिश्चित धर्म है। धम्मपद के शब्दो का (पञ्ञापासादमारुह्य असोको सोकिनिपज अवेक्खति २।८) अनुकरण करते हुए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा के प्रासाद पर चढकर शोक मोह में डूबी हुई प्रजा के विविध चरित्रो को

देखा करता है—(१९८।९३ **प्रज्ञाप्रासाद मा ह्य मुह्यतो महतो जनान् । प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ।**) इसके बाद व्याध ने हिंसा-अहिंसा के तत्कालीन विवाद की रोचक मीमासा की । वृक्ष, फल, मूल, जल आदि में सर्वत्र जीवो का निवास है । अतएव पूर्ण अहिंसा का पालन अशक्य ही है । जिस प्रकार लोक का क्लेश न हो, बुद्धिमान वैसी ही वृत्ति अपनाये । इस प्रकार धर्म की बहुविध व्याख्या करके व्याध ने कहा—"हे विप्र ! सूक्ष्म धर्म मोक्ष धर्म बहुत सुन चुके । अब प्रत्यक्ष धर्म देखो ।" यह कहकर वह उसे वहा ले गया जहा उसकी पत्नी वृद्ध माता-पिता की सेवा कर रही थी । उसने कहा—"इन्द्रादिक, देव चारो वेद और यज्ञ मेरे लिए माता-पिता है । तुमने विना उनकी आज्ञा के घर छोड दिया । यह अच्छा नही किया । अब लौट-कर उन्हे प्रसन्न करो और महान् गृहस्थ धर्म का उल्लघन मत करो ।"

इस कथा में जन्म के व्याध से वेदपाठी ब्राह्मण को उपदेश विलक्षणता है । गृहस्थाश्रम का उल्लघन करके ससार का कल्याण करने के लिए वैरागी बनने की इसमें भर्त्सना की गई है । उस युग मे मुण्डक बनने की जो महा-व्याधि लोक मे फैल गई थी, उसके विरुद्ध भागवतो ने गार्हस्थ्य के दुर्ग को अनेक प्रकार से सुदृढ बनाया । अहिंसा आदि जो सद्गुण विपक्षियोके तरकश के तीर थे, उन सबको उन्होने जी खोलकर अपना लिया । यहातक कि पुलिन्द पुक्कसो के लिए भी अपने द्वार खोलकर जाति-सबधी कट्टरता पर प्रहार किया ।

तुलाधार-जाजलि कथा

इस प्रकरण से मिलती हुई एक कथा शाति पर्व के तुलाधार जाजलि सवाद मे भी आई है (मोक्ष धर्म अ० २५३-२५६) । वहा भीष्म वक्ता है । जाजलि नामक ब्राह्मण ने समुद्र-तट पर इतने अधिक समय तक योग और तप किया कि पक्षियो के उसकी जटाओ मे घोसला रख लेने पर भी उसे भान न हुआ । इससे उसमें अह भाव उत्पन्न हुआ । तब आकाशवाणी हुई, 'तुम अभी वाराणसी के तुलाधार के समान नही हो पाये, उससे जाकर धर्म सीखो ।' जाजलि जब तुलाधार के पास पहुचा तो पूर्वोक्त पतिव्रता स्त्री की भाति तुलाधार ने भी पक्षियोवाली बात कही ।

वैश्य तुलाधार ने जाजलि को धर्म का उपदेश दिया। जिसमे मुख्य आग्रह अहिंसापरक दृष्टिकोण पर था। भूतो के प्रति अद्रोह भाव मे जीविका साधना यही तुलाधार की निष्ठा थी।—

तुला मे सर्व भूतेषु समा तिष्ठति जाजले ।
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुन. ॥
या वृत्ति स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ।

(शांति० २५४।६)

कृषि वार्त्ता आदि जीविका के भौतिक साधनो के पक्ष में इस कथा में प्रौढ युक्तिया दी गई है, और धर्म को कहने सुनने का विषय न रख कर प्रत्यक्ष अनुभव में लाने पर आग्रह किया गया है—

प्रत्यक्ष क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यस तद्यथा—शांति २५६।१

धर्मव्याध और तुलाधार दोनों नूतन भागवत धर्म के दृष्टिकोण के प्रतिनिधि है जिसके द्वारा धर्म के रूढिवाद को पिघलाकर पाचरात्रिको ने उसे विक्रम की प्रथम सहस्त्राब्दी के पूर्वार्द्ध में लोकहितकारी धर्ममार्ग के रूप में परिणत किया।

अगिरसोपाख्यान

मार्कण्डेय की कही हुई कथाओ में चौथा गुच्छा अग्निवश और पाचवा स्कन्द जन्म से सम्बन्ध रखता है। अग्नि वश समस्त भारतीय वाङ्मय में अपने ढग की एक ही साहित्यिक कृति है। इसका मूल धरातल नितान्त वैदिक है। वेद के अनुसार सृष्टि का मूल गति तत्त्व है जिसे अग्नि कहा गया है—**'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध'** अर्थात् वही एक मूल अग्नि लोक लोको में बहुत प्रकार से गतिशील दिखाई पड रहा है। सृष्टि के परम कारण मूल तत्त्व की संज्ञा निर्विशेष ब्रह्म है, जिसके विषय में सत्-असत्, अमृत-मृत्यु, किसी प्रकार का कोई विशेषण नही दिया जा सकता। वह निर्विशेष शुद्ध रस रूप था। उस रस के धरातल पर बल का उदय हुआ। अव्यक्त बलो से युक्त होने पर उस ब्रह्म तत्त्व को परात्पर कहा जाता है परात्पर ब्रह्म के किसी प्रदेश मे माया नामक बल के आविर्भाव से वह ब्रह्म अव्यय पुरुष के

रूप में अभिव्यक्त हुआ। अव्यय में सीमा भाव की उत्पत्ति हुई। इस अव्यय से क्रमश अक्षर और अक्षर से क्षर का विकास हुआ। अक्षर तत्त्व ही प्राण तत्त्व है। प्राण का नाम ही गति है। इसे ही अग्नि कहा गया है। अग्नितत्त्व को वैदिक भाषा में अगिरा और आप्य तत्त्व को भृगु की सज्ञा दी गई। अगिरा और भृगु इन दोनो के पारस्परिक सघर्ष से लोको का जन्म होता है। इस प्रकार वैदिक सृष्टि प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में अग्निवश नामक इस प्रकरण की कल्पना की गई है। गति, आगति और स्थिति ये तीनो एक ही गति तत्त्व के भेद है, जिन्हे इन्द्र, विष्णु और ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा या स्थिति तत्त्व के धरातल पर अगिरा या अग्नि तत्त्व का जन्म हुआ और वही एक अग्नि शक्ति फिर अनेक नाम रूपो से विस्तार को प्राप्त हुई। अग्नि एक है, उसके कर्म अनेक है।

अग्निर्यदा त्वेकएव बहुत्व चास्य कर्मसु (आरण्यक पर्व २०७।३)

यहा कहा गया है कि ब्रह्मा के पुत्र अग्नि हुए और अग्नि के प्रथम पुत्र अगिरा। अग्नि और अगिरा एक है। उसी अगिरा का परिवार बढता हुआ नाना प्रकार की यज्ञीय अग्नियो के रूप में विकसित हुआ। जैसे भरद्वाज अग्नि, भरत अग्नि, वैश्वानर अग्नि, स्विष्टकृत् अग्नि, कामाग्नि आदि। इसी प्रसग में वैदिक पञ्चजन और "त्रीणि पच-पच" अर्थात् अव्यय, अक्षर और क्षर की पाच-पाच कलाओ का उल्लेख आया है। सब प्राणियो के उक्थ या केन्द्र में अन्त-र्निविष्ट मनु नामक अग्नि भी उसी मूल गति तत्त्व का विकास है जिसके कारण विश्व का स्पन्दन या प्राजापत्य विधान चल रहा है। जैसा मनुस्मृति में कहा है—'उसी एक प्राणतत्त्व को कोई अग्नि, कोई मनु प्रजापति, इन्द्र और कोई शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।' सृष्टि का मूलभूत महान् ऊष्मा ही महान् अग्नि या महाप्राण है जो भूत या पिडो में लक्षित है। वही मनु प्रजापति या हृदय तत्त्व है—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते ।
अग्निश्चापिमनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ (आरण्यक पर्व २११।४)

अन्त में 'अग्नीषोमात्मक जगत्' की व्याख्या को पूर्ण करते हुए कहा है कि जितनी अग्निया हैं, उतने ही सोम हैं, और अग्नि के समान समस्त सोम भी एक ही मूल ब्रह्म तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं।

तात्त्विक अग्नि का वर्णन करते हुए ऋषि का ध्यान उन अग्नियो को

ओर जाता है, जिन्हें मनुष्य यज्ञ की वेदियों में प्रज्वलित करते हैं। ये यज्ञ-वेदिया नदियों के तटों पर बनाई गई। सिन्धु, सरस्वती, गगा, सरयू, कौशिकी, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी ये सब नदिया उन यज्ञीय अग्नियों की माताए हैं (एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो या प्रकीर्त्तिता—२१३।२४)। इस प्रकार भरत अग्नि के बहुधा प्रज्वलित होने से सारा देश ही यज्ञिय और भारत बन गया।

कुमार जन्म

आध्यात्मिक और आधियज्ञिक अग्नि की व्याख्या करते हुए मार्कण्डेय का ध्यान एक दूसरे प्रकार की अग्नि की ओर गया, जिसे ब्राह्मण ग्रंथों में कुमार अग्नि कहा है। ऋग्वेद के अनुसार यही 'चित्र शिशु' (ऋ १०।१।२) था। सृष्टि का मूलभूत जो कोई विलक्षण तत्त्व है, उसे ही अद्भुत आश्चर्य कहा गया है। वही गुहा निहित या गुह्य है। उस गुहा से जो शक्ति अभिव्यक्त होती है, मार्कण्डेय ने आरम्भ में उसे ही अद्भुत से जन्मा हुआ अद्भुत पुत्र कहा है। वही विलक्षण कुमार अग्नि है—

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्र प्रवक्ष्याम्यमितौजसम्—२१३।१।

ऋग्वेद में बार-बार अग्नि के लिए 'गुहा सन्तम्' 'गुहा हितम्' विशेषण आये हैं। देवसृष्टि का जो अमृत तत्त्व है, वह तैजस कहलाता है। वही जब भूतों में अभिव्यक्त होता है, तब उस भूत मर्त्य सर्ग का नाम कौमार सर्ग है। अमृत-प्राण तत्त्व ही सर्व भूतों में कुमार अग्नि के रूप में आविर्भूत हो रहा है। सृष्टि की यह प्राणाग्नि अथ से इति तक नई-नई है। प्रति सवत्सर में प्रत्येक ऊषा के सुनहले प्रकाश में **'नवो नवो भवति जायमान.'** यही इसका स्वरूप है। मानों इसका क्षय कभी होता ही नही। इसीलिए मानो यह सनातन ब्रह्म-चारी है। भूतों के निर्माता सवत्सर के द्वारा कुमार अग्नि का जन्म होता है। इसे चित्र क्यों कहा गया? सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से इस विलक्षण अग्नि का भूत सृष्टि में बराबर चयन हो रहा है। चित होने के कारण ही इसे परोक्ष भाषा में चित्र नाम दिया गया। इस प्रकार एक ही मूलभूत अग्नि तत्त्व या गति तत्त्व के दो रूप हैं। एक सृष्टि से प्राक् अवस्था में और दूसरा विश्व की भूत चितियों में। मूलभूत अग्नि तत्त्व या गति तत्त्व को वेदों में रुद्र भी

कहा गया है। गति रुद्र, आगति विष्णु और स्थिति या प्रतिष्ठा ब्रह्मा का रूप है। अतएव पौराणिक उपाख्यानो मे कुमार रुद्र के पुत्र है। उन्हे अग्नि का पुत्र भी कहा गया है। उपाख्यान के अनुसार छह कृत्तिकाए गुह या स्कन्द की माताए है। वैदिक परिभाषा में अग्नि यम आदित्य ये तीन अगिरा है और आप वायु, सोम ये तीन भृगु कहलाते हैं। भृगुओ और अगिराओ के सम्मिलित तप से ही विश्व की मूल भूत अग्नि जन्म लेती है। यही छह कुमार की छह माताए है। इस प्रकार कितनी ही परिभाषाओ द्वारा स्कन्द के वैदिक स्वरूप को कथा मे ढालने का प्रयत्न इस आख्यान मे पाया जाता है।

स्कन्द की कथा में लोकतत्त्व

किन्तु महाभारत में स्कन्द की कथा का जो रूप है, उसमें न केवल वेद अपितु लोक के भी बहुत से धार्मिक तथ्य आपस में एकमेक होगए है अथवा इसे छह लड का गूथा हुआ हार कह सकते है। स्कन्द उत्पत्ति, स्कन्द-शक्र समागम, स्कन्दोपाख्यान, स्कन्द-ग्रह कथन, स्कन्द-युद्ध, कार्तिकेय स्तव—यही इस कथात्मक षट्कोण की छह टपकिया है। यह सारा प्रकरण उस उदात्त प्रयत्न का स्मारक है, जिसके द्वारा लोक और वेद के अनेक अनमिल तथ्यो को एकत्र समेट कर समन्वय सूत्र में पिरो दिया गया।

स्कन्द की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका उपक्रम करते हुए कहा गया है कि देवासुरो के सग्राम में असुर सदा विजयी होते थे। देवताओ की सेना के लिए इन्द्र को एक सेनापति की आवश्यकता हुई। उसने मानस पर्वत पर एक स्त्री को विलाप करते हुए सुना। उसने बताया कि मै प्रजापति की पुत्री देवसेना हू। मेरी ही बहन दैत्यसेना थी जो केशी असुर के साथ चली गई। इन्द्र ने तुरन्त उसे पहचानते हुए कहा—"तुम तो मेरी ही माता दाक्षायणी अदिति की बहन की पुत्री हो।" देवसेना ने इन्द्र से अपने लिए पति चुनने की प्रार्थना की। तब इन्द्र ने अनेक द्वद्वो के बाद सप्तर्षि पत्नियो की कुक्षि से उत्पन्न स्कन्द के साथ उसका विवाह कर दिया। इसी कल्पना मे अद्भुत और स्वाहा को भी स्कन्द के जनक-जननी माना गया है, एव वैदिक सुपर्ण विद्या का आश्रय लेते हुए सुपर्णी अर्थात् सुपर्ण का रूप धारण करनेवाली गायत्री को भी स्कन्द की माता बताया गया है। लोक के धरातल पर कहा है कि लोक में जिन मातृदेवियो की पूजा होती थी, उन्होने स्कन्द को अपना पुत्र स्वीकार

किया, और जितने ग्रह उपग्रह आदि गण थे, वे सब महासेन स्कन्द के चारो ओर एकत्र होगए। पिता अग्नि ने अपने कुमार को छागमुख रूप में कल्पित किया। वस्तुत अग्नि की एक सज्ञा अज भी है और अज छाग या बकरे को भी कहते है इसीसे लोक में स्कन्द के छागमुख-रूप की कल्पना की गई। मथुरा की कुषाणकालीन कला में छागमुखी पुरुष-देवता की मूर्त्तिया पाई गई है। उन्हें महाभारत में नैगमेय और जैन-धर्म की मान्यता में हरिणैगमेश कहा गया है।

स्कन्द-शक्र समागम मे इन्द्र और स्कन्द के सघर्ष का उल्लेख है। अन्त में दोनो का मेल हो जाता है। कहा गया है कि इन्द्र के वज्रप्रहार से स्कन्द की कुक्षि से अनेक घोर ग्रहो का जन्म हुआ। इस प्रकार के बहुत-से ग्रहो का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रथो में आया है। बच्चो को पीडा पहुचाने वाले ऐसे ग्रहो के विषय मे लोक में मान्यता प्रचलित थी। स्कन्द को उन सबका अधिपति मानकर उन्हे स्कन्द ग्रह के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उनमें से एक ग्रह को स्कन्दापस्मार भी कहा है। इस प्रकार के ग्रह और पूतना रेवती आदि अनेक देवियो का जिनका बच्चो से सबध माना जाता था, सविस्तर वर्णन काश्यप सहिता नामक आयुर्वेदिक ग्रथ के रेवती कल्प प्रकरण में आया है। उसका कुछ सकेत हम महाभारत के इस प्रकरण में देखते है। वस्तुत इस प्रकरण के अन्त में जो फलश्रुति दी हुई है, उससे सूचित होता है कि यह महाभारत का मूल अश न था, किन्तु कुषाणकाल के समीप जोडा गया। यह वह समय था जब लोक में विशाख, स्कन्द, महासेन, कुमार, इनकी पृथक् पृथक् रूप मे मान्यता थी, जैसाकि कुषाण सम्राट हुविष्क ने अपने सोने के सिक्को पर उल्लेख किया है। कार्तिकेय या स्कन्द के स्वरूप के इस अनगढ मसाले का तक्षण करके महाकवि कालिदास ने चतुर शिल्पी की भाति उस उदात्त धरातल पर स्कन्द के उपाख्यान को प्रतिष्ठित किया, जिसे हम कुमारसम्भव मे देखते है। महाभारत के इस उपाख्यान में स्कन्द का युद्ध महिषासुर से कराया गया है जो कि कुषाणकाल की लोक-मान्यता थी। गुप्तकाल की पृष्ठभूमि में कालिदास की मौलिक कल्पना के अनुसार स्कन्द का प्रतिपक्षी तारकासुर हो जाता है। कालिदास ने अनुसार स्कन्द के स्वरूप का तेजस्वी वर्णन इस प्रकार किया—

रक्षा हेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना—
मत्यादित्य हुतवह मुखे सम्भृत तद्धि तेज ॥

(मेघदूत)

स्कन्द के इस नूतन स्वरूप की व्याख्या हमने अपने मेघदूत की भूमिका में की है। यह भी ज्ञातव्य है कि कालिदास ने स्कन्द का वाहन मयूर माना है (**मयूर पृष्ठाश्रयिणा गुहेन, रघु० ६।४**) और सम्राट कुमार गुप्त की स्वर्ण मुद्राओ पर मयूर का ही अकन है, किन्तु कुपाणकालीन यौधेयगण की मुद्राओ पर कार्तिकेय की खडी हुई मूर्त्ति के पार्श्व में कुक्कुट अकित किया गया है। महाभारत मे स्कन्द के साथ मयूर का उल्लेख नही मिलता किन्तु कुक्कुट का उल्लेख है—(**कुक्कुटाश्चाग्निना दत्तस्तस्म केतूरलक्कृत** २१८।३२)। कानपुर जिले में लालाभगत स्थान से प्राप्त कार्त्तिकेय स्तम्भ के ऊपर कुक्कुट शीर्षक था। मध्य में कुमार वर और श्री लक्ष्मी उत्कीर्ण है। आरण्यक पर्व में भी 'कुमारवर' और श्री लक्ष्मी की मूर्त्ति का उल्लेख आया है —

अभजत्पद्मरूपा श्री' स्वयमेव शरीरिणी ।
श्रिया जुष्ट पृथुयशा स कुमारवरस्तदा ॥

(२१८।३-४)

देवसेना, पष्ठी, श्री-लक्ष्मी, अपराजिता आदि देवियो की एकात्मकता वताते हुए उन सबका सम्बन्ध स्कन्द के साथ जोडा गया है। जिस दिन स्कन्द और देवी श्री-लक्ष्मी का सम्मिलन हुआ, वही महातिथि लोक में श्री पञ्चमी नाम से प्रसिद्ध हुई। (**श्रीजुष्ट पञ्चमी स्कन्दस्तस्माच्छ्री पञ्चमी स्मृता**—२१९।४९)—श्री पञ्चमी वसन्त का जन्म दिन है। इसका अर्थ यह है कि उसी दिन से अग्नि के कण सोम के शीत धरातल पर प्रतिष्ठित होने या वसने लगते हैं, जिससे वह ऋतु वसन्त कहलाती है। ऋतुओ में अग्नि की अभिव्यक्ति का आरम्भ ही अग्निपुत्र स्कन्द का श्री-लक्ष्मी से युक्त होना है। वही से सवत्सर में कुमार अग्नि का उपक्रम होने लगता है।

: ३४ :

द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

स्कन्द की कथा जहा समाप्त होती है वही मार्कण्डेय समास्यापर्व अर्थात् मार्कण्डेय के साथ पाण्डवो की धर्ममयी गोष्ठी का पर्व भी महाभारत मे समाप्त माना गया है। इसके वाद प्रकरण पलट जाता है और पाण्डवो की निजी कथा एव दुर्योधन के साथ उनकी नोक-झोक का प्रसंग पुन चलने लगता है। इन्ही पर्वों का नाम घोष-यात्रा और द्रौपदी-हरण-पर्व है। इनमे वक्ता के रूप मे मार्कण्डेय का नाम नही है। उसके वाद रामायण की कथा और सावित्री सत्यवान् की कथा मे जो प्रतीत होता है वाद मे वहा रक्खी गई पुन मार्कण्डेय को वक्ता के रूप मे कल्पित किया गया है।

जिस समय मार्कण्डेय पर्व समाप्त हुआ, स्वाभाविकतया उसी समय कृष्ण और सत्यभामा ने भी पाण्डवों से विदा ली। यहीपर वेद के महदुपाख्यानो से छुट्टी पाकर कथाकार की दृष्टि सिकुडकर वैठी हुई द्रौपदी की ओर जाती है और उसने सत्यभामा द्रौपदी सवाद के रूप मे द्रौपदी के चित्र को उज्ज्वलता प्रदान करने का सरस प्रयत्न किया है। उस विप्र-मण्डली मे द्रौपदी सत्यभामा भी आपस मे कुरुकुल और यदुकुल की चित्र-विचित्र कथाए कह रही थी। अग्निवश और स्कन्द के उलझे हुए कथानको के वीच मे वे अपने मन को हलका कर रही थी। अव विदा लेने के समय सात्राजिती सत्यभामा ने याज्ञसेनी द्रौपदी को अलग ले जाकर एक निजी चर्चा चलाई जो स्त्रियो के ही योग्य है। उसने पूछा—"हे द्रौपदी, लोकपालो के समान वीर इन पाच पाण्डवो से तुम कैसे निपटती हो? तुमने इन्हें कैसे अपने वश मे कर रखा है कि वे सदा तुम्हारा मुह देखते रहते है? क्या ऐसी कोई व्रतचर्या या तप है, या किसी मत्र या जडी-बूटी के द्वारा उन्हे अपने वशीभूत कर रक्खा है?" द्रौपदी चट उसके मर्म को समझकर वोली—'हे कृष्ण की प्रिय पटरानी ,तुम यह कैसा प्रश्न करती हो? तुम्हारे प्रश्न के पीछे एक सशय है जो तुम्हारे योग्य नही। अगर स्वप्न में भी भर्ता को यह पता चले कि उसकी स्त्री मत्र और औषधि के द्वारा उसे वश में करना चाहती

यह आशका दुर्योधन और शकुनि से प्रकट की। उन्होने जाकर कर्ण से सलाह की तो कर्ण ने अपनी कुटिलता का कुछ अश उडलते हुए कहा—"अव चिन्ता किस बात की ह? पाण्डवो को निकालकर सुख से पृथिवी को भोगो। सव राजा तुम्हारे करदाता है। पाण्डवो की लक्ष्मी तुम्हारे पास आगई है। सुना है पाण्डव द्वैतवन मे है, तो तुम साज सजकर वहा चलो और पाण्डवो को इस दीनदशा में देखकर अपने जी को ठडा करो। शत्रु को कष्ट में देखकर जो सुख मिलता है वह पुत्र, धन या राज्य-लाभ से भी नही मिलता। तुम्हारी सुवासिनी स्त्रियो को देखकर कृष्णा का मन टूक-टूक हो जायगा।" कर्ण की बात सुनकर दुर्योधन की बाछें खिल गई। उसने कहा—"कर्ण, यही सब तो मेरे भी मन में था। पर धृतराष्ट्र से मुझे वहा जाने की अनुमति कभी न मिलेगी। वह तो दु ख में तपे हुए पाण्डवो को कुछ और भी ऊचा समझकर उनके लिए सोच किया करता है। फिर वह यह भी ताड लेगा कि वनवासी पाण्डवो के पास जाने का उन्हे कष्ट देने के सिवाय हमारा और क्या प्रयोजन हो सकता है। हा! यदि धर्मराज और भीमसेन मेरी इस लक्ष्मी को देख पाते तो मेरे जान में जान आ जाती, पर कोई उपाय नही सूझता।" यह सुनकर कर्ण ने हँसते हुए कहा—"उपाय मेरी समझ में आगया। सुना ह इस समय राजकीय घोप द्वैतवन में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है। घोष-यात्रा के बहाने वहा चलना चाहिए।"

अगले दिन सबने धृतराष्ट्र के दर्शन किये। उसी समय सधे-सधाये समङ्ग नाम के ग्वाले ने धृतराष्ट्र से निवेदन किया—"महाराज, आजकल आपका समस्त गोधन पास में ही चरने के लिए आया हुआ है।" बात का तार जोडकर चट कर्ण और शकुनि ने कहा—"महाराज, इस समय हमारे घोषो का पडाव बडे सुन्दर स्थान में हुआ है। गायो के स्मारण (गणना) और बछडो के अङ्कन (नए बछडो पर चिन्ह डालने) का यही समय है। और इसी अवसर पर कुछ थोडी मृगया भी दुर्योधन के लिए उचित होगी। अतएव आप दुर्योधन को वहा जाने की अनुज्ञा दे। धृतराष्ट्र ने बात की मरोड को और गहराई से पहचाना और कहा—"मृगया और गायो की देखभाल ये दोनो बाते तो ठीक है, पर ग्वालो के कहने से ही विश्वास करके वहा न चले जाना चाहिए। सभव है इसमें कुछ छिद्र हो। सुनने में आया है कि पास में ही

पाण्डव ठहरे है। वे सताये हुए है, इसलिए हो सकता है कि वे चोट करे। मेरी राय में तुम्हारा वहा जाना ठीक नही। हमारे विश्वासनीय राजपुरुष गायो की सख्या कर लावेंगे।" धृतराष्ट्र की बात के इस दाव को बचाने के लिए शकुनि ने एक पैंतरा बदला और जैसा उसने जीवन में कभी नही किया था उसने भी पाण्डवो की श्लाघा मे दो शब्द कहे—"युधिष्ठिर धर्मज्ञ है। सभा में प्रतिज्ञा करके गए है कि बारह वर्ष वन में रहेगे। उनके धर्मचारी भाई उनके अनुगामी है। इसलिए उनकी ओर से कुछ खटका न करना चाहिए। पाण्डवो का दर्शन करना हमारी इच्छा भी नही। हमें तो मृगया और गायो की गिनती के लिए वहा जाना है। कोई अनार्योचित बात वहा न होगी।" यह सुनकर धृतराष्ट्र ने अनुमति दे दी और दुर्योधन बडी सेना सजाकर द्वैतवन में सरोवर के पास जा पहुचा।

प्राचीनकाल में यह प्रथा थी कि प्रतिवर्ष राज्य की गायो का स्मारण या गणना होती थी। गौ और ग्वाले वन के जिस भाग में पडाव डालते थे उसे घोष कहा जाता था। जब गाए एक वन मे चर चुकती तब वे दूसरे वन में चली जाती थी। पहला वन पाणिनि के अनुसार **भूतपूर्व गोष्ठ या आशितङ्गवीन अरण्य** कहा जाता था। गायो के स्मारण में तुरन्त की ब्याई गायो को, बछडो को और ग्याभिन हुई ओसर बछियो को गिना जाता था और उनपर अक या निशान डाल दिये जाते थे। तीन वर्ष की आयु के पशुओ को विशेष रूप से लिख लिया जाता था, क्योकि सम्भावना थी कि वे वर्ष के बीच में ही ग्याभिन होकर बच्चा देदें, जिसकी चोरी से राज्य की हानि हो जाय (२२९।४–६)। घोष में गायो की सख्या सहस्रो होती थी। जैन-साहित्य के अनुसार दस सहस्र गायो की सख्या को व्रज कहा जाता था।

गौओ की गणना समाप्त करके दुर्योधन ने मृगया से अपना मन बहलाया। और तब वह द्वैतवन सरोवर की ओर बढ गया। वहा उस दिन युधिष्ठिर ने सद्यस्क नामक राजर्षि यज्ञ किया था। युधिष्ठिर का पडाव सरोवर के चारो ओर फैला था। दुर्योधन ने अपने सेवको को आज्ञा दी कि अखाडा (आक्रीडावसथ) का निर्माण करे। उन्होने द्वैतवन सरोवर के पास ही ऐसा करना चाहा। वहा उसी समय गन्धर्वराज चित्रसेन अप्सराओ के साथ विहार के

लिए आया हुआ था। उसके गन्धर्वों ने कुछ रोक-थाम की, तो दुर्योधन के परिचारकों ने जाकर शिकायत की। दुर्योधन आग बबूला होगया और उसने गन्धर्वों की बस्ती को उखाड फेंकने की आज्ञा दी। इसपर दोनो मे बात बढ गई। दुर्योधन के महाबली साथी तन गए। गन्धर्वों ने फिर रोका, किन्तु लात के देवता बात से नही मानते। दोनो दलो में बज गई और गन्धर्वों ने कौरवो की सेना को तितर-बितर करके दुर्योधन, दु शासन, शकुनि, कर्ण आदि को बांध लिया।

इस प्रकार अवरुद्ध हुए दुर्योधन के मन्त्री रोते-पुकारते युधिष्ठिर के पास पहुचे। उनकी बात सुनकर भीमसेन ने कहा—"अरे, तुम लोग कुछ और करने चले थे हो गया कुछ और—**अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम्** (२३१।१५) हम तुमसे बदला लेते, पर हमारा काम गन्धर्वों ने ही कर दिया। भीमसेन को बरजते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"यह निष्ठुरता का समय नही है। कौरव भयार्त होकर हमारी शरण में आये है। भाई-बन्धुओ में फूट और झगडे भी होते है, पर उनका ज्ञाति धर्म नष्ट नही हो जाता। अपने कुल पर बाहरी हमला हो तो उसे नही सहना चाहिए। मूर्ख दुर्योधन तो यह नही समझता, पर अपने कुल की स्त्रियो को इस प्रकार पराभूत नहीं देखा जा सकता। इसलिए हे भीम, हे अर्जुन, हे नकुल, सहदेव, उठो और कौरवो को बचाओ। यदि मैं इस यज्ञ मे न बैठा होता तो मैं स्वय ही जाता। शान्ति के साथ ही तुम दुर्योधन को छुडाने का उपाय करना। यदि गन्धर्वराज शान्ति से न माने तो मृदु पराक्रम भी कर सकते हो। मृदु युद्ध से भी काम न चले तो सर्वोपाय काम में लाना।" युधिष्ठिर का वचन सुनकर अर्जुन और भीमसेन मौके पर पहुचे और वहा बडी रगड के बाद, जिसमे शस्त्रास्त्रो का खुलकर प्रयोग हुआ, वे गन्धर्वों को वश मे कर पाये। पाण्डवो की प्रेरणा से चित्रसेन ने दुर्योधन और उसके साथियो को छोड दिया पर इतना कहा—"यह पापी नित्य दुष्टता करता रहता है, छोडने योग्य नही है।" युधिष्ठिर ने दुर्योधन को प्रेम से समझाया—"हे तात, तुम्हे ऐसा साहस नही करना चाहिए। अब सब भाइयो के साथ घर लौटो। वैमनस्य मत करना।" यह बात सुनकर दुर्योधन तो लज्जा से गड गया। वह हस्तिनापुर लौट आया किन्तु उसका हृदय उसे कचोटने लगा और उसे शान्ति न मिली। दुर्योधन ने कर्ण से

कहा—"हे कर्ण, मैं चहाता हू कि भूमि फट जाय और मै उस में प्रवेश कर जाऊ। मेरी लज्जा का अन्त नही है। स्त्रियो के सामने मैं बन्धनग्रस्त होकर युधिष्ठिर के पास ले जाया गया। मैंने सदा जिनकी हेठी की आज उन्होंने ही मुझे छुडाकर जीवन-दान दिया। उस युद्ध मे मेरा अन्त हो जाता तो अच्छा होता। लोक में मेरा यश तो रहता। आज इस दुःख में मेरे निश्चय को सब सुन लें। तुम लोग अपने-अपने घर लौट जाओ। मै प्रायोपवेशन करके अपने प्राण दे दूगा। मैं पुर में मुह दिखाने योग्य नही रहा। हे दुःशासन, तुम राज्य पर अपना अभिषेक कराना और कर्ण तथा शकुनि के साथ पृथिवी का पालन करना।"

उसकी यह बात सुनकर दुःशासन रोने लगा। उसने कहा—"ऐसा कदापि न होगा। पर्वतो के साथ भूमि चाहे विदीर्ण हो जाय, आकाश के चाहे टुकडे हो जाय, समुद्रो का जल चाहे सूख जाय, अग्नि चाहे अपनी उग्रता छोड दे, तुम्हारे बिना मै इस पृथिवी का शासन कभी न करूगा। यह कहते हुए वह बडे भाई के पैरो से चिपटकर धाड मारकर रोने लगा। कर्ण ने उनकी यह दशा देखकर स्थिति को सम्हालते हुए कहा—"अरे, क्या बच्चो की-सी बाते करते हो? शोक करने से किसीका व्यसन दूर हुआ है? धैर्य धारण करो। पाण्डवो ने तुम्हारे साथ उपकार क्या किया? वे तुम्हारे राज्य में बसते हैं, तुम्हारी प्रजा हैं। तुम्हें छुडाकर उन्होने अपने कर्तव्य का ही पालन किया। तुम भी तो उनका पालन करते हो जिससे वे बेखटके रह रहे हैं। तुम भूख-हडताल करोगे तो तुम्हारे भाइयो की क्या हालत होगी? उठो और सबको ढाढस दो। आज तुम्हारी कम-हिम्मती मुझे जान पडी। इसमें क्या आश्चर्य जो तुम्हारे जैसे हीनसत्त्व व्यक्ति को छुडाने की आवश्यकता पाण्डवो को पड़ी? पाण्डवो ने सयोग से तुम्हें छुडा दिया सो इससे क्षोभ क्या? क्षोभ तो इस बात का है कि वे तुम्हारे राज्य में रहकर भी तुम्हारी सेना में नहीं आते। पाण्डवो को देखो, उनकी क्या अवस्था हुई। किन्तु वे सत्त्वशील हैं। भूखे मरने की बात नही सोचते। क्यो अपनी हँसी कराते हो? उठो। यदि मेरा कहा न मानोगे तो मैं भी यहीं धरना दे दूगा और तुम्हारे बिना जीवित न रहूगा।" तब शकुनि ने भी दुर्योधन को समझाया और अन्त में उसे अपना विचार छोड देना पडा।

यहा किसी लेखक ने एक ऊलजलूल कहानी और रख दी है कि जब दुर्योधन भूखा मरने पर उतारू होकर किसी तरह न माना तो दैत्य-दानवो ने सोचा कि इसके मरने से हमारा काम बिगड जायगा और उन्होने अथर्व के मत्रो से एक कृत्या का निर्माण किया और उसके द्वारा दुर्योधन को पाताल में पकड मगाया एव समझा-बुझाकर उसके विचार को पलटा। स्वय कथा-कार ने इतना स्वीकार किया है कि दुर्योधन को भी यह गढन्त लीला स्वप्न-सी लगी।

जब कौरव हस्तिनापुर लौट आये तब भीष्म ने भी दुर्योधन से चुटकी ली—"मैंने तो पहले ही जाने का निषेध किया था, पर तुमने मेरी बात न मानी। धर्मज्ञ पाण्डवो ने तुम्हें छुडा दिया। इससे क्या तुम्हें लज्जा नही आती ? तुम्हारा बली सूतपुत्र तुम्हें रोते-चिल्लाते छोडकर गधर्वों के सामने पलायन कर गया।" भीष्म के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन ठठाकर हँसा और उठकर चल दिया। उसके साथ कर्ण आदि भी उठ गए। भीष्म भी लजाकर अपने घर चले गए।

दुर्योधन का यज्ञ

उसके बाद दुर्योधन ने फिर मत्रणा-सभा जोडी कि अब क्या करना चाहिए। ऐसे अवसर पर उसके दिल को शक्ति देने के लिए कर्ण ने सलाह दी—"हे राजन्, इस समय तुम सारी पृथिवी का इन्द्र के समान शासन करनेवाले हो। पाण्डवो ने जैसे राजसूय-यज्ञ किया था तुम भी करो।" कर्ण की यह बात सुनकर दुर्योधन खिल उठा। उसने पुरोहित को बुलाकर राजसूय-यज्ञ करने की आज्ञा दी। किन्तु पुरोहित ने कहा, "युधिष्ठिर के जीते जी और अपने पिता के जीवित रहते तुम्हारा राजसूय करना ठीक नही। तुम राजाओ से कर लेकर सोने का हल बनवाओ, और उससे यज्ञवाट की भूमि को जोतो। यही सत्पुरुषो के लिए उचित वैष्णव यज्ञ है। यह भी राजसूय की जोड का है। यह बिना विघ्न के सफल भी हो जायगा।" दुर्योधन ने पुरोहित की बात के मर्म को समझ लिया कि राजसूय करने से टटा बढेगा। अतएव उसने इसी प्रकार का यज्ञ करना निश्चित किया। अनेक राजाओ को निमत्रण भेजे गए। पाडवो के पास भी दूत गया। यज्ञ की बात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—"हमें भी जाना चाहिए, किन्तु इस समय नही। तेरहवें वर्ष की समाप्ति तक हमें

वाट देखना है। तव दुर्योधन ने जैसे हो सका धूमधाम से अपना यज्ञ समाप्त किया।

: ३६ :

द्रौपदी-हरण

पाडवो ने प्रवास का समय द्वैतवन में विताने का निश्चय किया था, किन्तु वे कुछ ही वर्ष रह पाये थे कि दुर्योधन ने वहा पहुचकर और गधर्वों से लड-भिड-कर खरमडल कर दिया। उसके वाद स्वत ही युधिष्ठिर को स्थान वदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कथा-लेखक ने 'मृग स्वप्न' नामक चुटकले मे इसी वात को उभारने का प्रयत्न किया है। जगल में रहते हुए पाडवो ने मृगो का जो सफाया किया था उसका एक सहृदयतापूर्ण चित्र यहा पाया जाता है।

एक वार युधिष्ठिर ने स्वप्न में देखा कि जगल के हिरन उनके पास आये हैं और हाथ जोड कर गद्गद कठ से कापते हुए कुछ कहना चाहते है। युधिष्ठिर ने पूछा—"आप कौन है और क्या कहना चाहते हैं ?" मृगो ने कहा—"हम द्वैतवन के मृग है जो मरने से किसी प्रकार वच रहे है। हे महा-राज, अव तो आप स्थान वदल द, जिससे हम विल्कुल नष्ट न हो जाय। आप सव भाई शूरवीर और हथियार चलाने में चतुर है। हम वनवासियो के थोडे-से परिवार ही वचे हैं जो वस अव वीज के ही काम आयगे। आपकी कृपा हो जाय तो हम फिर वढ जायगे।" डरे हुए मृगो को देखकर युधिष्ठिर को दया आगई और उन्होने स्वप्न में ही उन्हें अभय दान दिया। जागने पर उन्होंने अपने भाइयो से यह वात कही। उन्होने कहा—"मृगो का कहना ठीक है। इसलिए हम मरुभूमि के सिरे पर स्थित काम्यक वन में चलकर तृण-विन्दु सरोवर के निकट अपनी वस्ती वनावें।"

व्रीहिद्रौणिक कथा

तव पाण्डव काम्यक वन में चले गए। वहा नई परिस्थिति में व्यासजी उनसे मिलने आये और उन्हें कष्ट पाते देखकर उच्छ वृत्ति से जीविका निर्वाह करनेवाले एक तपस्वी का दृष्टात सुनाया। कुरुक्षेत्र में मुद्गल नाम का एक धर्मात्मा शिलोञ्छ वृत्ति से रहता था। वह पहले पक्ष में खेत से सिल्ला

बीनकर एक द्रोण व्रीहि या चावल का सग्रह करता और दूसरे पक्ष मे उमीसे यज्ञ और अतिथि-सत्कार करता था। दुर्वासा ने दल-बल सहित पहुचकर उसका सब अन्न खा डाला। इस प्रकार छह बार परीक्षा ली। फिर भी वह विचलित न हुआ। तब दुर्वासा ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि तुम शीघ्र ही स्वर्ग जाओगे। तब देवदूत विमान होकर मुद्गल के पास आया और उससे स्वर्ग चलने के लिए कहा। ऋषि ने देवदूत से पूछा—"स्वर्ग में रहनेवालो के क्या गुण है एव स्वर्ग मे सुख और दोष क्या है।" देवदूत ने कहा—"धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, दानी व्यक्तियो को स्वर्ग मिलता है। वहा शोक और जरा नही है। जहा स्वर्ग में बहुत-से गुण है वहा दोप यह है कि स्वर्ग भोगभूमि है। वहा अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने को मिलता है, नया कर्म नही कर सकते। वहा अपने पुण्य के फल का ही व्यय करना पडता है। अत में स्वर्ग से पतन निश्चित है। ब्रह्म-लोक का यही दोप है। हा, इतना गुण अवश्य है कि स्वर्ग से लौटकर मनुष्य लोक में जन्म मिलता है। यह लोक कर्मभूमि है, स्वर्ग केवल फलभूमि है—

कर्म भूमिरिय ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता। (२४७।३५)

यह सुनकर मुद्गल ने कहा—"हे देवदूत तुम लौट जाओ। मुझे स्वर्ग नही चलना।" उसके बाद मुद्गल अपने ध्यान-योग से अनुत्तम ऋद्धि प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए।

यह छोटी-सी कथा गुप्तकाल की भागवत मनोवृत्ति की परिचायक है। ध्यान, ऋद्धि, बल, निर्वाण—महायान के इन परिभाषिक शब्दो को भागवतो ने अपने ढग से अपना लिया था। इसी प्रकरण में आहृत लक्षण शब्द आया है, जो ठेठ गुप्तकालीन सस्कृत भाषा में उत्पन्न हुआ। अमरकोष में गुणो से प्रसिद्ध व्यक्ति के लिए इसका प्र ोग हुआ है। रघुवश में (ककुत्स्थ इत्याहृत लक्षणोऽभूत्) और अजन्ता की घटोत्कच गुफा के लेख मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे इसकी गुप्तकालीन पृष्ठ-भूमि सूचित होती है। यह भी स्मरणीय है कि भारतवर्ष को कर्मभूमि कहना गुप्तकाल के वर्णनो की विशेषता थी। ब्रह्म-पुराण के अनुसार भारतवर्ष समस्त पृथिवी में कर्मभूमि नाम से ही प्रसिद्ध हो गया था (**पृथिव्या भारत वर्षं कर्मभूमि रुदाहृता**, २७।२)। जैसा इस कथा में कहा गया है इन्द्रादि देवताओ को

अमर पद की प्राप्ति भारत में किये हुए पुण्य कर्मों से मिलती थी। ब्रह्म-पुराण में भारत में निवास करनेवालो के जीवन के विविध कर्म-फलो की एक लम्बी सूची ही दी गई है, जिसकी प्रतिध्वनि व्रीहिद्रौणिक प्रकरण में पाई जाती है।

द्रौपदी-प्रमाथ

एक दिन पाण्डव द्रौपदी को आश्रम में छोडकर तृणविन्दु की आज्ञा से मृगया के लिए निकल गए। उनकी अनुपस्थिति में सिन्धु-सौवीर का राजा जयद्रथ विवाह की इच्छा से शाल्वेय जनपद को जाता हुआ अनेक साथियो के साथ काम्यक वन में आया। आश्रम के द्वार पर द्रौपदी को खडी देखकर वह मोहित होगया और शिवि देश के राजकुमार कोटिकाश्य को उसके विषय में पूछताछ करने के लिए भेजा। द्रौपदी ने स्वागत करके अपना परिचय दिया। उसने लौटकर जयद्रथ से समाचार कहा, तव वह अपनेको न सम्हाल-कर आश्रम में आया और उसने द्रौपदी से विवाह का प्रस्ताव करते हुए सिन्धु-सौवीर चलने को कहा। द्रौपदी ने तेजस्विता से उसकी भर्त्सना की, किन्तु उस दुष्ट ने वल-पूर्वक उसे पकडकर रथ पर वैठा लिया और ले चला। द्रौपदी ने करुणा भाव से पुरोहित धौम्य को पुकारा। धौम्य ने जयद्रथ को समझाने का प्रयत्न किया, पर जव कुछ परिणाम न निकला, तो द्रौपदी अत्य-धिक विलाप करने लगी और धौम्य भी पैदल ही उसके पीछे चले। पाण्डव जैसे ही लौटकर आश्रम में आये, उन्हे धात्री से सव हाल ज्ञात हुआ। उसने विलखकर कहा—"आज जयद्रथ ने द्रौपदी का धर्षण किया है। इससे पहले कि घृत-पूर्ण स्रुच की आहुति भस्म में गिरे, हविष्यान्न तुषाग्नि में फेंका जाय, यज्ञीय सोम को कुत्ता चाटे, शृगाल पद्म-पुष्करिणी में प्रवेश करे, अथवा इग्वा पुरोडाश का स्पर्श करे, तुम सव लोग सन्नद्ध होकर उस ओर जावो जिस ओर वह दुष्ट गया है।" यह सुनकर पाण्डव सर्पो के समान फुफकारकर अपने महाधनुषों को टकारते हुए उसी ओर दौडे जिस ओर सेना की धूल उठ रही थी। वाज की तरह झपटकर उन्होने अपने पराक्रम से जयद्रथ और उसकी सेना को जा पकडा। द्रौपदी ने अपने पतियो को आया हुआ देखकर जयद्रथ को फटकारा—"अरे दुरात्मन्, आज तुममें से कोई

शेष न बचेगा। भाइयोसहित धर्मराज को देखकर अब मुझे भय या व्यथा नही है।" फिर पाण्डवो का जयद्रथ से अतिघोर युद्ध हुआ। इसके अनेक वीर युद्ध में काम आये। तब जयद्रथ द्रौपदी को छोडकर अपने प्राण लेकर भागा। जयद्रथ को भागते हुए देखकर अर्जुन ने भीमसेन को रोकते हुए कहा—"अब सैन्धव सैनिको का वध मत करो। हमारे आक्रमण का लक्ष्य वही दुष्ट था।" भीमसेन ने कहा—"आप सब लोग द्रौपदी को लेकर आश्रम मे जाय। मैं उस दुष्ट को पाताल तक भी जीवित न छोडूगा।" युधिष्ठिर ने समझाया—"हे भीम, गान्धारी और उसकी पुत्री दुशला का स्मरण करके उसका वध मत करो।" किन्तु द्रौपदी ने क्रोध से जलते हुए बीच मे भीम और अर्जुन से कहा—"यदि आप लोग मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो उस कुलागार का प्राणान्त करके ही विश्राम ले। यदि वह प्राणो की भिक्षा मागे, तो भी न छोडे।" यह सुनकर युधिष्ठिर तो द्रौपदी के साथ आश्रम में लौट आये, पर भीम अर्जुन ने जयद्रथ का पीछा किया। अर्जुन ने अपने दिव्य अस्त्रो से उसके घोडो को मार डाला, तब जयद्रथ उनके भय से प्राण लेकर भागा। किन्तु भीमसेन ने दौडकर उसे पकड लिया और केश खीचकर रथ से नीचे गिरा दिया एव उसकी छाती पर घुटना रखकर उसे इतना मारा कि वह बेहोश होगया। तब अर्जुन ने भीम से कहा कि बहन दुशला के लिए उसके प्राण छोड दो। भीमसेन ने क्रोध से उत्तप्त होकर कहा—"यह पापी नराधम जीवित रहने के योग्य नही है, पर यदि राजा युधिष्ठिर सदा ही दया प्रकट करते है तो लाचारी है।" भीम ने जयद्रथ के सिर को मूडते हुए बालो की पाच लटे बना दी और कहा कि यदि तू जीवित रहना चाहे तो सभाओ में अपनेको दास कहकर पुकारना। जयद्रथ के प्राण कण्ठ में आगए थे, उसने तुरत स्वीकार कर लिया। तब भीम ने उसे बाधकर रथ में डाल दिया और आश्रम को लौट आये। युधिष्ठिर ने जयद्रथ को उस अवस्था में देखकर भीम से कहा कि इसे छोड दो। किन्तु भीम ने उत्तर दिया कि आप द्रौपदी से कहिए। युधिष्ठिर ने फिर कहा कि यदि हमारी बात का प्रमाण मानते हो तो इस अधम को मुक्त करो। द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर का रुख देखते हुए कहा—"हे भीम, महाराज के इस दास को अब छोड दो।" मुक्त होकर जयद्रथ ने युधिष्ठिर का अभिवादन किया। दयालु धर्मराज ने कहा—

"तुम अदास हुए, जाओ, फिर ऐसा मत करना। हे क्षुद्र स्त्रीकामुक, तुम्हे धिक्कार है। अपनी बुद्धि को धर्म में लगाओ, अधर्म में नही।" यह सुनकर जयद्रथ लज्जा से मुह नीचा किये वहा से चला गया। फिर वह गगा द्वार पहुचा और शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तप करने लगा। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने वरदान के लिए कहा तो उसने मागा—"मै पाचो पाण्डवो को युद्ध मे जीत लू।" शिव ने कहा—"यह नही हो सकता। तुम पाण्डवो को जीत या मार नही सकते। केवल युद्ध में उन्हे रोक सकते हो, और सो भी अर्जुन को नही।" यह सुनकर जयद्रथ अपने स्थान को लौट आया।

: ३७ :

रामोपाख्यान

जैसे युधिष्ठिर ने पहले बृहदश्व ऋषि से पूछा था कि क्या मुझसे भी अधिक दु खी और भाग्यहीन कोई राजा हुआ है, और उसके उत्तर में ऋषि ने जुए से विपत्ति में पडनेवाले राजा नल की कथा सुनाई थी, वैसे ही द्रौपदी-हरण के दु ख से दु खी युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से इसी तरह का प्रश्न किया और इसके उत्तर में ऋषि ने राम का उपाख्यान सुनाया, जिन्हे वनवास और सीताहरण का दु ख देखना पडा था।

महाभारत के रामोपाख्यान और वाल्मीकि की रामायण का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में दो मत है। याकोवी का कहना था कि रामोपाख्यान वाल्मीकि की रामायण का सक्षिप्त रूप है। हाप्किन्स दोनो के स्रोत पृथक् मानते थे। वेवर ने सर्वप्रथम १८७० में इस प्रश्न पर विचार आरम्भ किया था, पर निश्चित मत प्रकट नही किया। महाभारत के यशस्वी सम्पादक श्री सुकथनकर का निष्कर्ष है कि जहा-तहा कुछ कथाभेद होते हुए भी दोनो में ऐसा पक्का शब्दसाम्य है (जिसके ८६ उदाहरण उन्होने दिये हैं) कि रामोपाख्यान की रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई माननी पडती है।

रामोपाख्यान मे १८ अध्याय और लगभग ७०० श्लोक है। कथा का अधिकाश भाग वही है जो वाल्मीकि मे है। रामोपाख्यान में पुत्रेष्टि यज्ञ का उल्लेख नही है। जनकपुत्री सीता को अयोनिजा नही कहा गया। अयोध्या-काण्ड की कथा में कैकेयी को राजा ने केवल एक वर दिया है और उसीसे उसने भरत के लिए राज्य और राम का वनवास माग लिया है। कैकेयी की दासी मथरा को दुन्दुभी नामक गन्धर्वी का अवतार कहा गया है। स्वय ब्रह्मा ने मन्थरा को उसके कर्तव्य के विषय में लिखा-पढाकर मर्त्यलोक में भेजा था। मन्थरा ने कैकेयी को सावधान करते हुए कहा—"आज राजा ने तुम्हारे लिए बडे दुर्भाग्य की घोषणा की है। चण्डसर्प क्रोधित होकर तुम्हे डसना चाहता है। कौसल्या भाग्यशालिनी है, जिसके पुत्र का अभिषेक होगा। मन्थरा के वचन सुनकर कैकेयी ने मन में अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। किन्तु रामायण की तरह वह कोपभवन में नही जाती। वह और भी अधिक शृगार करके हँसती हुई पति से एकान्त में मिलती है और प्रेम प्रकट करती हुई मधुर वाक्य कहती है—'हे सत्यप्रतिज्ञ, आपने जो मुझे एक इच्छा-वर देने को कहा था, आज उसे पूरा करो।" उत्तर में राजा ने कहा—"तुम्हे वर देता हू, जो इच्छा हो माग लो। किस अवध्य को मैं आज वध्य बना दू और किस वध्य को आज मुक्त कर दू ? किसे सब धन दे डालू और किसका सर्वस्व छीन लू ?" यहा पूर्वापर में कुछ असामजस्य अवश्य है। राजा का कथन कोपभवनवाली कैकेयी के लिए ठीक घटित होता है, हँसकर प्रणय करती हुई कैकेयी के लिए नही। रामायण के दो वरो की अपेक्षा यहा कैकेयी एक ही वर मागने की बात कहती है, यद्यपि मागती वह यही है—'राम के लिए जो तुमने अभिषेक का साज सजाया है वह भरत को प्राप्त हो और राम वन जाय।' पिता के सत्य की रक्षा के लिए राम वन जाते है, लक्ष्मण और सीता उनके साथ जाती है। राम के वन जाने पर दशरथ शरीर छोड देते हैं। इतनी घटना के बाद कैकेयी स्वय भरत को बुलवाती है और कहती है कि अब राज्य निष्कटक हो गया है, इसे तुम ग्रहण करो। भरत उसे धनलुब्धा कहते हुए भर्त्सना करते है— "तुमने पति को मारकर कुल का नाश किया। मेरे सिर पर अयश की पिटारी गिराई। अब अपनी इच्छा पूरी करो।" इसके बाद भरत ने सबके सामने अपने चरित्र का

विशोधन किया और राम को लेने चित्रकूट पहुचे। पिता का वचन पालन करने की इच्छा से राम ने भरत को लौटा दिया। भरत राम की पादुका पूजते हुए नन्दिग्राम मे रहकर राज्य करने लगे।

राम इस आशका से कि पौर जानपद प्रजा यहा आती रहेगी शरभग के आश्रम की ओर घने जगल मे बढ गए। यह शरभगाश्रम विन्ध्याचल की पहाडी नदियो के आस-पास किसी शरभगा नदी के तट पर था, राम की दक्षिण-यात्रा में वह एक पडाव मात्र था। वहा से भी आगे बढते हुए राम गोदावरी के किनारे पहुचे। वहा जनस्थान में शूर्पणखा और खरदूषण की घटनाए घटी। राम के पहुचने से वह स्थान धर्मारण्य बन गया। शूर्पणखा ने रावण के पास जाकर पुकार की। रावण क्रोध से उत्तप्त होकर कहने लगा—"कौन ऐसा है जो तीक्ष्ण काटो की शय्या पर सोना चाहता है? कौन सिर पर अग्नि रखकर सुख से सोना चाहता है? कौन घोर सर्प को ठोकर से मारता है? कौन केसरी सिंह की दाढ उखाडना चाहता है।" यह कहते हुए उसके देहछिद्रो से लपटें निकलने लगी। मन में अपना कर्त्तव्य निश्चित करके वह समुद्र के प्रसिद्ध गोकर्ण तीर्थ में पहुचा जहा मारीच राम के डर से तपस्या कर रहा था। रावण ने मारीच से अपना विचार प्रकट किया। मारीच ने समझाया—"राम के बल को मैं जानता हू। तुम राम से मत उलझो। मैंने राम के कारण ही सन्यास ले रखा है।" तब रावण ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—"यदि तुम मेरी बात न मानोगे तब तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।" मारीच ने सोचा कि जब मरना ही है तो विशिष्ट के हाथ से मरना चाहिए। मारीच ने कहा—"मैं तुम्हारी क्या सहायता करू? परवश होने से जो कहोगे करूगा।" तब उसने मरण निश्चित जानकर अपने लिए स्वय तिलाजलि दे डाली और दु खी मन से रावण के पीछे हो लिया। रत्नो से चित्रित शरीरवाले मृग के रूप में मारीच सीता को लुभाकर राम को दूर हर ले गया। दूर निकल जाने पर राम ने उसे मायावी निशिचर के रूप में पहचान लिया और अमोघ शर से मार डाला। मरते हुए उसने, 'हा सीता,' 'हा लक्ष्मण' यह पुकार लगाई। सुनकर सीता उसी ओर दौडी, जिस ओर से शब्द आया था। लक्ष्मण ने उन्हें समझाना चाहा, किन्तु उन्होंने स्त्री स्वभाव से शुद्ध चरित्र अपने देवर

पर शका की और परुष वचन कहने लगी— "हे मूढ, तुम जो हृदय से चाहते हो वह नही होगा, चाहे मुझे शस्त्र लेकर आत्मघात करना पडे या गिरिशृग से गिरकर या अग्नि मे जीवन का अन्त करना पडे। राम को छोडकर मैं कभी तुम्हे न भजूगी।" सद्वृत्त लक्ष्मण ने ऐसे वचन सुनकर कान मूद लिये और चुपचाप जिधर राम थे उधर चल दिये। इसी बीच में भस्म से ढकी आग की तरह यति के भेष में रावण वहा आया। सीता ने फलमूल से उसका स्वागत करना चाहा, पर उसने अपना असली रूप प्रकट करते हुए सीता से अपनी भार्या बनने और लका चलने को कहा। सीता ने उसका प्रतिषेध और भर्त्संना की किन्तु वह उनके केश पकडकर आकाश मार्ग से ले चला। तब पर्वत पर निवास करनेवाले जटायु ने रावण का मार्ग रोककर कहा—"यदि तुम सीता को नही छोडते तो जीवित आगे नही बढ सकते। रावण ने खड्ग से उसके पख काट डाले और सीता को लेकर चला। सीता जहा कोई आश्रम देखती वही अपना आभूषण फकती जाती थी।

उधर लौटते हुए राम ने लक्ष्मण को देखकर कहा—"भाई, राक्षसो से भरे हुए इस वन में सीता को छोडकर कहा आगए?" लक्ष्मण ने सीता के वे अन्तिम वचन सुनाये। राम के हृदय में बडा अन्तर्दाह हुआ। वे शीघ्र आश्रम की ओर चले। मार्ग में उन्होने जटायु को क्षतविक्षत देखा और उससे सब हाल जाना। जटायु ने मरते हुए भी अपने कापते हुए सिर से दक्षिण की की ओर सकेत किया जिसका अर्थ राम ने समझ लिया। तब आश्रम में लौटकर राम ने उसे अस्त-व्यस्त पाया। दोनो भाई दण्डक वन में दक्षिण दिशा की ओर बढे। वहा उन्हे घोरदर्शन कबन्ध मिला, जिसके वक्षस्थल में आखें और उदर में बडा-सा मुख था। उसने लक्ष्मण को पकड लिया और लक्ष्मण राम को पुकारते हुए विलाप करने लगे—"हे तात, आपका राज्य-भ्रश, पिता का मरण, वैदेही का हरण और मुझपर यह सकट—हम लोगो के कष्टो का अन्त नही है।" राम ने उन्हें धैर्य बधाते हुए कहा तुम इसकी दाहिनी भुजा काट डालो, मैं बाई भुजा काटता हू। इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुए कबध ने कहा, "मैं विश्वावसु गन्धर्व था, ब्राह्मण के शाप से मुझे राक्षस की योनि मिली। लकापति रावण सीता को हर ले गया है। तुम सुग्रीव से मैत्री करो। ऋष्य

मूक शैल के समीप पपा सरोवर है। वहीं वह सचिवो के साथ रहता है। वह रावण का स्थान जानता है। मैं इतना ही कह सकता हू कि तुम्हे सीता मिलेगी।"

राम पपा के समीप आये और वहा सीता का स्मरण करके विलाप करने लगे। तब लक्ष्मण ने उन्हे समझाया—"जैसे आत्म-सयमी के लिए रोग अनुचित है वैसे ही आप के लिए इस प्रकार का भाव अनुचित है। आपको सीता और रावण का समाचार मिल ही चुका है। पुरुषार्थ और बुद्धि से कार्य कीजिए। हम सुग्रीव के पास चले। मेरे-जैसे शिष्य और भृत्य के होते हुए आप आश्वस्त हो।" इससे राम को ढाढस हुआ। तब वे दोनो ऋष्य मूक की ओर चले, जहा पर्वत के ऊपर पाच वानरो के साथ सुग्रीव रहता था। सुग्रीव ने बुद्धिशाली हनुमान को उनके पास भेजा। राम और सुग्रीव की मैत्री हुई और राम ने सुग्रीव का अभिषेक करके वालि-वध की प्रतिज्ञा की एव सुग्रीव ने सीता के पुनरानयन की प्रतिज्ञा की। राम का बल पाकर सुग्रीव ने किष्किन्धा में लौटकर वाली को ललकारा। तारा ने पति को बहुत समझाया किन्तु वाली ने ध्यान न दिया। दोनो में देर तक युद्ध होता रहा। फिर हनुमान ने पहचान के लिए सुग्रीव के कठ में माला पहना दी और राम ने वाली को अपने बाण का लक्ष्य बना दिया। वाली ने राम-लक्ष्मण को पास ही खडे हुए देखा और राम की बहुत गर्हा की। वाली के मारे जाने पर सुग्रीव ने किष्किन्धा का राज्य प्राप्त किया। राम चार मास तक माल्यवान पर्वत पर रहे।

इधर रावण ने लका में पहुचकर सीता को अशोक वन के समीप एक भवन में रखा। सीता तापसी वेश में कष्टमय जीवन बिताने लगी। पहरे पर नियुक्त राक्षसी सीता को अनेक प्रकार से दुःख देती थीं। तब कुठित होकर सीता ने कहा—"मुझे जीवन का लोभ नहीं। आप मुझे शीघ्र खा डाले या मैं ही निराहार रहकर देह को सुखा डालूगी।" यह सुनकर राक्षसी रावण को वह समाचार देने गई। केवल त्रिजटा पीछे रही। उसने सीता को सान्त्वना देते हुए कहा—"हे सीते! अविघ्य नामक वृद्ध राक्षस राम का हितू है। उसने तुम्हारे लिए सन्देश कहा है कि तुम्हारे पति राम सकुशल है और सुग्रीव से मित्रता करके तुम्हारे लिए प्रयत्नशील है। तुम रावण से भयभीत न हो।

उसे नलकूबर का शाप है। अतएव तुम सुरक्षित हो। शीघ्र ही तुम्हारे पति आयगे और तुम्हे यहा से छुडायगे। मुझे भी इसी प्रकार के स्वप्न हुए हैं।"

रामायण में केवल एक बार सीता ने हनुमान से अविघ्य का उल्लेख किया है, पर रामोपाख्यान में अविघ्य को विशेष महत्व दिया गया है और चार बार उसका उल्लेख आया है। त्रिजटा के इस उल्लेख के अतिरिक्त सीता ने भी हनुमान से अविघ्य के इस सन्देश का उल्लेख किया है। मेघनाद-बध के बाद अविघ्य रावण को रोकता है कि सीता की हत्या मत करो, और जब रावण मारा जाता है तो अविघ्य और विभीषण दोनो सीता को लेकर राम के पास आते है।

उधर काममोहित रावण अशोक वन में सीता के पास आया, श्मशान में रोपे हुए चैत्य वृक्ष की भाति अलकृत होकर भी वह भयकर लगता था। वह कहने लगा—"हे सीते! अपने पति का तुम बहुत मान रख चुकीं, अब मुझपर कृपा करो। मैं विश्रवा मुनि का पुत्र हू और पाचवा लोकपाल माना जाता हू।" यह सुनकर सीता ने उसकी ओर से मुह फिरा लिया और तृण बीच में रखकर कहने लगी—"हे राक्षसराज, मैं अभागी हू जो मुझे तुम्हारे ये वचन सुनने पडे। तुम्हारे पास सब सुख हैं। तुम्हारा भला हो। अपने मन को लौटाओ। मैं पतिव्रता हू। तुम्हारे लिए मानुषी स्त्री ठीक भी नही। तुम्हारे यशस्वी पिता प्रजापति के समान है। तुम लोकपालो के समान धर्म का पालन क्यो नही करते?" ह सुनकर रावण ने फिर कहा—"हे सीता, चाहे कामदेव मेरे अगो को भस्म कर डाले, किन्तु जबतक तुम्हारी इच्छा न होगी मैं तुम्हारा स्पर्श न करूगा?" यह कहकर वह वहा से चला गया।

उधर माल्यवान् पर्वत पर राम ने जब शरद् ऋतु का दर्शन किया तो वे सीता का स्मरण करके कहने लगे—"हे लक्ष्मण, किष्किन्धा में सुग्रीव के पास जाओ। वह ग्राम्य धर्मों में फसकर अपनी प्रतिज्ञा भूल गया है। यदि वह ऐसे ही कामसुखो में सोता रहेगा तो उसे भी बाली के मार्ग से जाना होगा। उसे शीघ्र साथ लेकर आओ।" लक्ष्मण जैसे ही किष्किन्धा के द्वार पर पहुचे, सुग्रीव ने उन्हे क्रुद्ध जानकर अपनी स्त्री के साथ स्वागत किया और कहने लगा—"हे लक्ष्मण, मै कृतघ्न नही हू। मैंने सीता को ढूढ़ने के लिए पहले से ही यत्न किया है और वानरो को सब दिशाओ

में भेजा है और एक मास मे लौटने को कहा है। अभी पाच दिन वाद महीना पूरा होगा। तव तुम राम के लिए प्रिय समाचार सुनोगे।" इससे लक्ष्मण का रोष जाता रहा और वह सुग्रीव के साथ राम के पास आये और सव समाचार कहा। इतने मे ही वानर लौटने लगे। केवल दक्षिण दिशावाले नही आये। राम उनकी प्रतीक्षा में प्राण धारण किये रहे। दो मास में वे भी लौटे और यह सूचना दी—"वालि का जो वडा मधुवन का उसमें हनुमान और अगदादि फल तोडकर खा रहे है।" यह सुनते ही सुग्रीव ने समझ लिया कि वे काम पूरा करके लौटे हैं। कृतार्थ सेवक ही ऐसी चेष्टा करते है। इतने में ही हनुमान भी वहा आ पहुचे और सूचना दी—'हम सीता को देख आये। समुद्र के पार रावण की लकापुरी में वह है।' हनुमान ने अपनी लका-यात्रा का वृत्तान्त स्वय अपने मुख मे वर्णन किया है। पर रामायण मे स्वय कवि ने ही यथास्थान उसका उल्लेख किया है। राम ने प्रसन्न होकर हनुमान की अर्चना की।

तव सुग्रीव की आज्ञा से वानरो की अपरिमित सेना वहा एकत्र हुई और समुद्र के तट पर आई। राम ने सुग्रीव से कहा कि दुस्तर समुद्र पार करने का क्या उपाय हो सकता है। हमारे पास नावें नही हैं। सेना वहुत है। हम व्यापारियो से उनकी नावे छीनकर उन्हे कष्ट देना नही चाहते। अतएव मैं समुद्र से ही कुछ उपाय पूछूगा।" तव रामचन्द्र उपवास करके सो गए। समुद्र ने स्वप्न में उन्हें दर्शन देकर कहा—"हे कौशल्या के पुत्र, मैं आपकी क्या सहायता करू ? मैं भी इक्ष्वाकु वश से उत्पन्न हू।" राम ने कहा—"हम केवल सेना के लिए मार्ग चाहते हैं। यदि ऐसा न करोगे तो अभिमन्त्रित वाणो से तुम्हे सुखा दूगा।" समुद्र ने हाथ जोडकर कहा—"मैं आपका मार्ग नही रोकता और न विघ्न करता हू, पर यदि ऐसे ही मार्ग दे दूगा तो और लोग भी मुझे धमकाकर आज्ञा देंगे। सो एक उपाय है। आपके यहा जो नल नाम का वानर हैं वह जिस शिला या काष्ठ को छू देगा उसे मैं अपने ऊपर धारण करूगा और वही सेतु का काम देगा।" समुद्र के अदृश्य हो जाने पर राम ने नल से सेतु वाधने को कहा। ऐसा ही किया गया और वह सेतु नल-सेतु नाम से विख्यात हुआ। कथा के इस रूप में राम को वाण चलाकर समद्र को क्षुब्ध करने की आवश्यकता नही पडी।

उसी समय विभीषण उनसे मिलने आया। राम ने पूछताछ करने के बाद तुष्ट होकर उसे अपने पास रख लिया और लका के राज्य का अभिषेक भी कर दिया। विभीषण के कहने से राम ने समुद्र के पार लका के उद्यानो में सेना का डेरा डाला। वही से उन्होने अगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजा। रावण की आज्ञा से उसे लका में प्रवेश करने दिया गया। उसने मन्त्रियो के बीच मे बैठे हुए रावण को राम का सन्देश सुनाया, "सीता के अपहरण में तुम अकेले अपराधी हो। उस कारण से व्यर्थ ही औरो का बध होगा। तुम सीता को छोड दो, अन्यथा इस लोक को तीक्ष्ण बाणो से राक्षसहीन बना दूगा।" ऐसे कठोर वचन रावण न सह सका और उसने सकेत किया। तुरन्त चार राक्षसो ने अगद को कसकर पकड लिया, किन्तु अगद वेग से आकाश में उछले और छूटकर राम के पास आगए। तब राम ने समस्त सैन्य बल से लका पर चढाई कर दी। लका मे अनेक प्रकार से युद्ध हुआ, जिसका रामोपाख्यान में कुछ विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार कुम्भकर्ण का वध राम ने नही लक्ष्मण ने किया। यहा लक्ष्मण के शक्ति लगने का वृत्तान्त नही है।

अन्त में राम ने रावण का वध किया और विभीषण को लका का राज्य दिया। विभीषण और अविघ्य सीता को लेकर राम के पास आये। तब राम ने सबके सामने सीता की परीक्षा लेने के लिए एक काड किया। रामोपाख्यान में अग्नि-परीक्षा के बिना ही सीता की विशुद्धि प्रमाणित की गई है। राम ने शोक से कृश जटाधारिणी सीता को सम्बोधित करके कहा—"हे वैदेही, मैं अपना कार्य कर चुका। अब तुम स्वतन्त्र हो, जहा चाहो जाओ। मैंने रावण को इसलिए मारा कि मेरे रहते हुए तुम्हे अपना वार्धक्य निशाचर के घर न विताना पडे। मेरे-जैसा धर्मज्ञ पराये के यहा गई हुई नारी को मुहुर्तभर भी नही रख सकता।" यह निष्ठुर वचन सुनकर सीता कटी हुई कदली के समान गिर पडी। जिन्होने राम का वह वचन सुना वे वानर और लक्ष्मणादि मरण-प्राय होगए। इस भीषण परिस्थिति में स्वय चतुर्मुख ब्रह्मा ने राम को दर्शन दिये। वस्तुत राम की यह निष्ठुरता इतनी अधिक थी कि जगत-स्रष्टा पितामह ब्रह्मा को उसका प्रतीकार करने के लिए कथा में कष्ट दिया गया है। दशरथ भी विमान पर बैठकर वहा आये। और भी अनेक देवता आकाश

में एकत्र हुए। सबके समक्ष सीता ने राम से कहा—"हे राज-पुत्र, मैं तुमपर क्रोध नही करती, क्योकि मै स्त्री और पुरुष दोनो की गति जानती हू।" सीता के ये वचन अत्यधिक मर्मान्तक है। इनकी तुलना में रखने के लिए दूसरा वाक्य साहित्य में सभवत न मिलेगा। फिर सीता ने प्राणो के अधिदेवता भगवान मातरिश्वा को साक्षी करके कहा—"यदि मैंने पाप का आचरण किया हो तो आप मेरे प्राण हर ले।" फिर उन्होने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाच महाभूतो को भी इसी प्रकार शपथ दिलाई। फिर आकाश-वाणी हुई। वायु ने कहा—"हे राघव, मैं सत्य कहता हू। सीता पापरहित है। तुम इसे स्वीकार करो।" अग्नि ने कहा—"मै वैश्वानर रूप से प्राणियो में रहता हू। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी सीता ने नही किया।" वरुण ने भी ऐसे ही कहा। तब ब्रह्मा ने राम को थपथपाते हुए सफाई दी—"हे पुत्र, तुम राजर्षियो का धर्म पालनेवाले हो। सदाचार के मार्ग में तुमने यदि इस प्रकार सीता की परीक्षा ली तो आश्चर्य नही। सुनो, तुम्हारे उस शत्रु रावण ने मेरी ही कृपा से अवध्य होकर कुछ कालतक वैसा अधम किया, पर वह दुरात्मा अपने ही मरण के लिए सीता को हर लाया। नल कूबर के शाप से सीता की रक्षा हुई। यदि वह दुष्ट किसी अकामा स्त्री को हाथ लगाता तो उसकी देह के सौ टुकडे हो जाते। तुम शका मत करो और सीता को स्वीकार करो।" दशरथ ने भी इसका समर्थन किया। तब राम ने उनकी बात मानकर सीता के साथ अयोध्या लौटना स्वीकार किया। राम ने कृतज्ञ भाव से अविंध्य को वर और त्रिजटा को धन और सम्मान दिया। सीता ने भी हनुमान को यह वर दिया—"जबतक लोक में राम की कीर्ति है तबतक, पुत्र, तुम जीवित रहोगे।" तब राम उसी सेतु से लौटते हुए किष्किन्धा में आये और वहा अगद को युवराज बनाया। पुष्पक विमान से जब राम अयोध्या में आ पहुचे तब उन्होने हनुमान को भरत के पास दूत बनाकर भेजा। उनके समाचार लेकर लौटने पर वह स्वय नन्दिग्राम में भरत के पास गए। उन्होंने देखा कि भरत सामने पादुक रखे हुए आसन पर बैठे है। राम-लक्ष्मण भरत-शत्रुघ्न से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। भरत ने राज्य की धरोहर राम को सौंप दी। शुभ नक्षत्र में वसिष्ठ और वामदेव ने राम का अभिषेक किया। तब राम ने सुग्रीव और विभीषण को घर जाने की आज्ञा

दी। देवर्षि नारद के साथ राम ने गोमती नदी के तट पर दस अश्वमेध-यज्ञ किये।

इतनी कथा सुनाकर मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को सान्त्वना दी—"तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो। तुम्हारे-जैसा दुःख औरों पर भी पडा है। लेकिन तुम में रत्ती भर भी पाप नही है, अतएव तुम अवश्य रण में शत्रुओं को जीतोगे।"

: ३८ :

सावित्री-उपाख्यान

जैसा श्री सुकथनकर ने लिखा है—महाभारतकार का यह असीम अनुग्रह मानना चाहिए कि उन्होंने नल-उपाख्यान और सावित्री-उपाख्यान इन दो तरल साहित्यिक अंशों को अपने महान ग्रंथ में स्थान देने के लिए मूल कथा के प्रवाह को कुछ समय के लिए रोक लिया, नही तो ये दोनों विशिष्ट कृतिया आज न जाने कहा होती। नल-उपाख्यान जैसी साहित्य की सरल और वेगवती रचना विश्व-साहित्य में कम ही है और सावित्री-उपाख्यान तो भारत के घर-घर की वस्तु है।

लम्बे रामोपाख्यान से युधिष्ठिर का चाहे जो अनुरंजन हुआ हो, किन्तु द्रौपदी के मन की सान्त्वना के लिए अभीष्ट सामग्री मानो अभीतक नही मिल पाई थी। कुशल कथाकार ने इस स्थिति को पहचानकर ही सावित्री की कथा का यहा उपयुक्त सन्निवेश किया है।

युधिष्ठिर ने पूछा—"मुझे अपना या इन भाइयो का भी उतना सोच नही है जितना द्रौपदी का। जुए के वाद के दलदल से द्रौपदी ने ही हमें उबारा। हे महामुनि क्या आपने ऐसी कोई पतिव्रता स्त्री देखी या सुनी है जैसी द्रौपदी है ?" मार्कण्डेय ने कहा—"कुलीन स्त्रियो के महाभाग्य की सीमा नही है। राजकन्या सावित्री का वृत्तान्त भी ऐसा ही है। मद्र देश में अश्वपति नामक राजा था। उसके संतान न थी। तब उसने लक्ष होम से सावित्री की उपासना की। अठारह वर्ष उसने केवल तीसरे दिन भोजन किया। तब सावित्री ने प्रकट होकर कहा—"हे मद्रराज वर मागो। मैं तुम्हारे

ब्रह्मचर्य, दम और नियम से प्रसन्न हू ।" राजा ने कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं तो वंश चलानेवाले मेरे बहुत-से पुत्र हो ।" सावित्री ने कहा—"तुम्हारी इस इच्छा को जानकर मैंने पहले ही ब्रह्माजी से पुत्र के लिए कहा था । उनकी कृपा हुई है कि एक तेजस्विनी कन्या तुम्हारे यहा जन्म लेगी । तुम उत्तर में अब और कुछ न कहना ।" देवी सावित्री के अन्तर्धान हो जाने पर राजा अपने घर लौट आया ।

कुछ समय बीतने पर उसकी ज्येष्ठ रानी ने जो मालव जनपद की राजकुमारी थी, गर्भ धारण किया । समय पर कन्या का जन्म हुआ और पिता ने उसका नाम सावित्री ही रखा । जब वह कन्या यौवनवती हुई तो उसके 'ज्वलन्त' तेज के कारण किसीने उसका वरण न किया । किसी पर्व के दिन वह अग्निहोत्र के बाद पिता के समीप आई । उसे देखकर राजा ने दुःखी होकर कहा—"हे पुत्री, यह तुम्हारे प्रदान का उचित काल है, पर कोई तुम्हें नहीं वरता । अतएव तुम अपने अनुरूप पति स्वय ढूढ लो । तुम जिसे चाहो मैं विचारपूर्वक उसे तुम्हें प्रदान करूगा ।" यह कहकर राजा ने वृद्ध मंत्रियो को उसके साथ कर दिया । वह रथ पर बैठकर राजर्षियो के तपोवनो और तीर्थों में गई ।

एक दिन राजा अश्वपति सभा में बैठे थे कि नारद आगए । उसी समय सावित्री भी लौट आई । नारद ने देखकर पूछा—"तुम्हारी यह पुत्री कहा गई थी और अब कहा से आ रही है ? यह युवती हुई । इसे पति को क्यो नहीं देते ?" अश्वपति ने कहा—"मैंने इसी कार्य के लिए इसे भेजा था । और यह अभी लौटकर आई है ।" तब पिता के अनुरोध से सावित्री ने कहा—"शाल्व देश में द्युमत्सेन नामका राजा था जो पीछे अन्धा हो गया था । उसका पुत्र अभी बालक ही था कि समीप के राजा ने पहले वैर के कारण उसका राज्य छीन लिया । इसपर वह अपने पुत्र और स्त्री के साथ वन में चला गया । वहीं उसका कुमार पुत्र युवावस्था को प्राप्त हुआ । उसका नाम सत्यवान है । उसे ही मैंने मन से वरण किया है ।" राजा के पूछने पर नारद ने बताया कि जब वह बालक था तो मिट्टी के घोडे बनाता और चित्र में भी घोडे ही लिखता था, इसलिए उसे चित्राश्व कहने लगे । वह तेजस्वी, बुद्धिमान, क्षमावान् और रूपवान् है । बस उसमें एक दोष है । एक वर्ष बाद क्षीणाय

होकर देह त्याग कर देगा। पिता अश्वपति ने यह बात सावित्री से कही और कहा—"हे पुत्री! तुम्हारे चुने हुए पति मे एक बडा दोप है। वह केवल एक वर्ष जीवित रहेगा। अतएव तुम दूसरा वर ढूढो।" सावित्री ने उत्तर दिया—"तीन बाते केवल एक बार की जाती है। पैतृक सम्पत्ति का भाग जिसके पास जाना होता है एक बार ही जाता है। कन्या भी एक ही बार दी जाती है। 'मै दान देता हू' इस वाक्य का भी उच्चारण एक ही बार किया जाता है। दीर्घायु हो या अल्पायु, सगुण हो या निर्गुण, अपना पति मै एक बार चुन चुकी। अब दोबारा नही चुनूगी। मन से निश्चय करके तब वाणी से कहा जाता है और फिर उसीके अनुसार कर्म किया जाता है।" उसका यह उत्तर सुनकर नारद ने कहा—"सावित्री की बुद्धि-स्थिर है। उसे इस धर्म-मार्ग से विचलित नही किया जा सकता। सत्यवान-जैसे गुण दूसरे में नही हैं। अतएव उसे ही कन्या देना मुझे उचित लगता है।" राजा ने इसे स्वीकार किया। नारद ने आशीर्वाद दिया और चले गए—

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव।
साधयिष्यामहे तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः॥

(२७८।३१)

सावित्री की कथा मे नारदजी के सवाद के बाईस श्लोक गुप्तकाल में जोडे हुए ज्ञात होते है। ऊपर के श्लोक मे साधयिष्यामहे (हम जायगे) पद इसकी ओर सकेत करता है। 'साध्' धातु का इस अर्थ में प्रयोग ठेठ गुप्त-काल की भाषा में आता है। कुमारगुप्त के समय के (पाचवी शती) चतुर्भाणी नामक ग्रथ में अनेक बार इस धातु का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। आरण्यक पर्व के ऊपरलिखित श्लोक से मिलता हुआ प्रयोग रघुवश में कालिदास ने भी किया है—'**साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते**।' इन श्लोको को यदि निकाल दिया जाय तो २७८।१० की सगति २७९।१ श्लोक से जुड जाती है।

तब राजा अश्वपति ने द्युमत्सेन के आश्रम मे जाकर विधिवत् अपनी कन्या सत्यवान् को अर्पित की। अपने पिता के लौट जाने पर सावित्री ने सब आभूषण त्यागकर अरण्यवास के योग्य वल्कल धारण कर लिया

और अपने सास-ससुर एव पति को परिचर्या से सन्तुष्ट किया। आश्रम में रहते हुए समय बीतता गया, पर सावित्री को सोते-जागते नारद का वह वाक्य याद रहता था। जब वह समय निकट आया और जब उसने जाना कि चौथे दिन पति की मृत्यु होगी तो उसने तीन दिन का निराहार व्रत किया और रात दिन जागती रही। वधू के उस नियम से राजा द्युमत्सेन को दुःख हुआ और उसने सावित्री से कहा—"तुमने यह अत्यन्त कठोर व्रत आरम्भ किया है। तीन रात्रि का उपवास परम दुष्कर होता है।" सावित्री ने उत्तर दिया—"हे तात, आप चिंता न करे, मैं इस व्रत को पूरा कर लूगी। मैंने ऐसा ही निश्चय किया है और इसका हेतु है।" द्युमत्सेन ने कहा—'तुम व्रत तोड दो।' यह कहना उचित नही है। मुझे यही कहना चाहिए कि तुम्हारा व्रत पूर्ण हो।" यह कहकर द्युमत्सेन चुप होगए, किन्तु सावित्री ने अगले दिन भर्तृ-मरण का सोच करते हुए बडी कठिनाई से वह रात्रि खडे-खडे विताई। उसका शरीर काष्ठ-जैसा होगया।

अगले दिन जबतक सूर्य आकाश में चार हाथ ऊचे उठें उससे पहले ही उसने अग्निहोत्र करके सब ब्राह्मणो से एव सास-ससुर से सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद प्राप्त किया और ध्यान-योग मे लीन होकर उस मूहूर्त की प्रतीक्षा करने लगी। तब उसके सास-ससुर ने एकान्त मे कहा—"तुमने विधिवत् अपना व्रत पूरा कर लिया, उसके पारण का समय है, अब आहार करो।" सावित्री ने कहा—"मेरा सकल्प है कि सूर्य के अस्त होने पर भोजन करूगी।" उसी समय सत्यवान् कधे पर कुल्हाडा रखकर वन के लिए चला। सावित्री ने कहा, "आप अकेले न जाय, मैं साथ चलूगी। आज आपको छोडने का मन नही है।" सत्यवान् ने विस्मित होकर कहा—"पहले तो तुम कभी साथ नही चली, और फिर आज तो व्रत और उपवास से क्षीण हो, पैदल कैसे चलोगी?" सावित्री ने कहा—"उपवास से मुझे कोई कष्ट या थकावट नहीं है। आज चलने में मेरा उत्साह है, आप मुझे न रोकें।" सत्यवान् ने कहा—"तुम्हारे उत्साह को देखकर मैं तुम्हारी बात मानूगा, पर गुरुजनो से पूछ लो जिससे दोष न लगे।" महाव्रता सावित्री ने सास-ससुर के पास जाकर कहा—"फलाहार पर रहने वाले मेरे पति महावन में जा रहे है, मैं उनके साथ जाने के लिए आर्या और श्वसुर की आज्ञा चाहती

हू। आज मेरे पति किसी बडे अग्नि होत्र के लिए समिवा लाने वन में जा रहे हैं। आप उन्हे कृपया रोके नही। लगभग एक वर्ष से कुछ कम हुआ मैं भी आश्रम से निकली नही। कुसुमित वन को देखने का मुझे कुतूहल है।" द्युमत्सेन ने कहा—"जस दिन से यह पुत्रवधू होकर मेरे यहा आई है, आज-तक इसने कुछ नही मागा, अतएव इसकी यह इच्छा पूरी हो। पर हे पुत्रि, सत्यवान् की मार्ग में सावधानी रखना।" इस प्रकार आज्ञा पाकर वह पति के साथ हसती हुई, पर हृदय में चिन्तित, वन को गई। उस महूर्त की आशका से उसका हृदय टूक-टूक हुआ जाता था।

पत्नी के साथ सत्यवान् ने फलो से कावर भर ली (कठिन पूरयामास) और तव लकडी फाडने लगा। उसे पहले स्वेद हुआ और फिर सिर में वेदना उत्पन्न हुई। श्रम से थककर उसने पत्नी से कहा—"इस व्यायाम से मेरा सिर दुखने लगा है। हे सावित्री, मेरे अग और हृदय में पीडा है। मेरे सिर में जैसे शूल गड रहा हैं। मैं सोना चाहता हू।" सावित्री ने भूमि पर बैठकर पति का सिर गोद में रख लिया। थोडी देर में उसने पीला वस्त्र पहने हुए और हाथ में पाश लिये हुए लाल-लाल आखोवाले एक भयावह पुरुप को देखा। वह सत्यवान् के समीप खडे होकर उसीको ताक रहा था। उसे देखते ही सावित्री ने सहसा उठकर हाथ जोडकर कापते हुए जी से कहा—"आप देवता ज्ञात होते है। कहिए कौन है और क्या करना चाहते है?" यम ने कहा—"हे सावित्री, तुम पतिव्रता और तपविस्नी हो, इसलिए मैं तुमसे भापण करूगा। मैं यम हू। सत्यवान् की आयु क्षीण हो चुकी है, इसे मैं वाधकर ले जाना चाहता हू। यह धर्मात्मा और गुणी है, अतएव इसे लेने के लिए मेरे पुरुप नही आये, मैं स्वय आया हू।" यह कहकर यम ने सत्यवान् के शरीर से अगुष्ठमात्र पुरुप को अपने पाश में वाधकर खीच लिया। इससे सत्यवान् का स्थूल शरीर प्राणो के निकल जाने से शव की भाति निस्तेज और क्रियाहीन होगया।

यम उसे वाधकर दक्षिण की ओर ले चले, और दु खभरी हुई सावित्री उनके पीछे चली। यम ने उससे कहा—"हे सावित्री, लौट जाओ और अपने पति की और्ध्वदेहिक क्रिया करो। पति से उऋण होने के लिए जितना सम्भव था तुमने किया।" सावित्री ने उत्तर दिया—"जहा मेरे पति को

आप ले जा रहे है मैं भी वही जाऊगी। यही धर्म का शाश्वत विधान है। तप से, गुरुजनो की सेवा से, पति के स्नेह से, व्रत पालन से, और आपकी कृपा से मेरी गति अकुठित है। तत्वदर्शियो का कहना है कि जिसके साथ सात पद चल लिया जाय उससे सख्य सवध जुड जाता है। इसी मित्रता के नाते आपसे कुछ कहती हू, सुनिए।"

इसके वाद यम और सावित्री का एकत्तीस श्लोको में लम्वा कथोपकथन पाया जाता है जो प्राचीन छन्दो मे और वहुत ही उदात्त धरातल पर है।

सावित्री—"जिन्होने आत्मा को वश में नही किया वे वन में रहकर अरण्यवास, धर्माचरण या तप नही कर सकते। विज्ञान से धर्म की प्राप्ति कही जाती है, इसलिए सन्तो ने धर्म को प्रधान माना है। सज्जन जिसे धर्म कहते है, एक व्यक्ति भी यदि उसका पालन करे तो और सव भी उस मार्ग में लग जाते है। दूसरे या तीसरे मार्ग की वाछा नही करनी पडती। इसलिए मन्तो ने धर्म को ही मुख्य माना है।"

यम—"तुम लौट जाओ। स्वर, अक्षर, व्यजन और हेतु से युक्त तुम्हारी इस वाणी से मै प्रसन्न हू। इसके जीवन को छोड़कर और जो मागोगी, दूगा।"

सावित्री—"अपने राज्य से च्युत, वनवास मे आये हुए जो मेरे अधे ससुर है वह आपकी कृपा से पुन चक्षुष्मान्, वलवान् और राजा हो जाय।"

यम—"यह वर मैंने दिया। जैसे तुमने कहा वैसा होगा। मार्ग की थकावट तुममें आगई है, अव लौट जाओ।"

सावित्री—"पति के समीप मुझे श्रम कैसा ? जहा पति वही मेरी गति निश्चित है। जहा पति को ले जायगे वही मुझे भी जाना है। और भी कृपाकर सुनें। सज्जनो से एक वार सगति होना भी वडा लाभ है। उसके वाद तो वे मित्र हो जाते हैं। सत्पुरुष की सगति निष्फल नही होती।"

यम—"तुमने मनोनुकल, बुद्धियुक्त वचन कहा है, सत्यवान् के जीवन के अतिरिक्त और कोई दूसरा वर माग लो।"

सावित्री—"मेरे ससुर का जो राज्य पहले छिन गया था उसे वह

फिर पा लें, और अपने धर्म पर आरूढ रहें, यही मैं आपसे दूसरा वर चाहती हू ।"

यम—"राजा द्युमत्सेन शीघ्र फिर अपना राज्य पायगा और स्वधर्म में भी आरूढ रहेगा । हे राजकुमारी, मैंने तुम्हारी इच्छा पूरी की अब लौट जाओ, जिससे थको नही ।"

सावित्री—"आपने इन प्रजाओ को अपने नियम से बाध रखा है । उसी नियम के अनुसार आप इन्हें ले जाते हो, कुछ मनमानी इच्छा से नही । इसलिए हे देव, आप यम कहलाते हो ।"

यम—"जैसे प्यासे के लिए पानी प्रिय होता है वैसे तुम्हारा यह वाक्य मेरे लिए है । सत्यवान् के जीवन को छोडकर जो इच्छा हो वर मागो ।"

सावित्री—"पृथ्वीपति मेरे पिता पुत्रहीन है । उन्हे सौ औरस पुत्रो की प्राप्ति हो, जिनसे उनकी कुल-वृद्धि हो । यह तीसरा वर मागती हू ।"

यम—"तुम्हारे पिता के सौ तेजस्वी और वशकर्ता पुत्र हो । तुम्हारी इच्छा पूरी की, अब लौट जाओ । तुम मार्ग मे दूर तक चली आई ।"

सावित्री—"पति की सन्निधि में मुझे यह कुछ दूर नही लगा । मेरा मन तो और भी दूर तक जा रहा है । अब आप कृपया मेरी एक बात और सुनें । आप विवस्वान् के प्रतापी पुत्र है, इसीलिए वैवस्वत कहलाते है । आपने शम और धर्म से प्रजाओ को सदा प्रसन्न रखा है । यही आपकी धर्मराजता है । अपने में भी मनुष्य को उतना विश्वास नही होता जितना सज्जन में । इसलिए सन्तो से सब प्रीति चाहते है ।"

यम—"हे शुभे , तुमने जैसा वचन कहा है आज तक मैंने नही सुना । इससे मैं तुष्ट हुआ । इसके जीवन के बिना जो चाहो चौथा वर मागो और चली जाओ ।"

सावित्री—"सत्यवान् से मुझे वशवृद्धि करनेवाले सौ पुत्रो की प्राप्ति हो, यही चौथा वर मागती हू ।"

यम—"हे अबले, तुम्हें बल-वीर्यशाली सौ पुत्रो की प्राप्ति होगी । तुम्हें अब और खेद न हो, इसलिए लौट जाओ ।"

सावित्री—"सन्तो की धर्मवृत्ति शाश्वती होती है । सन्त कुण्ठित या व्यथित नही होते । सन्तो की सगति निष्फल नही होती । सन्तो से कोई

भय नहीं है। सन्तों के सत्य से ही सूर्य गतिमान् है। सन्तो के तप से भूमि ठहरी है। सन्त भूत और भविष्य की गति हैं। सन्तो के मध्य में कोई अवसाद नही होता। सत्पुरुषो की प्रसन्नता व्यर्थ नही होती। उनके साहचर्य से न इष्ट की अर्थ हानि होती है न सम्मान की। सतो का यह नित्य का स्वभाव है, इसलिए सन्त सदा रक्षक ही होते हैं।"

यम—"जैसे-जैसे तुम यह धर्म-परायण मनोकूल अर्थ-सम्पन्न वचन कहती हो, वैसे-वैसे मुझे तुम्हारे प्रति भक्ति बढती जाती है। हे व्रतचारिणी, और कोई विलक्षण वर मागो।"

सावित्री—"जैसे अन्य वर आप दे देते है वैसे सुकृत के बिना मोक्ष आप किसीको नही देते। अतएव मै यही वर मागती हू कि सत्यवान् जीवित हो जाय, क्योंकि पति के बिना मै भी मरी हुई ही हू। भर्त्ता के बिना न मैं सुख चाहती हू न स्वर्ग, न राज्यश्री और न जीवन। आप ही मुझे शतपुत्रवती होने का वर दे चुके है और फिर मेरे पति को ले जा रहे हैं। मै यही वर मागती हू कि सत्यवान् जीवित हो और आपका वचन सत्य हो।"

उसके यह वचन सुनकर वैवस्वत यम ने 'तथास्तु' कहकर पाशो को मुक्त कर दिया और प्रसन्न होकर सावित्री से कहा—"हे भद्रे! मैं तुम्हारे पति को छोडा, अब यह स्वस्थ होकर सफल मनोरथ और दीर्घायु होगा। सत्यवान् से तुम्हें जिन सौ पुत्रो की प्राप्ति होगी, वे सब क्षत्रिय राजा कहलायगे और पुत्र-पौत्रो से युक्त होकर तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगे। तुम्हारे पिता से मालवी नामक माता के जो सौ पुत्र होगे वे मालव कहलायगे।" सावित्री को वर देकर यम अपने लोक को चले गए और उधर सावित्री अपने पति के पास लौट आई। तभी सत्यवान् फिर होश में आकर उठ बैठा।

यहा सावित्री के जिन पुत्रो का उल्लेख है वे सावित्रीपुत्रक नाम से प्रसिद्ध हुए। कर्ण पर्व (४।४७) में और पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी गणराज्य के रूप में उनका उल्लेख आया है। सावित्री और सत्यवान् के पुत्र-पौत्रों के जो कुटुम्ब फैले उन्होने अपने छोटे गणराज्य की स्थापना की और उसीका यह नाम पड़ा। 'पुत्र' शब्द यहा 'स्यात' या 'कबीले' का वाचक है, जैसा पजाब के अरोडे खत्रियो में केहरपोत्रे, चननपोत्रे आदि जाति

नामो में देखा जाता है। विवाह के समय सावित्री और सत्यवान् राज्य से निर्वासित थे। विवाह हो जाने पर जब उनके दिन फिरे तो मद्र और शाल्व दोनो ने अपनी-अपनी सैनिक टुकडिया सहायता के लिए उन्हें दी। उन्हींसे मद्रकारा और शाल्वसेनय इन दो छोटे राज्यो की और नींव पडी। ज्ञात होता है कि पजाब के सावित्रीपुत्रको में ही सावित्री और सत्यवान् का यह महद् उपाख्यान जातीय पवाडे के रूप मे सुरक्षित चला आता था। जहा से वह महाभारत में अन्तर्भुक्त हुआ। कठ चरण ने, जो कि विशेषत मध्य पजाब में ही था, इसीसे मिलती-जुलती यम के वरदानो की कहानी कठोपनिषद् मे सुरक्षित रक्खी है। उस कथा की पृष्ठभूमि में भी यम के दिये हुए वरदान महत्वपूर्ण अभिप्राय के रूप मे हैं।

इधर जब सत्यवान् को फिर होश हुआ तो वह सावित्री को साथ लेकर आश्रम को लौट आया। वहा द्युमत्सेन को पहले ही दृष्टि प्राप्त हो गई थी। उनके और अरण्य के साथी ऋषियो के प्रश्न करने पर सावित्री ने वह सब वृत्तान्त सुनाया। मार्कण्डेय ने कथा का उपसहार करते हुए कहा—"जैसे सावित्री ने अपने माता-पिता, सास-ससुर और पति कुल का उद्धार किया वैसे ही कल्याणमयी द्रौपदी अपने शील से आप सबका उद्धार करेगी।"

: ३९ :

कुण्डलाहरण

आरण्यकपर्व के अन्त मे दो छोटे पर्व और शेष रहते है। पहले का नाम है कुण्डलाहरण पर्व और दूसरे का आरणेय पर्व। पहले मे इन्द्र द्वारा कर्ण के कुण्डल मागने की कथा है और प्रसगोपात्त कुन्ती द्वारा सूर्य से देवो का आह्वान मत्र प्राप्त करने और कौमार अवस्था में कर्ण को जन्म देने की कथा है। दूसरे मे एक ब्राह्मण की अग्नि-मन्थन करनेवाली अरणी के मृग द्वारा हरण के प्रसग में यक्ष-युधिष्ठिर के मुख से प्रश्नोत्तर के रूप में अति विचित्र ब्रह्मोद्य चर्चा है।

कुण्डलाहरण पर्व एक ऐसे वीर की गाथा है, जिसका अतिमानवी चरित अपना सादृश्य नही रखता। यदि पाचो पाण्डवो को एक में मिला-

दिया जाय तो उस गुण समष्टि की तुलना मे अकेले कर्ण का प्रखर व्यक्तित्व बराबर ठहरता है। कर्ण पुरुषार्थ की प्रतिमा है। पर उच्च कुल में जन्म लेने की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त न होने के कारण उन्हे भाग्य की थपेडे सहनी पडी, पर उसका देवतुल्य व्यक्तित्व सदा ही ऊपर उभरता हुआ दिखाई देता है। जिस सूर्य के अश से उसने जन्म लिया था, वह भी उसे सत्य-पथ से विचलित नही कर सका। भाग्य की दूकान पर ठगे हुए निपराध सत्पुरुष के रूप में कर्ण की करुण मुद्रा महाभारत के वीर पाठक के सामने यदा-कदा आती है।

इन्द्र ने लोमश के द्वारा युधिष्ठिर के पास सन्देश भेजा कि तुम जिस बात से सदा डरते रहते हो और किसीसे कहते नही मैं उस भय को दूर करूगा। उस भय का कारण कर्ण ही था। जब पाण्डवो के प्रवास के बारह वर्ष पूरे होने को आये और इन्द्र ने यह सोचा कि अर्जुन का मार्ग निष्कण्टक करने के लिए कर्ण के अमृत-निर्मित कुण्डल माग लावें तो स्वप्न में सूर्य ब्राह्मण के वेश में कर्ण के पास पहुचे और कहा—"हे महाबाहु, तुम्हारे कुण्डल लेने की इच्छा से इन्द्र कपटी ब्राह्मण के वेश में तुम्हारे पास आयगा, किन्तु तुम देना नही। तुम्हारे कुण्डल और कवच अमृत से उत्पन्न हुए है। उनके कारण तुम अवध्य हो।" इस चेतावनी का कर्ण पर कोई प्रभाव न हुआ। कर्ण ने अपने यश की रक्षा के विषय मे दृढ निश्चय प्रकट किया। सूर्य ने कर्ण को फिर बहुत भाति से समझाया और कहा—"हे तात ? यदि तुम इन्द्र को कुण्डल देना ही चाहो, तो तुम भी इन्द्र से शत्रुओ का नाश करनेवाली एक अमोघ शक्ति माग लेना। मुझे तुमसे और भी कुछ दैवी गुह्य बात कहनी है, पर उसे तुम स्वय समय पर जानोगे। जबतक तुम्हारे कानो मे कुण्डल है स्वय इन्द्र भी बाण बनकर आजाय तो अर्जुन तुम्हे नही जीत सकता।" कर्ण ने जो स्वप्न देखा था वह उनके प्रत्यक्ष होने की प्रतीक्षा करने लगा।

बीच में ही जनमेजय ने उस गुह्य बात के विषय में भी प्रश्न कर दिया जिसका सूर्य ने सकेत किया था। उत्तर में वैशम्पायन ने कौमार अवस्था में कुन्ती के गर्भ से कर्ण के जन्म की कथा कही। कुन्ती वृष्णि-वश मे उत्पन्न शूर की पुत्री एव वसुदेव की बहन थी। बालापन में ही उसके पिता ने उसे राजा कुन्तिभोज को गोद दे दिया था। जब वह युवती हुई तब कुन्तिभोज

के यहा एक परम तेजस्वी ब्राह्मण आया। पिता ने कुन्ती को यह भार सौंपा कि वह ब्राह्मण की सेवा में नियत रहे। रूप और यौवन-सम्पन्न कुन्ती के लिए यह टेढा काम था और पिता ने भी न जाने मन में क्या सोचकर उसे इस नियोग में लगाया था। यह स्पष्ट तो नही कहा गया किन्तु घुमा फिरा कर लगभग तीस श्लोको में उसने बार-बार उस तेजस्वी ब्राह्मण की सेवा के लिए कुन्ती को प्रेरित किया। वह ब्राह्मण एक वर्ष वहा रहा। कुन्ती ने शिष्य की भाति, पुत्र की भाति और बहन की भाति उसकी सेवा की, जिससे ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। ब्राह्मण ने चलते समय कुन्ती से वर मागने को कहा। कुन्ती ने सहज भाव से कहा—"मुझे वर नही चाहिये। आप प्रसन्न हुए, पिता प्रसन्न हुए, यही मेरेलिए सब कुछ है।" ब्राह्मण ने कहा—"यदि तुम वर नही चाहती तो देवताओ को बुलाने का यह मत्र सीख लो। जिस-जिस देव का इस मत्र से आह्वान करोगी वह अकाम या सकाम किसी भी भाव से तुम्हारे वश में हो जायगा।" कुन्ती ब्राह्मण के इस आग्रह को टाल न सकी और वह अथर्व के उस मत्र को देकर चला गया। कुछ समय बीतने पर कुन्ती ने उस मत्र के प्रभाव की सत्यता जाननी चाही। दैवयोग से वह उसी समय ऋतुमती हुई और उसने सन्ध्याकालीन सूर्य को देखकर उसका आवाहन किया। योगबल से सूर्य ने मानव का शरीर धारण किया और कुन्ती के पास आये। कुन्ती ने कहा—"मैंने तो कुतूहल-वश तुम्हें बुला लिया था, पर सूर्य न माने और उससे आत्म-प्रदान करने के लिए आग्रह करते हुए कहा,–"यदि तुम ऐसा न करोगी तो मैं क्रुद्ध होकर तुम्हें और तुम्हारे पिता को भस्म कर दूगा और ब्राह्मण को भी जिसने तुम्हें मत्र दिया था।" कुन्ती ने बहुत भाति टालना चाहा, किन्तु सूर्य न माने और उसे यह विश्वास दिलाया–"इससे तुम्हे अधर्म न होगा। तुम बाद में कन्या बनी रहोगी और तुम्हें महाबली पुत्र होगा। तुम्हारे पुत्र को अमृत-मय दिव्य कवच और कुण्डल प्राप्त होगे। देवता-माता अदिति ने मुझे वे कुण्डल दिये थे, वे मैं उसे प्रदान करूगा।" इस प्रकार कुन्ती सूर्य के तेज से विह्वल होगई।

सावधान पाठक को इस कथा में दो स्तर स्पष्ट दिखाई पड़ते है। एक मानव शरीरधारी ब्रह्मण के साथ कुन्ती के परिचय का और दूसरा मत्रबल

से आहूत सूर्य का। सूर्य के कथाभाग में गमनार्थक 'साधयिष्यामहे' 'साधयिष्यामि' दोनो प्रयोग आये हैं जो भाषा के आधार पर इस प्रकरण के स्तर को सूचित करते हैं। ज्ञात होता है कि कुन्ती के चरित्र की विशुद्धि के लिए भागवतों द्वारा इस प्रकार के अधिक कथांश की रचना की गई।

समय पर गर्भ के लक्षण प्रकट हुए, पर कुन्ती ने अपनी धात्री के सिवा और सबसे उन्हें छिपाया। जन्म के बाद ही बालक को अपनी धात्री की सलाह से एक मंजूषा में रखा और उसके ऊपर मोम का खोल चढ़ाकर ढक्कन बन्द कर दिया और उसी प्रदेश की अश्व नदी में बहा दिया, पुत्र को इस प्रकार प्रवाहित करते हुए उसके हृदय में मातृत्व स्नेह उमड आया और उसने रोते हुए कहा—"हे पुत्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के प्राणियो से और जलचरो से तुम्हारा रक्षा हो। तुम्हारे मार्ग मे कल्याण हो (शिवास्ते सन्तु पन्थानः)। जल मे वरुण, अन्तरिक्ष में पवन और द्युलोक में तुम्हारे पिता सूर्य तुम्हारी रक्षा करें। वह स्त्री धन्य होगी, तुम जाकर जिसके पुत्र बनोगे और जिसका स्तन्यपान करोगे।" नारी में जो शाश्वती माता छिपी है उसके करुण विलाप का यह नमूना है। मंजूषा विसर्जन करके धात्री के साथ कुन्ती राजभवन में लौट आई। बहती हुई मंजूषा अश्व नदी से चर्मण्वती (चम्बल नदी) में, चम्बल से यमुना मे और यमुना से क्रमश वहा पहुची जहा अगदेश की राजधानी चम्पापुरी थी। उसी समय धृतराष्ट्र का मित्र अधिरथ सूत अपनी पत्नी राधा के साथ गगातट पर आया था। उन्होंने उस मंजूषा को खोलकर देखा और बालक को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। ब्राह्मणों ने उसका नाम वसुषेण या वृष रखा। जब वह पुत्र बडा हुआ तब अधिरथ ने उसे हस्तिनापुर भेज दिया। वहीं उसने अस्त्रशिक्षा प्राप्त की। अर्जुन से सदा उसकी लाग-डाट रहती थी। उसके कुण्डल और कवच देखकर युधिष्ठिर के मन में दाह हुआ करता था।

मध्यान्ह काल में जब कर्ण सूर्योपस्थान करते तो बहुत-से ब्राह्मण दान लेने उनके पास आया करते थे। एक दिन देवराज इन्द्र भी ब्राह्मण का वेष बना कर आये। कर्ण ने उनकी इच्छा पूर्ण करने को कहा। ब्राह्मण ने सहज उनके कवच और कुण्डल माग लिये—"यदि आप सत्यव्रत हैं तो इन्हें मुझे दीजिए।" कर्ण ने उन्हें समझाना चाहा पर ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र न माने

कर्ण ने वे दोनो वस्तुएं उसे दे दी। इन्द्र ने भी अपने को भारमुक्त करने के लिए उसे अमोघा नाम की शक्ति दी और कहा कि जिस एक शत्रु पर इसे चलओगे उसे मारकर फिर यह मेरे पास लौट आयगी।

कुण्डलाहरण की इस कथा के साथ हमें आदि पर्व की उस कथा का स्मरण आता है जिस में उत्तक ऋषि ने गुरुपत्नी के लिए पौष्य राजा की रानी के कुडल प्राप्त किये थे। उसमे भी इन्द्र के साहचर्य और सहायता का उल्लेख आता है। इसके मूल मे कोई अध्यात्म प्रतीक ज्ञात होता है। सूर्य और चन्द्र, अग्नि और सोम, शती और उष्ण विश्व की इन दो धाराओ के प्रतीक ये अमृतमय कुण्डल है, जिनका धारण करना मध्यकालीन योगियो की परम्परा में भी आवश्यक समझा जाता था।

: ४० :

यक्ष-युधिष्ठिर-प्रश्नोत्तरी

आरण्यक पर्व के महान कथा समुद्र की अन्तिम हिलोर के रूप में यक्ष-प्रश्न नामक एक अद्भुत प्रकरण सुरक्षित रह गया है। इस यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद के अत में फलश्रुति दी हुई है। (२५८।२७, २८), जो इस बात का सकेत है कि यह प्रकरण महाभारत का मौलिक अग न था, कहीसे जोडा गया। जिस स्रोत से यह लिया गया वह लोक-साहित्य और वेद-साहित्य का समिश्रण था, जैसा कि इसमे आये हुए दो प्रकार के प्रश्नो से प्रकट होता है। उदाहरण के लिए यज्ञिय साम क्या है ? 'प्राण याज्ञिय साम है' यह वैदिक धरातल से आया हुआ प्रश्नोत्तर है। अथवा **'किं स्विदेको विचरति'** (२९, ४६) तो यजुर्वेद का **'क स्विदेकाकी चरति'** मत्र ही है। निश्चय ही इनका स्रोत वैदिक ब्रह्मोद्य या ब्रह्म-विषयक प्रश्नोत्तरमयी चर्चाए थी। दूसरा विभाग लोक-साहित्य की धारा का है, जैसे कि **'किं स्वित् सुप्तं न निमिषति** (कौन सोता हुआ पलक नही मारता ?) और उत्तर में **'मत्स्य सुप्तो न निमिषति'** (मछली सोती हुई पलक नहीं मारती, २९७। ४२, ४३), यह लोक-साहित्य से लिया गया अश है।

प्राचीन काल में यक्ष-पूजा का बहुत प्रचार था। उसका आवश्यक अग प्रश्नोत्तर या प्रश्न बझना था। ऐसे ही वेदकालीन या वैदिक ब्रह्मोद्य चर्चाओ

में भी प्रश्नोत्तर पूछे जाते थे। अश्वमेधीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत 'कः स्विदेकाकी चरति' (यजुर्वेद २३।९) इत्यादि १८ मत्रो को ब्रह्मोद्य कहा गया है। ऋग्वेद में इसी प्रकार के प्रश्नो का एक मत्र आता है। 'किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्य तिष्ठद् भुवनानि धारयन् (१०।८१।४)॥' इन प्रश्नो का उत्तर इस प्रकार दिया जाता था —'ब्रह्म तद्वन ब्रह्म उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ इस प्रकार के प्रश्नोत्तरो को ब्रह्मोद्य कहा जाता था। वेद मे जो ब्रह्मोद्य शैली थी वही लोक में यक्ष-प्रश्न की शैली थी। ब्रह्म को कालान्तर में यक्ष भी कहा गया। 'महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये' मत्र में यक्ष ब्रह्म का वाचक है। अथर्ववेद (१०।२।२८,३३) के मत्रो में स्पष्ट ही अपराजिता पुरी में रहनेवाले ब्रह्म नामक यक्ष का उल्लेख आया है। यहा भी यक्ष को अपराजित कहा गया है। शान्ति पर्व (मोक्ष धर्म १७१।५२) में अपराजिता पुरी को अवध्य ब्रह्मपुर कहा है जहा ब्रह्मपुर का तात्पर्य यक्षपुर ही है जिसमे राजा (अर्थात् यक्ष) सुख से निवास करता है। केनोपनिषद् की कथा के अनुसार ब्रह्म ही यक्षरूप में प्रकट हुआ। लोक और वेद की यह मिलती-जुलती साहित्य-शैली किसी समय एक-दूसरे से घुल-मिल गई जिसका सबसे अच्छा उदाहरण महाभारत का यही यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद है।

यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद के १८ श्लोको में प्रश्न और १८ में ही उनके उत्तर है। महाभारतकार ने इस अंश को 'प्रश्नव्याकरण' (प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि, २९७।११) कहा है। प्रश्नो की बुझौवल का यक्ष-पूजा से घनिष्ठ सबंध था। आज भी लोक में यक्ष या देवता किसीके सिर आता है तो टपाटप प्रश्न पूछने की प्रथा है। यहा यह भी उल्लेख-योग्य है कि कुरु जनपद के लोक-साहित्य की छानबीन करते हुए इसी शैली के कुछ लोकगीत मिले हैं, जिन्हें मल्होर या गाहा कहते हैं, जैसे—

प्रश्न—   ऐ जी कौन जगत में एक है?
बीरा कौन जगत में दोय?
कौन जगत में जागता?
ऐ जी कोई कौन रह्या पड़ सोय?

उत्तर—

ऐ जी राम जगत में एक है,
बीरा चन्दा सूरज दोय।
पाप जगत में जागता,
ऐ जी कोई धरम रह्या पड सोय॥

इस प्रश्नोत्तरी के बोल प्राचीन वैदिक गाथाओ के समकक्ष हैं—

क' स्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुन ।

फिर इसका उत्तर है—

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुन ।

कौन जगत में जागता ? इसकी प्रतिध्वनि अथर्व वेद के 'क सुप्तेषु जागर्ति' वाक्य में पाई जाती है। महाभारत में यक्ष पूछनेवाला है और धर्म के प्रतिनिधि युधिष्ठिर उत्तर देनेवाले है। लेकिन वस्तुत' लोग पूछते हैं और यक्ष उत्तर देता है, यही परम्परा थी।

इन प्रश्नो की भूमिका के रूप में कहा गया है कि एक बार जब पाण्डव काम्यक वन से लौटकर द्वैतवन में बैठे थे तब किसी ब्राह्मण की अरणी हिरण के सीग मे अटक गई और वह उसे लेकर जगल में भाग गया। उसने पाण्डवों से गुहार की। उसकी सहायता के लिए युधिष्ठिर और चारो भाई अस्त्र लेकर मृग की ओर दौडे, पर वह ओझल होगया। तब वे गहन वन में किसी न्यग्रोध की शीतल छाया में भूखे-प्यासे बैठ गए। उस समय नकुल ने दु खी होकर पूछा—"आजतक तो हमसे धर्म का लोप हुआ नही, आज यह हिरन बुत्ता कैसे दे गया ? युधिष्ठिर ने कहा—"आपतियो का कोई अन्त नही, उसका कारण क्या कहा जाय ? धर्म जब जैसे चाहता है पुण्य पाप का बटवारा किया करता है।" भीम ने कहा—"जब दु शासन द्रौपदी को सभा मे दासी की तरह लाया था तभी मैंने इसे न मार डाला, उससे आज हमें यह समय देखना पडा।" अर्जुन ने कहा—"सूत-पुत्र कर्ण ने जो कटीली बाते कही थी उन्हें मैंने सह लिया, इसलिए यह दिन देखा।" सहदेव ने कहा—"शकुनि ने अक्ष-द्यूत में जब तुम्हें जीता तभी उसे मैंने न मारा इसीसे यह दिन देखा।" ये वाक्य पाण्डवो की तत्कालीन विक्षुब्ध मनोवृत्ति के सूचक हैं। केवल

युधिष्ठिर के कथन में शान्त धरातल है। तब युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—"तुम्हारे भाई प्यासे हैं, वृक्ष पर चढकर देखो कि कही पास में पानी है ?" नकुल ने वैसा ही करके कहा-"हा, पानी के पास बहुत-से पेड़ दिखाई पड रहे हैं, वहा अवश्य जल होगा।" इसपर युधिष्ठिर ने उसे पानी लाने के लिए भेजा। ज्योही वह पानी लेने के लिए झुका उसने अतरिक्ष में यह शब्द सुने—'हे तात, पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो और तब जल पियो।" नकुल ने इसपर ध्यान न दिया और वह पानी पीकर वही बेहोश होगया। जब उसे देर हुई तब युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव की भी वही दशा हुई। तब अर्जुन और अन्त में भीमसेन को भेजा। जब उनमें से कोई न लौटा, तब युधिष्ठिर स्वय वहा आये और उन्होंने चारो भाइयो को वहा पडे हुए देखा। किसीके शस्त्र का कोई प्रहार नही लगा था। वे समझ गए कि किसी महद् भूत ने मेरे भाइयो की यह दशा की है। प्राचीन साहित्य में 'महत्' सज्ञा यक्ष के लिए थी। शतपथ ब्राह्मण (नामरूपे महती अभ्वे महती यक्षे), दीघनिकाय (आदिच्चुपट्ठानं महदुपट्ठान) और आदि पर्व (त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्व राजा, २१।२२) में महत् शब्द से यक्ष का ही अभिप्राय है। युधिष्ठिर जल पीने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने सामने एक बगले को यह कहते हुए सुना—"पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो, पीछे जल पीना।" पश्चिमी जगत में जो यज्ञिय पात्री (Holy Grail) की कथा है उसमें भी बक (अग्रेजी फिशर किग) का अभिप्राय आया है।

युधिष्ठिर ने अपने बुद्धि-बल से परिस्थिति को ताड लिया कि यह कोई जलचर पक्षी नहीं, कोई महान् देवता है। केनोपनिषद् में यक्ष का जैसा महिमाशाली स्वरूप है उसीकी कल्पना करते हुए उन्होंने कहा—"रुद्र, वसु, मरुत्, इनमें से आप कौन है ? हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य और मलय ये चार पर्वत भी आप के उच्च तेज के सामने धरती में पडे है। आपका कर्म भी देव, गन्धर्व, असुर, राक्षस सबसे अधिक है, आप कौन है ?" इसपर यक्ष ने स्वीकार किया—"तुमने ठीक पहचाना मैं यक्ष हू, जलचर पक्षी नही। मैंने ही इन सबको बेहोश किया है।" तब युधिष्ठिर ने यक्ष को साक्षात् अपने सामने देखा। वह महाकाय, महाबल, पर्वतोपम, ताड के समान ऊचा, अधृष्य और जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी था। वह सरोवर के सेतु पर

खड़ा हुआ था। इस वर्णन में हमें प्राचीन काल की उन महाकाय यक्ष मूर्त्तियो की झाकी मिलती है जो प्राय सरोवर या पुष्करिणी के किनारे स्थापित की जाती थी। मथुरा की परखम गाव से मिली यक्ष-मूर्ति इसका टकसाली नमूना है।

युधिष्ठिर ने सब समझकर सीधे कहा—"हे यक्ष, मैं तुम्हारे नियम को तोड़ना नही चाहता। तुम प्रश्न पूछो। मैं यथामति उत्तर दूगा।"

प्रश्न—सूर्य को कौन ऊचा ले जाता है ? उसके अभिमत साथी कौन हैं ? कौन इसे अस्त की ओर ले जाता है ? और यह किसके आलम्बन पर स्थित होता है ?

उत्तर—ब्रह्म आदित्य का उदय कराता है। देव उसके प्रिय साथी है। सत्य उसे अस्त की ओर ले जाता है। वह धर्म के धरातल पर प्रतिष्ठित होता है।

प्रश्न—किससे श्रोत्रिय होता है ? किससे महान की प्राप्ति होती है ? किससे व्यक्ति साथीवाला बनता है ? किससे वह बुद्धिमान होता है ?

उत्तर—श्रुत-ज्ञान से श्रोत्रिय होता है। तप से महान की प्राप्ति होती है। धृति से व्यक्ति साथीवाला बनता है। वृद्धो की सेवा से बुद्धिमान होता है।

प्रश्न—ब्राह्मणो में देवत्व क्या है ? इनमें भले मानसो की बात कौन-सी है ? इनमें मनुष्यपना क्या है ? इनमें कौन-सी बात पाजीपन की है ?

उत्तर—स्वाध्याय इनका देवपना है। वे तप करते है यही भले आदमियो-जैसी बात है। मर जाते है, यही इनके मनुष्य होने का प्रमाण है। जब झगड़ने लगते है यही उनका पाजीपन है।

प्रश्न—क्षत्रियो में देवत्व क्या है ? भलेमानसो-जैसी बात क्या है ? मनुष्यपने की बात क्या है ? और पाजीपन की बात क्या है ?

उत्तर—बाण चलाना ही उनकी देवतुल्य शक्ति है। यज्ञ करना भला काम है। उनमें जब भय होता है यही मानुषी भाव है। वे जब कर्म छोड़ बैठते है, वही उनका असत् रूप है।

प्रश्न—सब यज्ञो का एक साम क्या है ? सब यज्ञो में ओत-प्रोत एक यजु क्या ह ? कौन यज्ञ का तक्षण करती है ? यज्ञ किस वस्तु का अतिक्रमण नही करता ?

उत्तर—यज्ञो का साम प्राण है। यज्ञो का यजु मन है। वाक् यज्ञ का

तक्षण करती है। यज्ञ वाक् का अतिक्रमण नहीं करता।[1]

प्रश्न—ऊपर से आनेवालो में कौन श्रेष्ठ है? नीचे जानेवालो में कौन श्रेष्ठ है? प्रतिष्ठा तत्ववाले पदार्थों में कौन श्रेष्ठ है? बोलनेवालो में कौन सबसे अच्छा है?

उत्तर—ऊपर से आनेवालो में से वृष्टि उत्तम है। नीचे जानेवालो में बीज उत्तम है। प्रतिष्ठित होनेवालो में गौ उत्तम है। बोलनेवालो में पुत्र उत्तम है।

---

१. इसके पीछे त्रयी विद्या का मूल तत्व निहित है। इसमें प्राण को सामवेद, मन को यजुर्वेद और वाक् को ऋग्वेद माना गया है। प्रत्येक पिण्ड का व्यास ऋग्वेद है जिस से मूर्ति का निर्माण होता है। उसे ही वाक् कहा जाता है। पिण्ड की जो परिधि या सीमा है वही उसका तेजो मण्डल या साम है। पिण्ड के भीतर जो भरा हुआ रस तत्व है अथवा गति और स्थिति का जो सतुलन है वही यजु है। उसे यहा मन कहा है। वस्तुत वैदिक परिभाषा में मन को साम और प्राण को यजु माना गया है। इसकी व्याख्या के लिए निम्नलिखित मन्त्र देखना चाहिए —

ऋग्भ्य जाता सर्वशो मूर्तिमाहु सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्व तेज साम रूप ह शश्वत् सर्व हीय ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
(तैत्तिरीय ३।१२।९।१)

ऋक् से मूर्ति या पिण्ड का निर्माण होता है। उसीको यज्ञ का तक्षण कहा है, अर्थात् ऋग्वेद रूपी व्यास से प्रत्येक वस्तु के विस्तार का नियमन होता है। सामवेद तेजोरूप मण्डल या परिधि का निर्माण करता है और यजु वह गति तत्व या रस है जो वस्तु से परिच्छिन्न होता है। ऋक् और साम केवल आयतन, पात्र, वयोनाव, या छन्द कहे जाते है। यजुर्वेद वह तत्व है जो इस छन्द से छन्दित होता है। वही वय है जो वयोनाव रूपी आयतन में गृहीत होता है। ऋक् यजु साम के इस अविनाभत सम्बन्ध को ही त्रयी विद्या कहते है। यही केन्द्र, व्यास और परिधि का सस्थान है जिसमें केन्द्र यजु, व्यास ऋक् और परिधि साम कहलाती है इसी वैदिक तत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऊपर की प्रश्नोत्तरी कही गई है।

प्रश्न—इन्द्रिय सुखो का अनुभव करता हुआ बुद्धिमान और लोक में पूजित कौन ऐसा है जो सास लेता हुआ भी नही जीता ?

उत्तर—देवता, अतिथि, भृत्य, पितर और अपना जो पालन नही करता वह सास लेता हुआ भी मृत तुल्य है।

प्रश्न—कौन भूमि से भारी है ? कौन आकाश मे ऊचा है ? कौन वायु से शीघ्रतर है ? कौन मनुष्य से भी वली है ?

उत्तर—माता भूमि से भारी है। पिता आकाश मे ऊचा है। मन वायु से शीघ्रतर है। चिन्ता मनुष्य से भी वली है।

प्रश्न—कौन सोता हुआ पलक नही मारता ? कौन जन्म लेकर हिलता-डुलता नही ? किसके हृदय नही है ? कौन वेग से वढ जाता है ?

उत्तर—मछली सोते समय पलक नही मारती। अण्डा उत्पन्न होकर हिलता-डुलता नही। पत्थर में हृदय नही होता। नदी वेग से वढती है।[1]

प्रश्न—प्रवास में मनुष्य का मित्र कौन है ? घर में रहते हुए उसका मित्र कौन है ? रोगी का मित्र कौन है ? मरनेवाले का मित्र कौन है ?

उत्तर—सार्थ प्रवास करनेवाले का मित्र है। भार्या घर मे रहनेवाले की मित्र है। रोगी का मित्र औषध है। दान मरनेवाले का मित्र है।[2]

---

१ "अश्मनो हृदय नास्ति' इसमें वैदिक अक्षर विद्या की ओर सकेत है। हृदय या केन्द्र विद्या का नाम अक्षर विद्या है। जो वस्तु जीवित है उसमें हृदय है। अर्थात् उसके केन्द्र में अक्षर या प्राण तत्व या गति तत्व हलचल करता है। गति, आगति और स्थिति इन तीनो की समष्टि का नाम अक्षर है। गति को रुद्र या इन्द्र, आगति को विष्णु, और स्थिति तत्व को ब्रह्मा कहा जाता है। पत्थर, लोष्ठ आदि जो भूत पिण्ड हैं उनके भीतर हृदय या केन्द्र न होने का अर्थ यही है कि उनमें अक्षरात्मक प्राण व्यापार या जीवन की क्रिया नही है।

२ सार्थ का तात्पर्य सार्थवाह मण्डली से है। वे प्राचीनकाल में एक साथ व्यापार के लिए घर से वाहर निकलते थे और अपने शकटो पर यात्रा करते हुए कभी-कभी काशी,पाटलिपुत्र आदि से सहस्रो मील तक्षशिला या शूर्पारक तक चले जाते थे। उस मण्डली में सुख और दु ख के समय सार्थ के सदस्य एक

प्रश्न—कौन अकेला घूमता है ? कौन पुन -पुन जन्म लेता है ? जाडे-पाले का इलाज क्या है ? वडा थैला कौन-सा है ?

उत्तर—सूर्य अकेला घूमता है। चन्द्रमा पुन -पुन जन्म लेता है। अग्नि जाडे-पाले का इलाज है। भूमि सवसे वडा थैला है।[1]

प्रश्न—एक शब्द में धर्म का निचोड क्या है ? एक शब्द में यश क्या है। एक शब्द में स्वर्ग प्राप्त करानेवाली वस्तु क्या है ? एक शब्द में सुख क्या है ?

उत्तर—कुशलता धर्म का निचोड है। दान यश का मूल है। सत्य स्वर्ग का मूल है। शील सुख का मूल है।[2]

प्रश्न—मनुष्य की आत्मा क्या है ? दैवकृत मित्र कौन है ? मनुष्य के उपजीवन का साधन क्या है ? और मानव का सार तत्त्व क्या है ?

उत्तर—पुत्र मनुष्य की आत्मा है। पत्नी दैवकृत मित्र है। मेघ मनुष्य की जीविका है और दान मानव जीवन का सार है।

प्रश्न—सफलता के साधनो में उत्तम क्या है? घनो में उत्तम क्या है? लाभो में उत्तम क्या है ? सुखो में उत्तम क्या है ?

उत्तर—कर्म का कौशल सफलता के साधनो में उत्तम है। धनो में श्रुत या विद्या उत्तम है। लाभो में आरोग्य श्रेष्ठ है। सुखो में सन्तोष उत्तम है?

प्रश्न—लोक में सवसे वडा धर्म कौन है ? सदा फल देनेवाला धर्म मार्ग कौन है ? किसको रोककर शोक नही करना पडता ? किनकी संधि कभी पुरानी नही होती ?

दूसरे के सच्चे मित्र समझे जाते थे। तभी "सार्थं प्रवसतो मित्रम्" इस उक्ति का जन्म हुआ।

१ ये प्रश्न और उत्तर यजुर्वेद के तेइसवें अध्याय में दो-दो वार आये हैं। वहा इनका स्वरूप यह है —क स्विदेकाकी चरति क ऽउ स्विज्जन्य ते पुन । किंऽस्विद्धिमस्य भेपज किम्वावपनम् महत् ॥यजु० २३। ९, ४३॥ सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुन । अग्नि हिमस्य भेपज भूमि रावपन महत् ॥ २३।१०, ४६।)

२ दाक्ष्य या कुशलता से तात्पर्य कर्म करने के कौशल से है। उसीसे धर्म के सव मार्ग खुलते हैं।

उत्तर—दया लोक में परम धर्म है। यही धर्म-मार्ग का अक्षय फल है। मन को रोककर पीछे पछताना नही पडता। सज्जनो की मैत्री जीर्ण नही होती।[1]

प्रश्न—किसे त्यागकर मनुष्य प्रिय वनता है ? किसे न त्यागने से शोक करना पडता है ? किसे त्याग कर अर्थ प्राप्ति होती है ? किसे त्याग कर मनष्य सुखी होता है ?

उत्तर—मान को त्याग कर प्रिय, क्रोध को त्यागकर पश्चात्तापरहित, काम को त्यागकर अर्थवान और लोभ को त्यागकर सुखी होता है।

प्रश्न—किससे मनुष्य मृत समझा जाता है ? किससे राष्ट्र मृत होता है ? श्राद्ध कैसे निष्प्राण हो जाता है और यज्ञ कैसे मृत हो जाता है ?

उत्तर—दरिद्र पुरुष मृत होता है। अराजक राष्ट्र मृत होता है। विना श्रोत्रिय के श्राद्ध मृत होता है और दक्षिणा के विना यज्ञ मृत होता है।

प्रश्न—दिशा कौन-सी है ? जल किसे कहते हैं ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? श्राद्ध का ठीक काल वताओ और, हे पार्थ ! जल पीओ और ले जाओ।

उत्तर—सन्त ही वह दिशा है जहा सवके लिए गति है। आकाश ही जल का सच्चा स्रोत है जहा से वह नदी कूपादि को प्राप्त होता है। गौ ही अन्न का सच्चा निधान है। किसीसे कुछ मागना विप है। जब अच्छा ब्राह्मण मिले वही श्राद्ध का समय है। कहो यक्ष, तुम्हे ये उत्तर कैसे लगे ?

यक्ष ने कहा—"तुमने सव प्रश्नो की ठीक-ठीक व्याख्या की। अव पुरुप की व्याख्या करो और सव सम्पत्तियो का स्वामी कौन होता है वताओ।"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"अच्छे कर्म का शब्द पृथिवी को छूकर आकाश को छू लेता है। जितना उस पुण्य कर्म की ध्वनि का विस्तार होता है उतना ही पुरुष का विस्तार समझो। जिसे प्रिय-अप्रिय, सुख-दुख, भूत-

---

१ 'त्रयी धर्म सदा फल' यह कथन विशेष अभिप्राय रखता है। उस समय लोक में जो धर्म-मार्ग प्रचलित थे उनके दो मुख्य भाग थे—एक वेद मार्ग और दूसरा श्रमण धर्म। वेद-मार्ग गृहस्थमूलक होने से सदा फूलने फलने वाला समझा जाता था। श्रमण धर्म वश-वृद्धि का अन्त कर देने के कारण हेय था।

भविष्य दोनो एक से है, ऐसा समदर्शी व्यक्ति सब धनो का स्वामी होता है।"

प्रसन्न होकर यक्ष ने कहा—"अव तुम किसी एक भाई का जीवन माग लो।"

युधिष्ठिर ने औरो को छोडकर नकुल का जीवन मागा। यक्ष ने विस्मित होकर पूछा—"भीम और अर्जुन को छोडकर नकुल का जीवन क्यो चाहते हो ?"

युधिष्ठिर ने कहा—"कुन्ती का एक पुत्र मै जीवित हू। माद्री का भी एक पुत्र जीवित हो जाय, जिससे मेरा दोनो माताओ को समान समझना चरितार्थ हो।"

इस उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष ने सब भाइयो को जीवित कर दिया। अन्त में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि आप कौन हैं, आप यक्ष तो नही जान पडते, उसने कहा—"मै धर्म हू। यश, सत्य, यम, शौच, ऋजुता, ह्री, अचापल्य, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये दस मेरे शरीर है। अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच और अमत्सर ये मुझे प्राप्त करने के द्वार हैं। तुम्हें परखने के लिए मै यहा आया था और मै तुमसे प्रसन्न हुआ।"

इस प्रकार वनवास में रहते हुए पाण्डवो के बारह वर्ष पूरे हुए। जिस प्रकार उन्होंने तेरहवा वर्ष अज्ञातवास में व्यतीत किया, उसकी कथा अगले विराटपर्व में चलेगी।

(आरण्यक पर्व समाप्त)

: ४१ :

पाण्डवों का अज्ञातवास

वनवास के बारह वर्ष बीतने पर तेरहवा वर्ष पाण्डवो ने राजा विराट के यहा अज्ञातवास मे विताया, जिसकी कथा चौथे–विराट पर्व में दी गई है। इस पर्व के सरसठ अध्यायो में पाण्डवों का विराट नगर में आना, वेश वदलकर, राजा की सभा में प्रवेश करना, कीचक-वध, कौरवो द्वारा विराट की गाए पकडने के लिए आने पर अर्जुन का उनके साथ युद्ध, कौरवो की पराजय और अन्त में पाण्डवो के प्रकट होने पर अभिमन्यु का उत्तरा के साथ विवाह, ये.

ही कथा के मुख्य सूत्र हैं। उपाख्यानो के लिए यहा कोई अवसर न था।

आरम्भ में महामना युधिष्ठिर ने अर्जुन से पूछा कि तेरहवा वर्ष कहा विताना चाहिए। अर्जुन ने कहा—"कुरु जनपद के चारो ओर जो दूर-दूर तक फैले हुए रमणीय और धनधान्यपूर्ण जनपद हैं, जैसे पाचाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर आदि, उनमें से जो आपको रुचे वही एक वर्ष निवास किया जाय।" युधिष्ठिर ने इनमें से मत्स्य के जनपद और उसकी राजधानी विराटनगर को ही चुना। यह विराट उस समय मरुभूमि के उत्तरी छोर पर था, जो आजकल का वैराट है। यह अवश्य ही प्राचीन काल में महत्वपूर्ण स्थान था और शूरसेन जनपद से राजस्थान में घुसने के लिए यातायात पथ पर महत्वपूर्ण नाका माना जाता था। कालान्तर में मौर्य सम्राट अशोक ने यहीपर अपना एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया।

अव पाण्डव सलाह करने लगे कि वे अज्ञातवास में अपने-आपको किस-किस रूप में छिपावें। युधिष्ठिर ने कहा—"मैं कक नामधारी ब्राह्मण वनकर राजा की सभा में द्यूत आदि खेल खिलानेवाला (सभा-स्तार) वनूगा।" भीम ने कहा—"मैं वल्लव नाम का रसोइया वनूगा और रसोई-घर मे रहकर राजा के लिए वढिया भोजन वनाऊगा। समाज नामक उत्सवो में जो मल्ल आयगे उनके साथ कुश्ती भी करके उन्हे पछाड़ूगा। महावली वृषभ और हाथियो को वश में लाने का काम भी पडा तो करूगा।" तव युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर साभिप्राय दृष्टि से देखा। अर्जुन ने कहा—"मैं यह प्रतिज्ञा करूगा कि मैं नपुसक हू। कानो मे सुनहले कुण्डल पहनकर और सिर पर वेणी गूथकर वृहन्नडा नाम से अन्त पुर के जनो को गीत-नृत्य-वादित्र की शिक्षा देता हुआ विराट की रानियो का मन वहलाऊगा। मनुष्यो के मन-वहलाव के लिए (प्रजाना समुदाचार) इधर-उधर की वाते करके किसी प्रकार अपने-आपको छिपाने का प्रयत्न करूगा।" पूछने पर नकुल ने कहा—"मैं ग्रन्थिक नाम रखकर विराट के यहा अश्वाध्यक्ष का काम करूगा। अश्व-शिक्षा और अश्व-चिकित्सा सर्वदा मेरे प्रिय विषय रहे हैं।" सहदेव ने कहा—"मैं तन्तिपाल नाम रख कर विराट का गोसख्यक वनूगा। गायो के लक्षण, चरित्र और कल्याण के काम मुझे सुविदित है। मुझे ऐसे पूजित

लक्षण वृषभो की पहचान है जिनका मूत्र सूघ लेने से वध्या गाए भी बच्चा जनने लगती है।" तब युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखते हुए कहा—"यह हम सबके लिए प्राणो से भी अधिक प्रिय, माता की तरह परिपालनीय और ज्येष्ठस्वसा की भाति पूज्य है। यह राजपुत्री और किसी कर्म से परिचित नही। हा, माल्यगन्ध, अलकार, वस्त्रो का इसे परिचय है।" द्रौपदी ने कहा—"लोक की यह परिपाटी है कि सैरन्ध्री स्त्रिया रखैल नही होती, वे केवल दासी का काम करती है। जो अन्य स्त्रिया है वे सैरन्ध्री से भिन्न होती है। अतएव मैं सैरन्ध्री बनकर केशो का सस्कार करने का काम करूगी। राजभार्या सुदेष्णा के पास मैं रहूगी और वहा पहुचने पर वह मुझे रख लेगी।"

अपने आश्रित जनो की व्यवस्था पर विचार करते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"पुरोहित धौम्य रसोइये आदि भृत्यो को लेकर द्रुपद के यहा जाकर रहें और अग्निहोत्र प्रज्वलित रखें। द्रौपदी की परिचारिकाए भी वही जाकर रहें। कोई यह न कहे कि पाण्डव हमें विदा करके द्वैतवन से चले गए। इन्द्रसेन आदि हमारे पुत्र द्वारावती चले जाय।"

धौम्य का उपदेश

आश्रितो से विदा लेने का यह अवसर पाण्डवो के जीवन में अवश्य ही अत्यन्त मार्मिक रहा होगा। उसी समय धौम्य का भी मन भर आया और उन्होने कहा—"जो सुहृद होते है उन्हें यदि कुछ हित की बात विदित हो तो अनुरागवश अवश्य कहनी चाहिए, इसलिए मैं भी आपसे कुछ कहूगा। आप सकेत से अभिप्राय समझ ले। इसके बाद धौम्य ने सैंतीस श्लोको में राज्याश्रय में रहने की मनोवृत्ति और आचार का विवेचन किया। यह प्रकरण तत्कालीन किसी अर्थ-शास्त्र या राजशास्त्र का अश ज्ञात होता है। राजा को प्रसन्न रखना साप के खिलाने-जैसा समझा जाता था। धौम्य का यह उपदेश कुछ उसी प्रकार का है जैसा बाण ने 'हर्षचरित' में राजदरबार में रहनेवालो के विषय में लिखा है। धौम्य ने कहा—हे राजपुत्रो, राजा के यहा निवास करने की विधि (राजवसति) मैं कहता हू जिससे राजभृत्य राजकुल में पहुच कर फिर भ्रष्ट नही होते। समझदार व्यक्ति के लिए तो राजकुल में रहना कठिन ही है, और फिर सम्मान-योग्य आप लोगो के लिए

वहा अज्ञात और अमानित अवस्था में वर्ष भर का निवास कष्टकर ही होगा। वैसे तो जिसका भाग्य-द्वार खुलता है वही राजद्वार तक पहुचता है, पर फिर भी राजा का विश्वास न करना चाहिए। वहा उसी आसन या पद की इच्छा करे, जिस पर दूसरे की आख न हो। मै राजा का चहेता हू, यह सोचकर कभी राजा के निजी यान, पर्यक, पीठ, हाथी या रथ पर न बैठे। जहा बैठने से दुष्टो के मन में अपने लिए खलबली मच जाय, जहातक हो वहा न बैठना चाहिए। बिना पूछे राजा से उपदेश की बात न कहे। समय पर राजा का सम्मान करके स्वय चुप रहे। जिसका वचन मिथ्या हो जाता है ऐसे व्यक्ति से राजा द्वेष करने लगता है एव जिसका मत्र सच्चा नही बैठता वह मत्री राजा का सम्मान खो देता है। प्राज्ञ को उचित है कि राजदाराओ में और अन्त पुरचारी जनो के प्रति मैत्री का भाव न बढावे। छोटे-से-छोटे काम भी राजा की जानकारी में ही करे। तब उसे क्षति न उठानी पड़ेगी। अग्नि और देवता के समान यत्न से राजसेवा करनी होती है। सेवा में तनिक भी अनृत भाव आ जाने से फिर राजा बिना हिंसा किये नही मानता। स्वामी जैसी आज्ञा दे वैसा ही करना चाहिए। प्रमाद, अवहेलना और कोप को दूर रखे। समस्त मत्रणाओ के समय (समर्थनासु सर्वासु) हितकारी और प्रिय मत ही देना चाहिए। प्रिय की अपेक्षा भी हितकारी कहना अच्छा है। सब मामलो में और बात-चीत में राजा के अनुकूल ही रहे। जो अप्रिय और अहित हो वह न कहे। पण्डित कभी यह न सोच ले कि मै राजा का प्रिय पात्र हू। अप्रमाद और सयम से हित और प्रिय का विधान करे। कभी राजा के अनिष्ट की सेवा न करे और न उसके अहितो के साथ मेल करे। अपने पद से विचलित न हो। बुद्धि-मान को राजा के दाहिने या बाए पार्श्व में बैठना चाहिए। शस्त्रधारी रक्षको का स्थान राजा के पृष्ठ-भाग मे होता है। राजा के सामने बैठना अविहित है। राजा की उपस्थिति में किसी बडे-बूढे के साथ भी कानाफूसी करके कुछ न कहे, क्योकि राजा तो क्या अशक्त व्यक्ति को भी कानाफूसी बहुत अप्रिय लगती है। राजा की गुह्य बात और मनुष्यो से प्रकट न करनी चाहिए। राजा जिससे असूया करे उससे भाषण न करना चाहिए। अपनेको शूर या बुद्धिमान मानकर गर्वित नहीं होना चाहिए। राजा का प्रिय आचरण करने से ही व्यक्ति भोगवान बनता है। राजा से ऐश्वर्य पाकर उसके प्रिय कामो

मे अप्रमत्त होना उचित है। जिसका कोप महा अनिष्टकर और प्रसाद महाफल वाला होता है, कौन बुद्धिमान मन से भी उसका अनर्थ करना चाहेगा ? राजा के सामने होठ बिचकाना या बात कहकर उडाना ठीक नही। हास्य प्रसग आने पर जोर से नही हँसना चाहिए और न एकदम बिल्कुल गुमसुम ही हो जाना चाहिए। मृदुतापूर्वक मन्दस्मित के साथ आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए। कुछ मिलने पर जो प्रसन्न न हो, अपमान से व्यथित न हो और जो सदा चौकन्ना रहे उसे ही राजसेवा में रहना उचित है। जो अमात्य राजा या राजपुत्र के साथ जुडा रहता है वही चिरकाल तक लक्ष्मी का भाजन होता है। जो पहले राजा का कृपापात्र होकर कारणवश रोषभाजन बन जाता है, किन्तु फिर भी क्रोध नही करता वह पुन प्रसाद प्राप्त कर लेता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष में उसे राजा का गुणवादी ही होना चाहिए जो राज्य में रहकर उसका उपजीवी हो। जो अमात्य अपनी प्रार्थना के पीछे बल का प्रयोग करता है उसके प्राण सशय में पड जाते हैं। सदा अपना श्रेय देखना चाहिए, पर राजा के साथ वाद में नही आना चाहिए और न उसके शस्त्राभ्यास आदि के समय उससे आगे निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। कार्य के लिए दूसरे को आज्ञा दिये जाने पर जो अपने को सामने लाकर 'मेरेलिए क्या आज्ञा है ?' यह पूछे, वह राजा के पास रहे। राजसेवक को उष्ण या शीत, रात या दिन मे कभी भी आदेश मिलने पर विकल्प न करना चाहिए। कर्म में नियुक्त होने पर सदा अर्थशुचि रहना चाहिए। राजा के साथ बार-बार मत्रणा करते रहना भी ठीक नहीं। इस प्रकार एक वर्ष तक कही निर्वाह करके फिर आप लोग अपने राज्य को लौट आयगे।"

धौम्य की इस सीख का युधिष्ठिर ने बहुत उपकार माना और कहा— "माता कुन्ती या महामति विदुर को छोडकर और कौन हमें ऐसा सिखावन देता।" इसके बाद पाण्डव द्वैतवन से चलकर यमुना के दाहिने किनारे से आगे बढते हुए दशार्ण को उत्तर और पाचाल को दक्षिण छोडकर पैदल ही विराट की राजधानी में पहुचे। वहा एक सघन शमी वृक्ष के ऊपर अर्जुन ने अपने शस्त्रो को छिपा दिया और सबने अज्ञातवास के लिए नगर में प्रवेश किया। विराट की सभा में पहुचकर पूछे जाने पर युधिष्ठिर ने कहा—"मेरा नाम कक है। वैयाघ्रपद्य गोत्र है। मैं अक्ष-विद्या में कुशल हू। पहले युधिष्ठिर

का मित्र था। अव आपके यहा काम चाहता हू।" विराट ने उन्हे अपना सखा वनाकर पास मे रख लिया। हाथ में डोई लिये हुए रसोइये के वेश में पहुचकर भीम ने कहा—"मै पाक विद्या में निपुण हू और मुझे कुश्ती का भी शौक रहा है। हाथी और शेरो से भी लडा हू।" विराट ने उन्हे अपना महानसाध्यक्ष नियुक्त किया। घुघराले केशो का जूडा बाधे हुए द्रौपदी को सैरन्ध्री के मलिन वेश मे दूर से देखकर विराट की रानी सुदेष्णा ने वुलाकर उसका परिचय पूछा। द्रौपदी ने कहा—"आप मुझे देवी, गन्धर्वी या यक्षी न समझिए। मैं सैरन्ध्री दासी हू और केश-विन्यास एव विलेपन और माल्यग्रथन जानती हू। मै कृष्ण की पटरानी सत्यभामा एव पाण्डवो की भार्या द्रौपदी की सेवा करती थी। जहा काम मिल जाता है वही रह जाती हू। मेरा नाम मालिनी है।" रानी सुदेष्णा ने द्रौपदीको रखना तो चाहा, किंतु वह उसका रूप-लावण्य देखकर शकित होगई कि उसके कारण महल में कोई बखेडा खडा न हो जाय। द्रौपदी ने कहा, "विराट या दूसरा कोई मुझे नही पा सकता। पाच गन्धर्व मेरे पति हैं जो मेरी रक्षा करते है। मुझे कोई उच्छिष्ट न दे और पैर धोने को न कहे तो मेरे पति प्रसन्न रहते है। कोई मुझपर कुदृष्टि करेगा तो उसी रात को मेरे पति उसे ठिकाने लगा देंगे।" सुदेष्णा ने उसकी वातें मानकर अपने पास रख लिया। तव सहदेव ने गोपो के वेश और भाषा का आश्रय लेते हुए सभा में राजा से अपना परिचय दिया—"राजा युधिष्ठिर की गायो का मै गोसख्य था। तन्तिपाल मेरा नाम है। मै गोवश की वृद्धि और चिकित्सा-कर्म जानता हू। उत्तम लक्षण वाले वृषभो की मुझे पहचान है।" विराट ने उसे अपने पशु और पशुपाल सौंपकर रख लिया। तव शख की चूडिया आदि स्त्रियो के अलकार तथा कानो में ऊचे खडे कुण्डल पहने हुए अर्जुन ने सभा में पहुचकर कहा—"मैं नृत्य और गीत में कुशल हू। बृहन्नडा मेरा नाम है। मैं देवी उत्तरा का नर्तक होकर रहूगा।" राजा ने प्रसन्न होकर उसे अपने कुमारी-अन्तःपुर में भेज दिया। वहा अर्जुन सबको नृत्य गीत सिखाता था। उत्तरा की सखी और परिचारिकाए उससे वहुत स्नेह करने लगी। अन्त में नकुल ने कहा—"मैं अश्वो का स्वभाव, सिखाना, विगडैल घोडो का सुधारना और उनकी चिकित्सा का उपाय जानता हू। मेरा नाम ग्रन्थिक है।" विराट ने अपने अश्वयोजक और सारथियो को उसके हवाले करते हुए उसे रख लिया। इस प्रकार पाण्डव

अज्ञातचर्या में रहने लगे। चौथे महीने में विराट नगर में ब्रह्ममहोत्सव हुआ। ब्रह्म यक्ष की संज्ञा थी और यह यक्ष-पूजा का मेला था जो प्राचीन काल से मत्स्य जनपद की राजधानी में जुडता आ रहा था। इसमे बहुत ठाठबाट रहता और सब लोग बडे चाव से यह उत्सव मनाते थे। चारो ओर से सहस्रो मल्ल मेले में इकट्ठे हुए। उनमें से एक महामल्ल ने रगभूमि मे पहुचकर सबको ललकारा। जब उससे भिडने का किसीने साहस न किया तब विराट ने अपने सूद को उससे भिडा दिया। भीमसेन की इच्छा न थी, पर स्पष्ट निषेध न कर सका और उसने अखाडे में उतरकर फेटा कसा और उस मल्ल को ललकारा। वे दोनो साठ वर्ष के पट्ठे हाथियो के समान एक-दूसरे से लपट गए। दाव पाकर भीम ने उसे उठाकर घुमाया और दे मारा। राजा ने वही धन-मान से उसका सत्कार किया। वह कभी-कभी व्याघ्र, सिंह और हाथियो से भी उसको भिडन्त करवाता था। विशेषत अन्त पुर की स्त्रियो के मन-बहलाव के लिए सिंहो के साथ महाबली भीम की कुश्ती कराई जाती।

यो रहते हुए पाण्डवो को दस मास बीत गए। सुदेष्णा की सेवा करती हुई द्रौपदी किसी प्रकार दुख से समय काट रही थी कि विराट का सेनापति कीचक उसके रूप पर मोहित हो गया। उसने सुदेष्णा से कहा—"सुगन्धित मदिरा के समान उन्मादिनी यह देव रूपिणी कौन है ? इसने मेरे चित्त को मथ डाला है। आह ! इसका रूप कितना टटका है। यह तो मेरे गृह की शोभा बढाने के योग्य है।" सुदेष्णा से राय मिलाकर कीचक ने द्रौपदी के पास जाकर अपना वह प्रस्ताव कहा। द्रौपदी ने उत्तर दिया—"हे सूतपुत्र ! मैं तो केश-कारिणी सैरन्ध्री हू। तुम्हारे लिए अप्रार्थनीय हू। परदारा में अपना मन मत लगाओ। मेरे वीर गन्धर्व पति मेरी रक्षा करते हैं। कही तुम्हारा अनिष्ट न हो।" द्रौपदी के उत्तर से निराश होकर कीचक ने बहन से कहा—"जैसे वह मुझे मिले वैसा उपाय करो। उसके लिए कही मेरे प्राण न चले जाय।" उसे बेहाल देखकर रानी को दया आगई और उसने कीचक को सलाह दी—"तुम पूर्णिमा का उत्सव करके सुरा और अन्न तैयार कराओ। मैं उसे सुराहारी के रूप में तुम्हारे पास भेज दूगी। तब एकान्त में उसे अनुकूल करना।" कीचक ने बहन की सलाह से वैसा ही किया। रानी ने द्रौपदी को कीचक के निवास में जाने की आज्ञा दी। द्रौपदी ने स्पष्ट निषेध करते हुए कहा—"हे रानी, तुम

का मित्र था। अब आपके यहा काम चाहता हू।" विराट ने उन्हे अपना सखा बनाकर पास में रख लिया। हाथ में डोई लिये हुए रसोइये के वेश में पहुचकर भीम ने कहा—"मैं पाक विद्या में निपुण हू और मुझे कुश्ती का भी शौक रहा है। हाथी और शेरो से भी लडा हू।" विराट ने उन्हे अपना महानसाध्यक्ष नियुक्त किया। घुघराले केशो का जूडा बाधे हुए द्रौपदी को सैरन्ध्री के मलिन वेश में दूर से देखकर विराट की रानी सुदेष्णा ने बुलाकर उसका परिचय पूछा। द्रौपदी ने कहा—"आप मुझे देवी, गन्धर्वी या यक्षी न समझिए। मैं सैरन्ध्री दासी हू और केश-विन्यास एव विलेपन और माल्यग्रथन जानती हू। मैं कृष्ण की पटरानी सत्यभामा एव पाण्डवो की भार्या द्रौपदी की सेवा करती थी। जहा काम मिल जाता है वही रह जाती हू। मेरा नाम मालिनी है।" रानी सुदेष्णा ने द्रौपदी को रखना तो चाहा, किंतु वह उसका रूप-लावण्य देखकर शकित होगई कि उसके कारण महल में कोई बखेडा खडा न हो जाय। द्रौपदी ने कहा, "विराट या दूसरा कोई मुझे नही पा सकता। पाच गन्धर्व मेरे पति है जो मेरी रक्षा करते है। मुझे कोई उच्छिष्ट न दे और पैर धोने को न कहे तो मेरे पति प्रसन्न रहते है। कोई मुझपर कुदृष्टि करेगा तो उसी रात को मेरे पति उसे ठिकाने लगा देगे।" सुदेष्णा ने उसकी बातें मानकर अपने पास रख लिया। तब सहदेव ने गोपो के वेश और भाषा का आश्रय लेते हुए सभा में राजा से अपना परिचय दिया—"राजा युधिष्ठिर की गायो का मैं गोसख्य था। तन्तिपाल मेरा नाम है। मैं गोवश की वृद्धि और चिकित्सा-कर्म जानता हू। उत्तम लक्षण वाले वृषभो की मुझे पहचान है।" विराट ने उसे अपने पशु और पशुपाल सौंपकर रख लिया। तब शख की चूडिया आदि स्त्रियो के अलकार तथा कानो में ऊचे खडे कुण्डल पहने हुए अर्जुन ने सभा में पहुचकर कहा—"मैं नृत्य और गीत में कुशल हू। बृहन्नडा मेरा नाम है। मैं देवी उत्तरा का नर्तक होकर रहूगा।" राजा ने प्रसन्न होकर उसे अपने कुमारी-अन्त पुर में भेज दिया। वहा अर्जुन सबको नृत्य गीत सिखाता था। उत्तरा की सखी और परिचारिकाए उससे बहुत स्नेह करने लगी। अन्त में नकुल ने कहा—"मैं अश्वों का स्वभाव, सिखाना, बिगडैल घोडो का सुधारना और उनकी चिकित्सा का उपाय जानता हू। मेरा नाम ग्रन्थिक है।" विराट ने अपने अश्वयोजक और सारथियो को उसके हवाले करते हुए उसे रख लिया। इस प्रकार पाण्डव

अज्ञातचर्या में रहने लगे। चौथे महीने में विराट नगर में ब्रह्ममहोत्सव हुआ। ब्रह्म यक्ष की सज्ञा थी और यह यक्ष-पूजा का मेला था जो प्राचीन काल से मत्स्य जनपद की राजधानी मे जुडता आ रहा था। इसमें वहुत ठाठवाट रहता और सव लोग वडे चाव से यह उत्सव मनाते थे। चारो ओर से सहस्रो मल्ल मेले में इकट्ठे हुए। उनमें से एक महामल्ल ने रगभूमि में पहुचकर सवको ललकारा। जव उससे भिडने का किसीने साहस न किया तव विराट ने अपने सूद को उससे भिडा दिया। भीमसेन की इच्छा न थी, पर स्पष्ट निषेध न कर सका और उसने अखाडे में उतरकर फेंटा कसा और उस मल्ल को ललकारा। वे दोनो साठ वर्ष के पट्ठे हाथियो के समान एक-दूसरे से लपट गए। दाव पाकर भीम ने उसे उठाकर घुमाया और दे मारा। राजा ने वही धन-मान से उसका सत्कार किया। वह कभी-कभी व्याघ्र, सिंह और हाथियो से भी उसकी भिडन्त करवाता था। विशेषत अन्त पुर की स्त्रियो के मन-वहलाव के लिए सिंहो के साथ महावली भीम की कुश्ती कराई जाती।

यो रहते हुए पाण्डवो को दस मास वीत गए। सुदेष्णा की सेवा करती हुई द्रौपदी किसी प्रकार दुख से समय काट रही थी कि विराट का सेनापति कीचक उसके रूप पर मोहित हो गया। उसने सुदेष्णा से कहा—"सुगन्धित मदिरा के समान उन्मादिनी यह देव रूपिणी कौन है ? इसने मेरे चित्त को मथ डाला है। आह ! इसका रूप कितना टटका है। यह तो मेरे गृह की शोभा वढाने के योग्य है।" सुदेष्णा से राय मिलाकर कीचक ने द्रौपदी के पास जाकर अपना वह प्रस्ताव कहा। द्रौपदी ने उत्तर दिया—"हे सूतपुत्र ! मैं तो केश-कारिणी सैरन्ध्री हू। तुम्हारे लिए अप्रार्थनीय हू। परदारा में अपना मन मत लगाओ। मेरे वीर गन्धर्व पति मेरी रक्षा करते है। कही तुम्हारा अनिष्ट न हो।" द्रौपदी के उत्तर से निराश होकर कीचक ने वहन से कहा—"जैसे वह मुझे मिले वैसा उपाय करो। उसके लिए कही मेरे प्राण न चले जाय !" उसे वेहाल देखकर रानी को दया आगई और उसने कीचक को सलाह दी—"तुम पूर्णिमा का उत्सव करके सुरा और अन्न तैयार कराओ। मैं उसे सुराहारी के रूप मे तुम्हारे पास भेज दूगी। तव एकान्त में उसे अनुकूल करना।" कीचक ने वहन की सलाह से वैसा ही किया। रानी ने द्रौपदी को कीचक के निवास में जाने की आज्ञा दी। द्रौपदी ने स्पष्ट निषेध करते हुए कहा—"हे रानी, तुम

उनके विना क्या मै भी जी सकता ? शर्याति की पुत्री सुकन्या, नारायणी चन्द्र-सेना, वैदेही जानकी और लोपामुद्रा ने अपने पतियो के लिए क्या-क्या नही सहा ? हे कल्याणी, अब अधिक नही सहना होगा। डेढ मास और है, पुन तेरह वर्ष पूरे होने पर तुम रानी वनोगी।" भीम के सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर द्रौपदी ने कहा—"हे भीम, मैंने राजा युधिष्ठिर को उपालम्भ नही दिया, अपने दु ख के कारण रोकर कुछ कहा। अव जो उचित हो तुम करो। दुष्टात्मा कीचक अपने भाव को रानी सुदेष्णा से प्रकट करके मुझे तग करता है। मैंने उसे अपने गन्धर्व पतियो का भय दिखलाया, पर वह नही मानता। यदि इसी प्रकार वह मुझे पीडित करता रहा तो मैं प्राण छोड दूगी । आप लोग अपने समय का पालन करके राजा होगे, पर आपकी भार्या न रहेगी। यदि कल सूर्योदय तक कीचक जीवित रह गया तो मैं विप घोलकर पी लूगी, पर कीचक के हाथ नही पड़ूगी।" यो कहकर द्रौपदी फिर रुदन करने लगी। तव भीम ने प्रतिज्ञा की—"हे भद्रे, जैसा कहती हो मैं करूगा। आज ही वान्धवो के साथ कीचक का मैं वध करूगा।"

अगले दिन प्रात काल होते ही कीचक राजकुल में द्रौपदी के पास आकर कहने लगा—"राजा के देखते हुए मैंने लात से तुम्हे मारा, पर तुम्हे रक्षा प्राप्त नही हुई। मत्स्यराज तो नाम के राजा हैं, सच्चा राजा तो मत्स्यो का सेनापति मैं ही हू। मै तुम्हारा दास हू, मेरे साथ सुख पाओ। दिन भर के लिए सौ निष्क तुम्हे देता हू।" द्रौपदी ने उत्तर दिया—"अच्छा कीचक, आज एक शर्त मुझसे करो। तुम्हारा कोई सखा या भाई मुझसे तुम्हारा मिलना न जान पावे, क्योकि गन्धर्वों को सूचना मिल गई तो मुझे डर है। ऐसी प्रतिज्ञा करो तो मै तुम्हारे वश में हू।" यह सुनते ही कीचक प्रसन्नता से उछल पडा और दोनो ने यह तय किया कि राजा के नर्तनागार में रात्रि के समय मिलेंगे। वहा अधेरे में गन्धर्वों को भी क्या पता चलेगा। तव कीचक ने आधा दिन एक महीने के समान किसी प्रकार विताया। उधर द्रौपदी ने रसोईघर में भीम को सूचना दी कि आज रात में शून्य नर्तनागार में पहुचकर मददर्पित कीचक का वध करो और मुझ दु खिनी के आसू पोछो। भीमसेन ने उसे आश्वासन दिया।

रात्रि के समय भीमसेन पहले ही पहुचकर वहा छिप गया। कीचक भी सजकर नर्तनागार के सकेतस्थल पर पहुचा। उसने एकान्त में वैठे हुए भीम

को देखकर उसे सैरन्ध्री समझकर छेडते हुए कहा—"देखो मैं कैसा सुन्दर और दर्शनीय हू।" 'सचमुच तुम ऐसे ही हो', यह कहते हुए भीम ने केश पकडकर उसे धरती में दे मारा। तव दोनो एक-दूसरे से गुथ गए। वह भवन उनके सघर्ष और धक्कों से काप उठा। तव शार्दूल के समान भीम ने उसे मृग के समान पछाडकर उसके हाथ-पैर और ग्रीवा तोडकर प्राणान्त कर डाला और तत्काल अपने स्थान पर लौट आया। तभी द्रौपदी ने सभापालों को सूचित किया—"देखो, मेरे गन्धर्व पतियो ने कीचक का वध कर डाला है।" सूचना पाकर कीचक के भाई-वन्धु वहा दौडे आये और उसके शरीर का सस्कार करने के लिए ले चले। तभी खम्भे के पीछे खडी हुई द्रौपदी को देखकर उपकीचक ने कहा—"अरे, इस असती को भी क्यो नहीं मार देते, जिसके कारण कीचक के प्राण गए? अथवा सूतपुत्र के साथ ही इसका दाह करना चाहिए।" तव उन्होंने विराट से कहा—"आप आज्ञा दीजिए कि कीचक के साथ इसका हम दाह कर दें, क्योंकि इसीके लिए कीचक मारा गया है।" राजा विराट उन अपने सूत कीचको के वल को जानता था। उसकी हिम्मत न हुई कि रोके। अतएव दवकर उसने अनुमति दे दी। तव उन कीचको ने द्रौपदी को पकड लिया और उसे वाधकर श्मशान की ओर ले चले। द्रौपदी ने रोते हुए पुकारकर कहा—"जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्वल नामक मेरे गन्धर्व पति कृपा कर सुनें। ये सूतपुत्र मुझे ले जा रहे हैं।" कृष्णा के रुदन को सुनकर भीमसेन विना कुछ विचारकर वहा कूद पडे और कहने लगे—"ए सैरन्ध्री, मैं तुम्हारी वात सुनता हू। तुम मत डरो।" यह कहकर उसने वही प्राकार पर से एक वृक्ष उखाड लिया और कीचको के पीछे दौडा। सिंह के समान क्रुद्ध भीम को आते हुए देखकर कीचक और उपकीचक द्रौपदी को छोडकर भागे, किन्तु भीम ने उनमें से सैकडो का वध कर डाला।

तव लोगो ने दौडकर राजा विराट से पुकार की—"गन्धर्वो ने सैकडो सूतपुत्रो को मार डाला है। और वह सैरन्ध्री छूटकर फिर तुम्हारे घर आ रही है। सैरन्ध्री के कारण तुम्हारे इस पुर का नाश न हो उसके पहले ही कुछ उपाय करो।" उनके वचन सुनकर विराट ने आज्ञा दी—"एक ही अग्नि में सव कीचकों की दाह-क्रिया करो।" फिर रानी सुदेष्णा से कहा—"सैरन्ध्री यहा आवे तो उससे कहो जहा चाहे चली जाय। वह गन्धर्वों से रक्षित

है। अतएव मै स्वय उससे कहने का साहस नही करता। पर स्त्रियो को दोष नही, अत तुम कह सकती हो।"

भय से छूटकर जब द्रौपदी नगर मे लौटी तो उसे देखकर लोग भागने लगे। गन्धर्वों के डर से कुछ ने नेत्र मूद लिये। जब वह राजभवन में पहुची तो सुदेष्णा ने राजा की आज्ञा से उससे कहा—"हे सैरन्ध्री, तुम शीघ्र यहां से चली जाओ। तुम्हारे गन्धर्वों से राजा को अपने पराभव का भय है।" द्रौपदी ने कहा—"हे रानी, तेरह दिन राजा मुझे और क्षमा करे। उसके बाद मेरे गन्धर्व पति मुझे यहा से ले जायगे।"

: ४२ :

गोग्रहण

पाण्डवो के वनवास के बारह वर्ष बीतने पर अज्ञातचर्या का तेरहवा वर्ष भी लगभग पूरा हो रहा था। दुर्योधन के मन में खलभली थी और उसने चारो ओर अपने गुप्तचर छोड रखे थे। ग्राम, नगर, राष्ट्रो को खोजकर उन बहिश्चरो ने सभा के मध्य में दुर्योधन को सूचना दी कि हमने बहुत ढूढा, पर पाण्डवो का पता नही चला। आपका भला होने को है जो वे इस तरह से नष्ट हो गए। हा, हमने इतना सुना है कि मत्स्यराज के सेनापति जिस कीचक ने त्रिगर्तों को छकाया था, उसे किन्ही अज्ञात गन्धर्वों ने मार डाला है। दुर्योधन ने कुछ देर तक अन्तर्मन में सोच कर फिर सभासदो का मत जानना चाहा। कर्ण ने कहा कि और भी चाक-चौबन्द चरो को इस काम में लगाना चाहिए। दु शासन ने समर्थन किया। द्रोण ने कहा कि पाण्डव इस प्रकार से नष्ट हो जानेवाले नही है। नीति, धर्म और अर्थ के तत्त्वज्ञ, युधिष्ठिर धृति-शील है और सब भाई उसके साथ हैं। हो नही सकता कि वे नष्ट हुए हो। वे केवल समय की प्रतीक्षा कर रहे है। भीष्म ने द्रोण से सहमत होते हुए कहा, "मै कुछ बुद्धि की बात कहता हू, द्रोह-भाव से नही। मेरा मत है कि पाण्डव नष्ट नही हुए। युधिष्ठिर जिस पुर या जनपद मे होगे, वहा मनुष्य अपने-अपने धर्म में निरत होगे। वहा वेद-घोष और पूर्णाहुतियो से युक्त भूरि दक्षिणा वाले यज्ञ होते होगे। वहा सुकाल में मेघ बरसता होगा। भूमि निर्विघ्न कृषि-

सपत्ति से भरी होगी। वहा के धान्यो में रस, फलो में गुण, पुष्पो में गध भरी होगी। उस प्रदेश की वाणी में शुभ शब्दो का समावेश होगा। युधिष्ठिर जहा हो, वहा भय नही होगा। वहा बहुला गाए, दूध-दही-घी से घरो को भर रही होगी। वहा मनुष्य सतुष्ट, शुद्ध, प्रीतियुक्त, उत्साही और धर्मपरायण होगे। युधिष्ठिर की जहा सन्निद्धि हो, वहा की शुभमति प्रजाए अवश्य ही सब सुन्दर मगलो से भरी-पूरी होगी। इन लक्षणो से युधिष्ठिर का पता लगेगा। सो भी अच्छे द्विजाति उन्हे जान पायगे, साधारण व्यक्ति नही।" कृपाचार्य ने भीष्म की बात से तार मिलाते हुए कहा—"पाण्डव कही गूढ भाव से छिपे हैं, समय आने पर प्रकट होगे। सामान्य रिपु की भी उपेक्षा नही की जाती। रणशूर पाण्डवो की तो बात ही क्या, अतएव अपना बल और कोप ठीक कर रखो जिससे समय पर पाडवो के साथ उचित स्तर पर सधि की जा सके।" कृपाचार्य ने कुछ चुपडी बात कही, बाहर से शाति की, भीतर से लडानेवाली।

वही सभा में त्रिगर्त्तराज सुशर्मा भी बैठा था, जो कई बार शाल्वेय और मत्स्यो से करारी मार खा चुका था। कीचक के न रहने से अपना दाव आया जान उसने सलाह दी—"मेरे मत से विराट पर चढाई करने का यही समय है, जब हम उसके धन-धान्य और गोकुल को बलपूर्वक छीन लावें। या तो उसकी सेना को ठिकाने लगा देंगे या सधि करके उसकी शक्ति अपने पक्ष में कर लेंगे।" उसकी बात कर्ण को बहुत भाई। कर्ण ने कहा—"सुशर्मा ने क्या बढिया मौके की बात कही है! शीघ्र सेना जोडकर वहा चलना चाहिए, यदि हमारे प्रज्ञाशाली पितामह की भी आज्ञा हो।" वाक्य का अन्तिम अश कर्ण ने सभवत: भीष्म की चुटकी लेने के लिए ही कहा था। ऐसी झगडालू बात दुर्योधन के मन में घर कर गई। उसने दु:शासन से कहा—"बूढो से सलाह करके जल्दी सेना सजाओ। पहले त्रिगर्त्तराज सुशर्मा सेना के साथ मत्स्य पर चढाई करे। पीछे एक दिन का अतरा देकर हम भी वहा पहुचेंगे। वे लोग जाकर ग्वालो से गोधन छीन लें।" ऐसा ही हुआ। जिस दिन तेरहवें वर्ष का अन्त था, उसी दिन सुशर्मा ने गोग्रहण किया। ग्वालो ने नगर में जाकर विराट से गुहार की कि त्रिगर्त्त-सेना बलपूर्वक गायो को हाके लिये जा रही है।

यह सुनकर राजा विराट और उसके भाई-बन्द भाति-भातिके कवच पहन

कर तैयार होगए। यहा कथाकार ने कई प्रकार के कवचो का वर्णन किया है। राजकुमारो ने सूर्य के फुल्लो से अलकृत तनुत्र धारण किये। विराट के छोटे भाई शतानीक ने भीतर से वज्रायसगर्भित और ऊपर से सुनहला चमचमाता हुआ कवच पहना। वज्रायस का तात्पर्य तार की वुनी हुई लोहे की जाली से था। चित्रसूत्र में वज्राकृति वर्तना को हैरिक कहा गया है। शतानीक से छोटे भाई मदिराश्व ने बिल्कुल लोहे का बना हुआ (सर्वपारशव) दृढ वर्म जिसपर सुन्दर आच्छादन चढा हुआ था, धारण किया। विराट के ज्येष्ठ पुत्र शख ने आयसगर्भित श्वेत वर्म पहना, जिसपर शताक्षि (आखो की आकृति सदृश) अलकरण बना हुआ था। स्वय राजा विराट ने ऐसा अभेद्य कवच धारण किया, जो शतसूर्य, शतावर्त, शतबिन्दु और शताक्षि नामक अभिप्रायो से अलकृत था। इन भातियो की व्याख्या इनके नामो से सूचित होती है। ये गुप्तयुग के वस्त्रो के अभिप्राय थे जिनका वर्तनो और कवचो को सजाने के लिए भी उपयोग होता था। अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी के प्यालो पर ये आकृतिया स्पष्ट अकित हैं। भारत से लेकर सासानी ईरान तक इन अलकरणो का उस युग में प्रचलन था। सूर्यदत्त ने जो कवच पहना, उसमें नीचे से ऊपर तक सैकडो कमल और फुल्ले बने हुए थे।

सेना को सज्जित होने की आज्ञा देकर विराट के मन में विचार की एक नई रेखा दौड गई। उसने सोचा कि क्यो न अपने इन नए 'पुरुषो' को भी कवच पहनाकर युद्ध के लिए ले चला जाय। देखने में ये सब डील-डौलवाले हैं, ऐसा नही कि ये युद्ध न कर सकें। उसका तात्पर्य गुप्त पाडवो से था। उसने उन्हे भी सज्जित होने की आज्ञा दे दी। पूरी तैयारी के साथ विराट की सेना मैदान में पहुची और त्रिगर्तों के साथ भिड गई। बडा घमासान युद्ध हुआ। अन्त में सुशर्मा ने विराट को पकड लिया। तब युधिष्ठिर के सकेत से भीम ने अपना पराक्रम प्रकट करके त्रिगर्तराज को क्षुद्र मृग के समान मथकर विराट को छुडा लिया। दूतो को जय की सूचना के लिए नगर में भेजा गया और स्वय विराटराज गायो को लौटा लेने के लिए त्रिगर्त्त की ओर बढ़े।

उसी समय दुर्योधन ने कौरवी सेना के साथ वहा पहुचकर विराट के ग्वालो से उनकी गाए छीन ली। समस्त घोष में कुहराम मच गया। डरे हुए गवाध्यक्ष ने राजमहल में जाकर पुकार की। उसकी भेंट विराट के राजकुमार भूमिजय

उत्तर से हुई और उसने कहा—"हे राजपुत्र, कुरु लोग हमारी साठ हजार गायो को हाके लिये जाते है। राष्ट्र का वर्द्धन करनेवाले इस गोधन को बचाने का यत्न करो। राजा मत्स्य ने विश्वासपूर्वक तुम्हे जनपद का शून्यपाल (वनपाल) नियुक्त किया है। आज वह समय आया है जब तुम वीणा की जगह धनुष को ही वीणा बनाकर शत्रुओ के बीच प्रत्यचारूपी तारो से बाण रूपी स्वरो को झकृत करो।" उस समय तक विराट और दूसरे साथी लौट कर नगर तक नही पहुच पाये थे। विराट् का ज्येष्ठ पुत्र शख भी उन्हीके साथ था। अत गवाध्यक्ष को अन्त पुर में छोटे राजकुमार उत्तर से रक्षा के लिए प्रार्थना करनी पडी। उसकी बात सुनकर उत्तर ने स्त्रियो के मध्य में गर्वित भाव से कहा—"मै अकेला ही जाकर उन सबसे लड सकता हू, यदि मुझे कोई अच्छा सारथि मिले।" उसके बार-बार ऐसा कहने पर द्रौपदी ने उसे अलग ले जाकर कहा—"यह बृहन्नडा कभी पार्थ का सारथि था। उसे अपना सारथि बनाओ। वह तुम्हारी छोटी बहन की बात मान सकता है।" यह सकेत पाकर उत्तर ने अपनी बहन उत्तरा को नर्तन-गृह में भेजा, जहा गुप्त वेष में महाबाहु अर्जुन थे। उत्तरा की बात मानकर जब अर्जुन ने कवच पहना तो उत्तरा की सखियो ने हँसी की—"हे बृहन्नडा, सग्राम जीत कर हमारी गुडियो के लिए सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लाना।" अर्जुन ने भी उसी बाल-भाव से उत्तर दिया—"हा-हा, अवश्य लाऊगा, यदि यह उत्तर सग्राम में उन महारथियो को जीत लेगा।"

नगर से बाहर रथ के कुछ दूर पहुचने पर उन्हें कौरवी सेना मिली। उन वीरो को देखकर उत्तर का मन बैठने लगा। अर्जुन ने पहले उसे उत्साहित किया, फिर उसके अत्यन्त कातर हो जाने पर उसे रथ-सचालन के लिए रथ में रोक लिया। तब वह शीघ्रता से उस छतनार शमी वृक्ष की ओर बढा, जहा उसने अपने अस्त्र छिपाये थे। उत्तर को वृक्ष पर चढाकर उसने उन अस्त्रो को उतरवाया और उत्तर के आश्चर्यचकित होकर पूछने पर उनका परिचय दिया कि ये पाण्डवो के धनुष और बाण है। उत्तर ने और भी अचरज से कहा, "पाण्डव तो पासो से अपना राज्य खोकर न जाने कहा चले गए और द्रौपदी भी उन्हीके साथ वन में न जाने कहा चली गई।" अर्जुन ने उसे दिलासा देने के लिए रहस्य खोल दिया और कहा—"मैं ही अर्जुन हू।" उत्तर ने कुछ

पहचान जाननी चाही तो अर्जुन ने अपने दस नामो की सूची (धनञ्जय, विजय, श्वेतवाहन, फाल्गुन, किरीटी, बीभत्सु, सव्यसाची, अर्जुन, जिष्णु, कृष्ण) और उनकी हेतुयुक्त व्याख्या कही। इस सूची से ज्ञात होता है कि कृष्ण अर्जुन का जन्म-नाम था (कृष्ण इत्येव दशम नाम चक्रे पिता मम ३९।२०)। नर-नारायण की कल्पना विकसित होने पर यह सूची भागवतो द्वारा सजाई गई ज्ञात होती है। सुनकर उत्तर ने कहा—"मेरा नाम भूमिजय है। मुझे उत्तर भी कहते है। हे पार्थ, मै आपको प्रणाम करता हू। मैने अज्ञान से जो कहा हो, उसे क्षमा करे।" अर्जुन ने कहा—"हे वीर, मै प्रसन्न हू। इन सब अस्त्रो को रथ में बाध लो। मै अभी तुम्हारे शत्रुओ को भगाता हू। तुम स्वस्थ और निर्भय बनो। तब अपने भगीयुक्त केशो को श्वेत वस्त्रो से बाधकर गाडीव पर प्रत्यचा चढाकर अर्जुन उसे टकारने लगे। फिर उन्होने अपने शख का घोष किया। उसे सुनते ही द्रोणाचार्य पहचान गए—'रथ का यह शब्द, शख का यह घोष और भूमि का इस प्रकार कपन यह अर्जुन के सिवा दूसरे का काम नही।' उसी समय दुर्योधन ने भीष्म-द्रोणादि से कहा—"हे आचार्य, कर्ण ने जो बार-बार मुझसे कहा है, वही आपसे कह रहा हू। बारह वर्ष वन में बिताकर पाडवो को एक वर्ष अज्ञात रहना है। उनका वह तेरहवा वर्ष अभी पूरा नही हुआ। यदि अर्जुन उससे पहले ही आगया है तो फिर उन्हें बारह वर्ष के लिए जाना होगा। या तो लोभवश पाडवो को ही अवधि का ठीक विचार नही रहा या हमें ही भ्राति हो रही है। अवधि की कमीवेशी को भीष्म ठीक कह सकते है। कभी सोचा कुछ और जाता है, पर होता कुछ और है। त्रिगर्त्त ने जब मत्स्यो की छेडछाड की मुझसे बहुत शिकायत की, तब हमने उसे सहायता का वचन देकर कहा कि सप्तमी के तीसरे पहर तुम मत्स्यो की गाए पकड लेना, हम अष्टमी को प्रात पहुच जायगे। पर यहा न गाए है और नावे है। क्या वे हार गए या हमसे छल करके मत्स्यो से मिल गए या उनसे निपटकर मत्स्य-सेना हमसे लडने के लिए आ रही है और उन्हीमें से कोई महावीर आगे आ पहुँचा है? यदि यह विराट हो या स्वय अर्जुन भी हो, तो भी हमें लडना ही है। आज ये सब महारथी घबडाये-से क्यो है? स्वय यमराज या देवराज इन्द्र भी हमसे गोधन छीनने के लिए आवें तो भी हममें से कौन हस्तिनापुर लौटना चाहेगा? आप थोडी देर के लिए आचार्य को पीछे कर दें

और जैसी नीति हो, वैसा विधान करें। आचार्य सदा से अर्जुन के पक्षपाती रहे हैं। आचार्यों के मन में करुणा होती है।" उसके ये वचन सुनकर कर्ण ने भी बात में बात मिलाई—"क्या आप सबका मन युद्ध में नही है? आप क्यो डर रहे हैं? मेरे बाण टिड्डी दल की तरह छूटकर अर्जुन को ढक लेंगे। मैं क्या अर्जुन से किसी प्रकार कम हू? आज मै दुर्योधन के प्रति अपना ऋण चुकाऊगा। सब कौरव चले जाय या रथ में बैठे हुए मेरा युद्ध देखें।"

कर्ण की बात से कृपाचार्य ने कुछ तमतमाकर कहा—"हे कर्ण, तुम्हारी क्रूर बुद्धि सदा युद्ध की बात सोचती है। शास्त्रो में कई प्रकार की नीतिया कही है, उनमें युद्ध सबसे बुरा है। देश और काल को समझकर पराक्रम दिखलाने से कल्याण होता है। इस समय अर्जुन से हमारा भिडना ठीक नही। वह अकेला ही बहुत है। अकेले अर्जुन ने कुरुओ की रक्षा, अग्नि की तृप्ति, सुभद्रा का हरण, इन्द्रकील पर्वत पर तप और अस्त्र-प्राप्ति, चित्रसेन गन्धर्व की विजय, क्या-क्या नही किया? तुमने अकेले क्या कर लिया? हमने तेरह वर्ष तक उसपर चोटें की हैं। आज पाशो से छूटे हुए सिंह की तरह यह हमारा सफाया करके रहेगा। हे कर्ण, व्यर्थ साहस मत करो। अर्जुन से लडना कठ में शिला बाधकर समुद्र तरने के समान है।"

अश्वत्थामा को भी कर्ण की गर्वोक्ति खटकी थी। उसने कहा—"देखो, बहुत-से युद्ध जीतकर भी अपने पौरुष की यो डीग नहीं हाकी जाती। अग्नि चुप रहकर परिपाक करता है। सूर्य मौन ही प्रकाशित होता है। पृथिवी सचराचर लोक को बिना कहे धारण करती है। मनीषियो ने चारो वर्णों के कर्म बताये हैं। जुए से राज्य प्राप्ति क्षत्रिय के लिए कहीं नहीं कही। किस दिन तुमने इन्द्रप्रस्थ को जीता और कौन-सा युद्ध लडकर तुम द्रौपदी को जीत सके? द्रौपदी के उस क्लेश को अर्जुन कभी क्षमा न करेगा। धर्मवेदो का मत है कि पुत्र के समान शिष्य ही प्यारा होता है। इसीलिए द्रोण को अर्जुन प्रिय है। या तो तुम लडो या तुम्हारा मामा क्षात्र-धर्म का पडित यह जुआरी शकुनि रण-क्षेत्र में उतरे। गाडीव कृत-द्वापर नाम के पासे नही फेंकता, वह जलते हुए तीक्ष्ण बाण फेंकता है। गाडीव से छोडे हुए बाण बीच में अटककर नही रह जाते, वे चट्टानो को भी फोड डालते हैं। अन्तक यमराज या वडवामुख अग्नि चाहे कुछ बचा रखें, पर अर्जुन कुछ न छोडेगा। द्रोण भले ही लडें, पर मैं अर्जुन

से न लड़ूंगा। हा, विराट आवें तो हम अवश्य लडेंगे।" वस्तुत कृपाचार्य का इस तरह कहना जहा कर्ण के लिए था, वहा उससे भी अधिक दुर्योधन पर चोट थी। बनवास का दु ख भोगे हुए पाडवो के प्रति वडे-बूढो के मन में करुणा का भाव स्वाभाविक था। वे यह भी सोचते होगे कि अब पाडवो को न्याय मिलना चाहिए था। उलटे अर्जुन के साथ युद्ध का प्रसग आया देख उनका क्षोभ स्वाभाविक था।

बात बढते देख भीष्म ने कहा—"द्रोण का मत ठीक है और कृपाचार्य ने भी ठीक ही सोचा है। कर्ण भी क्षात्र-धर्म के अनुरोध से युद्ध चाहता है, पर जानबूझकर आचार्य पर कटाक्ष न करना चाहिए। देशकाल सोचकर युद्ध की बात करना ठीक है। जिसके सूर्य-जैसे तेजस्वी पाच वैरी हो, उनकी बढती से वह कैसे विचलित न हो जाय ? अच्छे धर्मात्मा भी स्वार्थ के कारण डिग जाते हैं। इसलिए हे दुर्योधन, यदि तुम्हे रुचे तो एक बात कहता हू। कर्ण ने हम सबमें उत्साह भरने के लिए जो कहा, उसे आचार्य-पुत्र क्षमा करें। यह विरोध का समय नही। आचार्य में ब्राह्मणत्त्व और ब्रह्मास्त्र दोनो एक साथ इस प्रकार है। जैसे चन्द्रमा में कान्ति और कलक। एक ओर चारो वेद और दूसरी ओर क्षात्र धर्म। ये दोनो भारतो के आचार्य द्रोण और उनके पुत्र को छोडकर एक साथ न मिलेंगे। इस समय अर्जुन को आया जान हमें मिलकर युद्ध करना चाहिए। यह फूट का समय नही, बल्कि जितने दोष हैं, उनमें फूट सबसे बुरी है।" भीष्म का यह सारा कथन कुछ विचित्र-सा है। ऊपर से यह दुर्योधन का पक्षपात ज्ञात होता है, पर सोचने से जान पडता है कि आपस की तू-तू, मैं-मैं की बिगडी हुई परिस्थिति को सम्हालने के लिए ही भीष्म ने तत्तो-थम्भो करना उचित समझा। मूलत दोष दुर्योधन का था, जिसने द्रोण पर यो सीधे कटाक्ष किया था।

अश्वत्थामा ने कहा—"आचार्य ही क्षमा कर सकते हैं। जब आचार्य पर कटाक्ष किया गया तब उसकी प्रतिक्रिया से यह सबकुछ होगया। अब शाति करनी चाहिए।" उस परिस्थिति में दुर्योधन को अपनी भूल मालूम हुई और उसने द्रोण से क्षमा मागी। इसपर द्रोण ने कहा—"भीष्म ने पहले जो वाक्य मेरे सबध में कहा, मैं तो उसीसे सतुष्ट होगया। अब आगे की बात सोचो। दुर्योधन असयम, साहस या मोह भी करे, तो भी सैनिको को

आच न आनी चाहिए। यही नीति है। वनवास के पूरा हुए बिना अर्जुन अपने को प्रकट न करेगा। इसलिए दुर्योधन ने जैसा कहा, भीष्म कृपया बतावें कि अवधि पूरी हुई या नहीं।" भीष्म ने काल-चक्र का ठीक हिसाब लगाते हुए कहा कि हर पाचवें वर्ष में दो महीने बढ जाते हैं, अतएव गणना के अनुसार पाच महीने और बारह दिन तेरह वर्ष से अधिक होगये हैं। हिसाब का निश्चय करके ही अर्जुन आया है। पाडव ऐसी भूल न करेंगे। युद्ध से ही सिद्धि मिल जाय, मैं ऐसा नही समझता। इसलिए या तो युद्ध या धर्म-जैसी नीति सोचो, करो, क्योंकि अर्जुन सामने आगया है।" भीष्म की बात सुनकर दुर्योधन ने सोचा कि कही धर्म का पल्ला पकडा तो आजतक के किये-धरे में अडगा लग जायगा। उसने चट कहा—"हे पितामह, मैं पाडवों को राज्य कभी न दूगा, जो नीति युद्ध की ओर चले, वही शीघ्र कीजिए।"

उसका यह हठ देखकर भीष्म ने अपनी सैनिक बुद्धि की तत्परता दिखलाते हुए कहा—"सेना के चार भाग करो। एक के साथ दुर्योधन हस्तिनापुर लौटे। दूसरा भाग गोधन को साथ लेकर जाय। आधी सेना से हम सब अर्जुन, विराट या इन्द्र भी आजाय, तो उनसे भी लडेंगे।" आचार्य बीच में, अश्वत्थामा बाई ओर, कृप दाहिनी ओर, आगे कर्ण सुसज्जित हो। मैं सेना के पीछे रह कर उसकी रक्षा करूगा।"

यों कौरवी सेना को सामने देख अर्जुन अपने रथ को गुजाता हुआ उनकी ओर बढा। द्रोण ने स्थिति समझकर कहा—"वह महारथी अर्जुन गाडीव के साथ आया है। उसीके चलाये दो बाण मेरे पैरो में आकर गिरे हैं और दो कानों को छूते निकल गये हैं। वनवास से लौटकर वह मुझे प्रणाम कर रहा है और युद्ध के लिए मेरी आज्ञा चाहता है।" तब अर्जुन ने आगे बढकर सेना पर दृष्टि डाली और व्यूह बनाये हुए पाचों सेनापतियो को ताड लिया और सोचा, यहा द्रोण अश्वत्थामा, कर्ण, कृप और भीष्म तो हैं, पर दुर्योधन दिखाई नही पडता। ज्ञात होता है कि वह गायो के साथ अपनी जान लेकर भागा जा रहा है। यह सोचकर दुर्योधन की दिशा में ही अपना रथ बढाया। द्रोण ने स्थिति समझ ली कि दुर्योधन को रोके बिना यह न रुकेगा। दुर्योधन अकेला इससे जूझ जायगा, फिर हम गाय या धन लेकर क्या करेंगे? इसलिए इसका पृष्ठ भाग चापते हुए हमें भी बढना चाहिए। इस अवसर पर अर्जुन ने शखध्वनि की,

जिसे सुनकर गाए रम्भाती हुई मत्स्य की ओर लौट पडी। इसी बीच में कुरु-सेना ने उसपर हमला कर दिया। दोनो दलो में घोर युद्ध हुआ और अर्जुन की मार के सामने कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा, दु शासन आदि सब महारथी क्रमश पलायन कर गये। अपने दल को छितराया हुआ देखकर भीष्म भी युद्ध में उतर पडे, किन्तु उन्हे भी विमुख होना पडा। जब सब कौरव योद्धा शात होगये तब अर्जुन ने उत्तरा की बात का स्मरण करके विराट-पुत्र से कहा—"हे उत्तर, कृपाचार्य के शुक्ल, कर्ण के पीले, अश्वत्थामा के नीले वस्त्रो को बटोर लाओ।"

कुरुओ को हराकर अर्जुन ने गोधन को एकत्र करके गोपालो से कहा कि इन सबको विराट नगरी में ले चलो। उधर राजा विराट भी त्रिगर्त्तों को परास्त कर गायो के साथ लौटे। तब उन्होने पूछा कि उत्तर कहा गया तो स्त्रियो ने कहा कि कुरुओ ने गोधन का हरण किया था, वह बृहन्नडा की सहायता से अकेला उनसे युद्ध करने गया है। सुनकर राजा को चिन्ता हुई और उसने अपनी सेना को कुमार की सहायता के लिए शीघ्र भेजा। तब धर्मराज ने हँस-कर कहा—"हे राजन्, बृहन्नडा के सारथि होते हुए तुम्हारी गायो को शत्रु न ले जा सकेंगे। उसी समय दूतो ने आकर उत्तर की विजय का शुभ सवाद सुनाया। सुनकर विराट ने प्रसन्नता से उत्सव मनाने की आज्ञा दी और उत्तर के स्वागत के लिए धूमधाम से लोगो को भेजा।

प्रसन्न हुए महाराज ने कक से कहा—"हे सैरन्ध्री, पासे लाओ। हे कक, द्यूत हो।" किन्तु कक ने उत्तर दिया—"हमने सुना है कि हर्ष का समाचार पाकर पासो से न खेलना चाहिए। आज आपको पासो से खिलाने में मुझे उत्साह नही है। हे राजन्, द्यूत में बहुत दोष है। उसका त्याग ही उचित है। तुमने पाडव युधिष्ठिर को देखा या सुना होगा। उसने अपने भारी राज्य और भाइयो को भी जुए में खो दिया। फिर आपकी जैसी रुचि हो, वैसा करे।"

तब विराट पासो से खेलने लगे। खेलते हुए उन्होने कहा—'देखो, आज मेरे पुत्र ने कौरवो को कैसा जीत लिया।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"बृहन्नडा जिसका सारथि हो, वह कैसे न जीतेगा ?" यह सुनकर मत्स्यराज बहुत कुपित हुए—"अरे कक, मेरे पुत्र के साथ उस नपुसक की भी प्रशसा करते

हुए तुम मेरा अपमान करते हो ! तुम वाच्य-अवाच्य नही जानते।" युधिष्ठिर ने फिर कहा—"द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृप आदि महारथियो को बृहन्नडा के अतिरिक्त इन्द्र भी नही जीत सकते।" यह सुनते ही विराट आग-बबूला हो गए और उन्होने पासो को युधिष्ठिर के मुह पर फेंक कर मारा। तुरन्त युधिष्ठिर की नाक से रक्त बहने लगा। युधिष्ठिर ने उसे हाथो में ही रोक लिया। पास में खडी हुई द्रौपदी उसका कारण समझ गई और उसने आगे बढकर सोने के पात्र में उस शोणित को ले लिया।

उसी समय उत्तर नगर में प्रविष्ट हुआ। राजभवन के द्वार पर पहुंचकर उसने प्रतीहार द्वारा पिता को सूचना भेजी। द्वारपाल ने भीतर जाकर विराट से कहा—"बृहन्नडा के साथ आपका पुत्र उत्तर द्वार पर आया है।" मत्स्यराज ने प्रसन्नता से कहा कि उन दोनो को शीघ्र यहा लिवा लाओ। युधिष्ठिर ने चुपके से द्वारपाल के कान में कहा, "उत्तर को अकेले यहा लाना, बृहन्नडा को नहीं। उसका यह व्रत है कि सग्राम के अतिरिक्त जो मुझे चोट पहुचायगा, या मेरे शरीर का रक्त गिरायगा, उसे वह जीवित न छोडेगा।" तब उत्तर ने भीतर आकर पिता को प्रणाम किया, फिर धर्मराज को देखकर पूछा—"किसने इन्हें मार कर पाप किया है?" विराट ने कहा—"मैंने ही ऐसा किया है। यह तुम्हारी प्रशसा सुनकर षण्ढ बृहन्नडा की प्रशसा करने लगता था।" उत्तर ने कहा—"हे राजन्, आपने बहुत अनुचित किया। शीघ्र इन्हें प्रसन्न कीजिए, नही तो दारुण ब्रह्मविष आपको समूल जला डालेगा।" पुत्र की बात सुनकर विराट ने युधिष्ठिर से क्षमा मागी। युधिष्ठिर ने राजा से कहा—"हे महाराज, मैंने आपको पहले ही क्षमा कर दिया। मैंने अपने भीतर क्रोध नही रखा। यदि मेरी नाक का यह रक्त भूमि पर गिर जाता, तो राष्ट्रसहित आपका विनाश निश्चित था। मैं आपको दोष नही देता।" जब रक्त बन्द हो गया तो बृहन्नडा ने प्रवेश किया और विराट और कक को प्रणाम करके वह एक ओर बैठ गया।

तब विराट ने अर्जुन के सामने फिर उत्तर की प्रशसा की और उससे युद्ध का सब हाल पूछा। उत्तर ने कहा—"न मैंने गाए जीतीं और न मैंने शत्रुओ को जीता। यह सब तो किसी देवपुत्र का कर्म है। मैं तो डरकर भाग रहा था, किन्तु उसने मुझे रोका। अकेले उस वीर ने छह महारथियो को

परास्त किया।" विराट ने पूछा—"वह देवपुत्र कहा है ? मैं उसे देखना चाहता हू । उत्तर ने कहा—"वह प्रतापी देवपुत्र अन्तर्ध्यान होगया । मैं समझता हू, कल या परसो वह प्रकट होगा ।" ऐसा कहे जाने पर विराट ने वही छिप कर रहते हुए अर्जुन को नही जान पाया। तव विराट की अनुमति से अर्जुन ने झीने और कीमती वस्त्र उत्तरा को प्रदान किये, जिन्हें पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। तब अर्जुन ने एकान्त में उत्तर के साथ परामर्श करके निश्चित किया कि महाराज युधिष्ठिर के प्रति अब क्या व्यवहार करना चाहिए। तब तीसरे दिन पाचो पाडव स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण किये हुए और सब आभूषणो से अलकृत हो युधिष्ठिर को आगे कर विराट की सभा में आये और राजा के योग्य आसनो पर बैठ गए। सबके बैठ जाने पर स्वय विराट भी सभा मे उप-स्थित हुए । पाडवो को राजासन पर बैठा देख उन्होने कक से पूछा—"मैंने आपको पासो का अधिकार दिया था, आप राजासन पर कैसे आ बैठे ?" सुनकर अर्जुन ने कहा—"ये कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर है, जो इन्द्रासन पर बैठने के योग्य है ।" सुनकर विराट ने पूछा—"यदि ये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हैं, तो इनके अन्य भ्राता, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव कहा हैं ? और यशस्विनी द्रौपदी कहा है ? जबसे पाडव जुए में हारे तबसे उनका कोई समाचार नही मिला । अर्जुन ने कहा—"आपका जो यह वल्लभ सूद है, यही महाबाहु भीम है । यही वे गधर्व है, जिन्होने कीचक को मारा था । जो आपके अश्वपाल बने थे वे नकुल हैं और गोसख्य रूप में सहदेव हैं । सुहा-सिनी सैरन्ध्री ही द्रौपदी है और मैं अर्जुन हू । जैसे सतति गर्भ में सुख से रहती है वैसे हम सब आपके घर में सुखपूर्वक रहे ।" जब अर्जुन ने इस प्रकार परिचय दिया तब उत्तर ने अर्जुन के उस पराक्रम का वर्णन किया, जो उसने सग्राम में कुरुओ के पराजय के समय प्रकट किया था । उसका वचन सुनकर मत्स्यराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा—"हम युधिष्ठिर के अनुरक्त हैं, उनका सम्मान और प्रसादन करना चाहिए । यदि तुम सहमत हो तो उत्तरा का विवाह अर्जुन से कर दो ।" उत्तर ने कहा—"अवश्य ही महाभाग पाडवो का पूजन-सम्मान करना उचित है ।" विराट ने भी बताया कि मैं भी युद्ध में शत्रुओ के हाथो में पड गया था, मुझे भीमसेन ने छुडाया और गायो को जीता । तब विराट ने अपने आमात्यो के साथ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से क्षमा मागी—

"आपको न जानकर हमने जो कहा-सुना हो, कृपया उसे क्षमा करें।" और यह कहकर अपनी सेना और कोष युधिष्ठिर को समर्पित किया और कहा—"यह कैसे आनन्द की बात है कि हम सब इस कष्ट से सकुशल पार हुए ? सव्यसाची अर्जुन उत्तरा को ग्रहण करे। ये ही उसके योग्य पति हैं।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा। उनका सकेत समझकर अर्जुन ने विराट से कहा—"हे राजन्, मत्स्य वश और भरत वश का यह सबध उचित ही है। मैं आपकी इस पुत्री को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता हू।" विराट ने पूछा—"आप इसे भार्या के रूप में क्यो नही स्वीकार करते ?" अर्जुन ने उत्तर दिया—"आपके अन्त पुर में रहते हुए मैंने इस पुत्री को गुप्त और प्रकट रूप में देखा है। इसने पिता तुल्य मेरा विश्वास किया। यह मुझे सदा प्यार करती रही और नृत्य एव गान के शिक्षक आचार्य के रूप में मानती रही। मै इसकी वयस्क अवस्था में वर्षभर इसके साथ शुद्ध जितेन्द्रिय भाव से रहा हू। इसलिए अपनी पुत्रवधू के रूप मे इसे स्वीकार करता हू। वासुदेव कृष्ण का भाजा, उनका अत्यन्त प्रिय अभिमन्यु मेरा पुत्र है। वही आपकी इस पुत्री का अनुरूप पति और आपका जामाता होगा।" मत्स्यराज विराट ने अत्यन्त प्रसन्न होकर इसे स्वीकार किया।

तब युधिष्ठिर ने भी इस सम्बन्ध की अनुमति दी। फिर पाचो पाडव विराट के उपलव्य नगर में आये और उन्होंने अपने सब मित्र-सबधियो को बुलाया। वही अर्जुन ने कृष्ण को और अभिमन्यु को भी बुलाया। आनर्त देश से दाशार्ह, काशिराज, शैब्य, यज्ञसेन, द्रौपदी के वीर पुत्र, शिखडी, धृष्टद्युम्न और अनेक राजा एकत्र हुए। बडे उत्सव के साथ विराट ने अपनी कन्या का अभिमन्यु के साथ विवाह किया। उसमें कृष्ण ने पाडवो को भात के रूप में बहुत से रत्न-वस्त्रादि प्रदान किये। अनेक रूपवती अलकृत स्त्रियो ने राजपुत्री उत्तरा को सामने किया और अर्जुन ने उसे स्वीकार किया और तब कृष्ण की उपस्थिति में उसका विवाह अभिमन्यु के साथ हुआ। कृष्ण जो धन लाये थे, वह सब युधिष्ठिर ने ब्राह्मणो में वितरण कर दिया। उस महोत्सव मे मत्स्यराज विराट की वह पुरी अत्यन्त सुशोभित हुई।

(विराट पर्व समाप्त)